GURUKULA - PATRIKA

1986

G. K. V.
Hardwar

गुरुकुल पत्रिका

दीक्षान्त समारोह
विशेषांक

सम्पादकः—
० जयदेव वेदालंकार

वर्ष : ३७
वैशाख - ज्येष्ट २०४१
अप्रैल - मई १९८६
अङ्क : ७
पूर्णाङ्क : ३७९

गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालयस्य मासिकी पत्रिका

सम्पादक-मण्डल

प्रधान संरक्षक :

प्रो० आर० सी० शर्मा
कुलपति

संरक्षक :

प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
उपकुलपति

परामर्शदाता :

डॉ० विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग

सह-सम्पादक :

डॉ० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता, दर्शन-विभाग

छात्र-सम्पादक :

श्री दुधपुरी गोस्वामी
एम० ए० द्वितीय वर्ष
दर्शन-विभाग

मूल्य :

२५.०० रुपये वार्षिक

प्रकाशक :

प्रो० वीरेन्द्र अरोड़ा
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक :

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी मुद्रणालय, हरिद्वार ।

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालस्य मासिकी-पत्रिका]

सम्पादक

डॉ० जयदेव वेदालंकार

न्यायाचार्य, पी-एच० डी०, लिट्०

रीडर-अध्यक्ष, दर्शन-विभाग

प्रकाशक

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

[मूल्य : ५.०० रुपये

❀ विषय-सूची ❀

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालयस्य मासिकी-पत्रिका]

वैशाख-ज्येष्ठ २०४१ अप्रैल, मई १९८६	वर्ष : ३७	अङ्क : ७ पूर्णाङ्क : ३७९

वेदों में क्या है ?

ओ३म् इषे त्वोर्जे त्वावायवस्थ देवोवः सविताप्रार्पयतु श्रेष्ठतमायकर्मण आप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतरनमीवाऽअयक्ष्मा मावस्तेनऽईशत माघ शंसो ध्रुवाऽस्मिन् गोपतौस्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ।।

।। यजुर्वेद १।१ ।।

अर्थ—विद्वान् मनुष्यों को सदैव परमेश्वर और धर्मयुक्त पुरुषार्थ के आश्रय से ऋग्वेद को पढ़कर गुण और गुणी को ठीक-ठीक जानकर सब पदार्थों के सम्प्रयोग से पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए अत्युत्तम क्रियाओं से युक्त होना चाहिए कि जिससे परमेश्वर की कृपा पूर्वक सब मनुष्यों को सुख और ऐश्वर्य की वृद्धि हो। सब लोगों को चाहिए कि अच्छे-अच्छे कामों से प्रजा की रक्षा तथा उत्तम-उत्तम गुणों से पुत्रादि की शिक्षा सदैव करें जिससे कि प्रबल रोग विघ्न और चोरों का अभाव होकर प्रजा और पुत्रादि सब सुखों को प्राप्त हों, यही श्रेष्ठ कार्य सब सुखों का भण्डार है। हे मनुष्यो ! हम सब मिलके इस संसार में आश्चर्य रूप पदार्थ रचें। उस जगदीश्वर का सदा धन्यवाद करें।

—ऋषि दयानन्द

सम्पादकीय—

वर्तमान सन्दर्भ में
राष्ट्रीय शिक्षा-नीति के मूल सिद्धान्त

(१) शिक्षा का उद्देश्य—

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का समग्र एवं समन्वित विकास करना है। विद्यार्थी का विकास शारीरिक, शैक्षणिक, चारित्रिक, सामाजिक आध्यात्मिक, बौद्धिक, राष्ट्र-भक्ति और मनोवैज्ञानिक आदि समस्त क्षेत्रों में अनिवार्य रूप से होना चाहिए। वर्गहीन समाज का निर्माण करना शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए।

शिक्षा का उद्देश्य यह भी होना चाहिए कि यह प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका के योग्य बनाए एवं आजीविका हेतु स्वावलम्बन प्रदान करे। प्रत्येक व्यक्ति 'सत्यं शिवं सुन्दरं' अर्थात् सत्य का बोध, शिव-संकल्प और सौन्दर्य-रचना से ओत-प्रोत होना चाहिये।

(२) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा—प्रान्तीय सरकार/केन्द्रीय सरकार का दायित्व—

कोई भी नागरिक आठ वर्ष के पश्चात् यदि अपने बच्चे को किसी भी पाठशाला में न भेजे तो उसे कानूनी दृष्टि दण्डनीय घोषित किया जाये। यद्यपि राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक सरकारों की यह नीति है कि प्रत्येक ५ वर्ष का बालक पाठशाला से जाये लेकिन बहुधा यह देखा गया है कि निर्धन वर्ग के बच्चे बीच में ही पाठशाला छोड़ देते हैं। शिक्षा में फैले इस भयंकर दोष एवं अवरोधन के निदान हेतु निम्नलिखित प्रस्तावों को शिक्षा नीति में सम्मिलित किया जायें।

(क) पाठविधि में अर्थकारी शिक्षा का समावेश किया जाये।

(ख) शिक्षा-संस्थानों को रुचि वैविध्यपूर्ण एवं आकर्षक बनाया जाये।

(ग) खेल-खेल में शिक्षा देने की प्रणाली का विकास किया जाये।

(घ) पौष्टिक आहार को व्यवस्था को जाये । समय-समय पर विद्यार्थियों का स्वास्थ्य-परीक्षण कराया जाये ।

(ङ) अशिक्षित अविभावकों को रात्रि-पाठशालाओं द्वारा शिक्षित कराया जाये ।

(च) गरीबी की रेखा के नीचे के छात्रों को निःशुल्क शिक्षा, वस्त्र एवं भोजनादि दिया जाये ।

(छ) माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा में विद्यार्थी के स्वावलम्बन की ऐसी उच्चतम क्षमता का निर्माण अवश्य हो जाना चाहिए तत्पश्चात् वह कुटीर-उद्योगों एवं हस्तकलाओं के आधार पर स्वतन्त्र रूप से उपार्जन के योग्य बन सके ।

(ज) बच्चे को प्रारम्भिक शिक्षा उसकी मातृ-भाषा में दी जानी चाहिए जिसका निर्णय माता-पिता द्वारा होना अपेक्षित है । माध्यमिक स्तर से मातृ-भाषा के अतिरिक्त राष्ट्रीय भाषा और एक अन्य भाषा की शिक्षा दी जानी चाहिए । उच्चतम शिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा हो, इसलिए हिन्दी भाषा को विज्ञान, तकनीकी साहित्य से समृद्ध किया जाना परम आवश्यक है । विज्ञान के उच्चतम एवं मूल-ग्रन्थों को हिन्दी में अनुदित करने हेतु विश्वविद्यालयों में अनुवाद एवं प्रकाशन निदेशालयों की स्थापना की जानी चाहिए जिससे विज्ञान आदि की पुस्तकों का हिन्दी में अभाव न हो ।

(३) **गुरु-शिष्य सम्बन्ध—**

(क) आचार्य-शिष्य का सम्बन्ध गर्भस्थ शिशु की तरह अन्तरंग होना चाहिए । प्रत्येक अध्यापक छात्रों के एक छोटे समुदाय के सर्वतोमुखी विकास के लिए उत्तरदायी होना चाहिए । विद्यार्थी-अध्यापक सम्बन्ध कक्षा तक सीमित न रहकर खेल-कूद तथा अन्य क्रिया कलापों में बना रहना चाहिये ।

(ख) बच्चों में अनुकरण की सहज प्रवृत्ति होती है । अतः माता-पिता और आचार्य को यथा सम्भव स्वयं के आचार-विचार और व्यवहार पर पूरी तरह निगरानी रखनी चाहिये ।

(ग) विद्यार्थियों को आश्रम प्रणाली (होस्टल) के द्वारा ही अध्ययन कराया जाये । इससे जातिप्रथा स्वतः ही समाप्त हो जायेगी ।

(४) अध्यापक-प्रशिक्षण (ओरियन्टेशन) —

शिक्षा नीति की समस्त नीति शिक्षक पर अवलम्बित है। अतः सर्व-प्रथम देश के २० लाख शिक्षक शिक्षित वर्ग को शिक्षा के वास्तविक लक्ष्यों एवं आदर्शों के अभ्यस्त करने हेतु प्रशिक्षित किया जाय, जिसके लिए निम्न संस्तुतियां दी जाती हैं।

(क) शिक्षकों को भी शिक्षित करने हेतु शिक्षा-शास्त्री विद्वानों द्वारा समस्त पाठ्य-क्रम को निर्मित किया जाये।

(ख) देश के चुने हुए विद्यालयों से महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में विभिन्न चरणों में दो-दो सप्त ह का शिक्षकों को शिक्षित करने हेतु अल्पकालिक प्रशिक्षण कार्यशाला शिविर लगाया जाये।

(ग) प्रत्येक संस्थान इन शिविरों के माध्यम से एक वर्ष में २००० शिक्षकों को शिक्षित करने के व्यापक कार्यक्रम में योगदान दें। तभी कहीं जाकर शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त शिक्षा क्षेत्र में कार्यरत शिक्षक तक पहुँच सकेंगे क्योंकि राष्ट्रीय शिक्षा के वही प्रहरी हैं।

(५) अनुशासन एवं आचरण—

अनुशासन और आचरण किसी भी राष्ट्र के उत्थान का आधारभूतस्तम्भ होता है। शिक्षण-संस्थाओं में इसका पालन अनिवार्य रूप में होना चाहिए। प्रत्येक शिक्षण-संस्था में अनुशासन एवं आचरण संहिता होनी चाहिए।

(क) **अध्यापक** – अनुशासन एवं आचरण का अनिवार्य नियम अध्यापक पर भी लागू होना चाहिए। वह अन्य किसी कार्य को न कर सके। अध्यापकों का प्रतिनिधित्व अनुशासन एवं आचरण समिति में होना अपेक्षित है ट्यूशन या कोई अन्य व्यवसाय अनुशासनहीनता माना जाय। जो छात्र कमजोर हों उनका नियमित कक्षाओं के अतिरिक्त पढ़ने का प्रबन्ध पृथक् होना चाहिये।

(ख) विद्यार्थियों का निर्माण वास्तव में राष्ट्र का निर्माण है। अतः शिक्षण संस्थाओं में विद्यार्थियों को अनुशासन में पूर्ण रूप से दीक्षित करना अनिवार्य नियम होना चाहिए। अनुशासन एवं आचरण संहिता निर्माण समिति में विद्यार्थियों का प्रतिनिधित्व अनिवार्य रूप से होना चाहिए।

(६) शिक्षा में अविभावकों की भूमिका –

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में अविभावकों की भूमिका को सबसे नगण्य रूप में रखा हुआ है । जबकि शिक्षा के सारे व्यय की जिम्मेवारी उस पर है तथा वह उपभोक्ता के रूप में है । विद्यार्थी की अनुशासनहीनता पर नियंत्रण हेतु गुरुजनों को माता व पिता से सतत् सम्पर्क स्थापित रखना चाहिए तथा अधिकाधिक रूप से छात्र आचार-व्यवहार की रिपोर्ट अध्यापक द्वारा उसके पिता को विशेषकर जन्मदात्री मां को समय-समय पर अवगत कराते रहना चाहिए । बहुधा यह देखा गया है कि उद्दण्ड से उद्दण्ड शरारती विद्यार्थी भी माता-पिता को सूचना दिये जाने पर सर्वाधिक भय खाता है । अध्यापक भी विद्यार्थी के व्यक्तित्व का समग्र विकास माता-पिता की सहायता के बिना नहीं कर सकता है । वही "मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद" का क्रियात्मक रूप है । तीन महीने में एक बार अविभावक एवं अध्यापकों की बंठक करना समूची शिक्षा व्यवस्था का अविभाज्य अंग माना जाना चाहिए ।

(७) उच्च शिक्षा : योग्यता—

विश्वविद्यालय की स्नातक कक्षा में प्रवेश हेतु यह अनिवार्य नियम हो कि पूर्व अर्जित योग्यता के साथ-साथ एक वर्ष तक वह देहात के ग्रामों, कस्बों गरीब बस्तियों में जाकर शिक्षा प्रसार हेतु कार्य करे । इससे प्रौढ़ शिक्षा हेतु विशाल जनशक्ति स्वत: प्राप्त हो जायेगी । बेरोजगार युवकों की जनशक्ति का उपयोग भी हो जायेगा और देहात में जाकर वे निर्धनता का स्वयं साक्षात्कार भी कर सकेंगे । ततपश्चात् ही उनको स्नातक कक्षा में प्रवेश दिया जाय ।

(८) शिक्षा : राष्ट्रीय एकता एवं चरित्र-निर्माण

प्रत्येक विद्यार्थी को राष्ट्रीय एकता एवं चरित्र-निर्माण की शिक्षा देना, उसके पाठ्य-क्रम का अङ्ग अनिवार्य अङ्ग हो । समस्त शिक्षण-संस्थाओं में ऐसे पाठ्य-क्रम हों कि विद्यार्थी को राष्ट्रीय एकता तथा गौरव की भावना अधिक से अधिक प्राप्त हो । वस्तुत: एक विषय के रूप में इसे अध्ययन कराया जाय ।

(९) शिक्षा में आधुनिक तकनीकों का प्रयोग

शिक्षा देने के साधनों का प्रयोग विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ परिवर्तित होते रहने चाहिए । आधुनिक शिक्षा-साधनों में रेडयो, दूरदर्शन और कम्प्यूटर का उपयोग एवं प्रबन्ध शिक्षण-संस्थाओं में किया जाये ।

(१०) शिक्षा : वित्त-व्यवस्था, शिक्षा को अनिवार्य करना होगा—

शिक्षा को अनिवार्य कर देना होगा। शिक्षा देने का उत्तरदायित्व सरकार का है। शिक्षा समुचित प्रबन्ध हेतु "शिक्षा कर" लगाना चाहिये। यह कर आय के अनुसार, उसका कुछ प्रतिशत तय किया जाये। इसके साथ सामाजिक संगठनों एवं ट्रस्टों से इस कार्य हेतु धन संग्रह किया जाये।

(११) शिक्षा में आरक्षण—

पिछड़ी जाति एवं जनजातियों के लिये आरक्षण जारी रहना चाहिये, परन्तु गरीबी की रेखा के नीचे के अन्य वर्ग के निर्धन लोगों के लिये भी शिक्षा पूर्ण रूपेण निःशुल्क होनी अपेक्षित है। शिक्षा का समान अवसर उनको भी मिलना चाहिए। जो व्यक्ति या परिवार आरक्षण का लाभ उठाकर अपना उत्थान कर चुके हैं, उनके बच्चों के लिए आरक्षण तुरन्त बन्द कर देना चाहिये।

(१२) शिक्षण-संस्था : समानता—

प्रजातान्त्रिक मूल्यों के विकास हेतु अर्थात् प्रजातन्त्र को ठोस रूप में स्थापित करने हेतु यह आवश्यक है कि राजा और रंक तक की शिक्षा-दीक्षा एक जैसी हो। उच्च श्रेणी एव निम्न श्रेणी के स्कूलों का वर्गीकरण समाप्त होना चाहिए। पब्लिक स्कूलों तथा म्युनिस्पिल एवं पंचायत स्कूलों में विषमता समाप्त होनी चाहिए। इस कार्य को मूर्तरूप देने हेतु व्यापक रूप से मौहल्ला पाठशालाओं के सिद्धान्त को सक्रिय रूप से अपनाया जाय। ग्राम मुहल्ला पाठशालाओं के सम्बन्ध में विशेष संस्तुतियां—

(१) मौहल्ले के प्रतिनिधियों को प्रबन्ध-समिति में सम्मिलित किया जाय।
(२) शिक्षा का स्तर एक जैसा हो। वेशभूषा की समानता हो।
(३) प्रत्येक मुहल्ला, ग्राम स्कूल की यह जिम्मेदारी होनी चाहिए कि वह आस-पास के वातावरण को स्वच्छ रखें। पेड़-पौधों को लगाए। मुहल्ले को साफ रखने का अभियान चलाये। वह निरक्षरता दूर करे।
(४) हर पाठशाला अपने मुहल्ले में एक ज्योतिदीप के रूप में कार्य करे। विश्वविद्यालय की शिक्षा केवल विषय की अत्यधिक गहनता प्राप्त करने हेतु जिज्ञासु छात्रों के लिए ही होनी चाहिए। प्रत्येक विश्वविद्यालय ज्योति-स्तम्भ का कार्य करे।

—:०:—
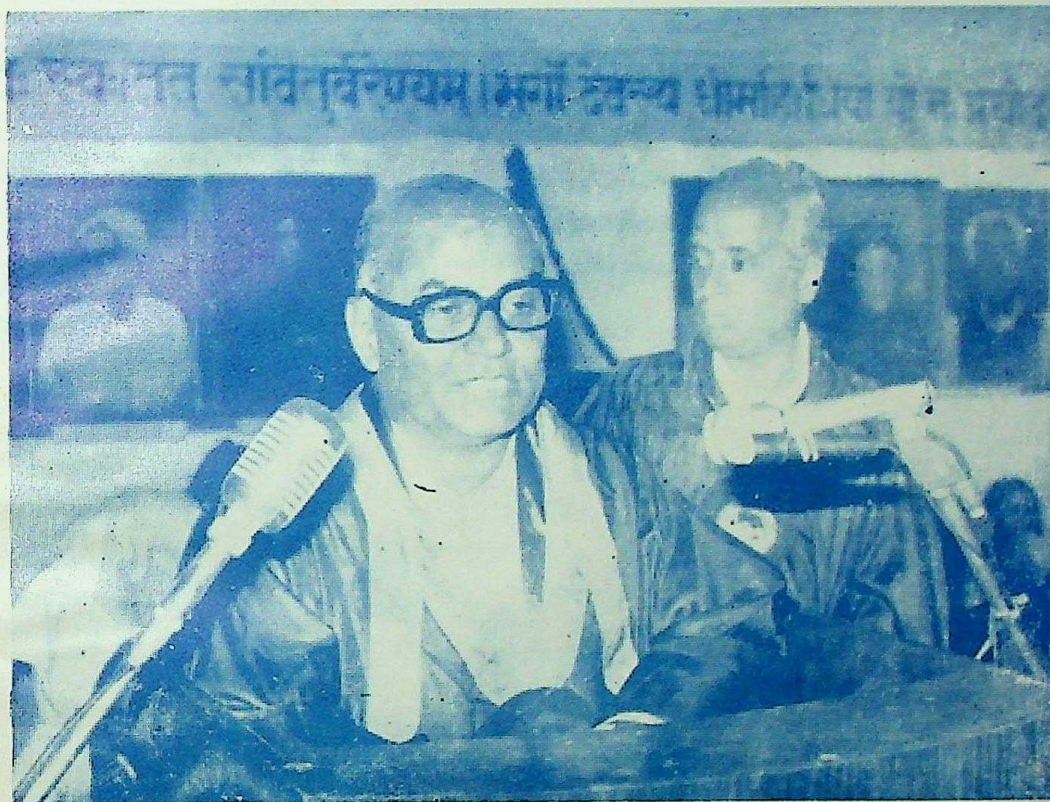
प्रो० आर० सी० शर्मा (पूर्व आई०ए०एस०) कुलपति महोदय, नवस्नातकों को उद्बोधन प्रदान कर रहे हैं।
साथ में प्रो० वीरेन्द्र अरोड़ा कुलसचिव महोदय खड़े हैं।

स्वागत-भाषण

प्रो० आर० सी० शर्मा
(कुलपति)

अर्चनीय संन्यासीवृन्द, मान्यवर परिद्रष्टा महोदय, श्रद्धेय कुलाधिपति जी, माताओं, सज्जनों तथा ब्रह्मचारियों !

मुझे अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द की इस पुण्य-भूमि में आप सभी का स्वागत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। इस महाकुम्भ के अवसर पर जहां एक ओर लाखों नर-नारी पतित पावनी गंगा के किनारे आध्यात्मिक लाभ उठाने के लिए एकत्र हो रहे हैं, वहीं दूसरी ओर सरस्वती की ज्ञान गंगा में डुबकी लगाकर हमारे १३० नव-स्नातक कार्य-क्षेत्र में पदार्पण कर रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि ये नव दीक्षित स्नातक अपने जीवन क्षेत्र में अपने आचार-व्यवहार और कृतित्व द्वारा गुरुकुल माता और भारत माता का सिर सदा ऊंचा उठाये रखने की चेष्टा करते रहेंगे।

प्रिय बन्धुओं !

इस वर्ष दीक्षान्त-भाषण के लिए हमारे मध्य सुप्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री एवं वैदिक विद्वान् डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार उपस्थित हैं। श्री सिद्धान्तालंकार ने स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के श्रीचरणों में बैठकर विद्याध्ययन किया है। गुरुकुल के विख्यात स्नातकों में वे अग्रणी रहे हैं। समाज सेवा, स्वतन्त्रता आन्दोलन, अध्यापन तथा बहुआयामी लेखन के क्षेत्र में उनकी सेवायें उल्लेखनीय हैं। सर्वपल्ली डा०राधाकृष्णन ने उनकी असाधारण विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें राज्यसभा का सदस्य मनोनीत किया था। समाजशास्त्र तथा नृतत्वशास्त्र जैसे विषयों पर हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के ग्रन्थ लिखने वाले वे पहले व्यक्ति हैं। आपके एकादशोपनिषद् भाष्य की प्रशंसा डा०राधाकृष्णन तथा गीता भाष्य की प्रशंसा प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने की थी। पंजाब सरकार ने आपकी साहित्यिक सेवाओं के लिए चण्डीगढ़ में एक दरबार

आयोजित कर आपका सार्वजनिक सम्मान किया। वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार तथा संस्कार चन्द्रिका आपके अन्य विशिष्ट ग्रन्थ हैं। राजगोपालाचार्य पुरस्कार, मंगलाप्रसाद पुरस्कार, गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार तथा राष्ट्रपति पुरस्कारों से सम्मानित होने वाले ऐसे अद्भुत मनीषी को अपने बीच पाकर हमारा प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। गुरुकुल को विश्वविद्यालय का दर्जा दिलाने में आपकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। गुरुकुल के उत्थान के लिए आपके हृदय में विशेष तड़प है। हमारे नव स्नातक सौभाग्यशाली है कि उन्हें आशीर्वाद देने के लिए इस विश्वविद्यालय के पुराने स्नातक जो कुलपति भी रहे और परिद्रष्टा भी, आज हमारे यहां पधारे हैं। मैं डा० सत्यव्रत जी का विशेष रूप से आभारी हूं कि उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार की है।

विश्वविद्यालय की वार्षिक प्रगति और विकास के अवलोकन का यह उचित अवसर है। पूर्व वर्षों में विश्वविद्यालय की बहुमुखी प्रगति हुई। इस संस्थाको समन्वित गंगा योजना तथा हिमालय एक्लौजीकल योजनाएं प्राप्त हुई। प्रौढ़ शिक्षा का कर्य-क्रम प्रारम्भ हुआ और माइक्रोबायलोजी में ए. एस-सी. की परीक्षायें प्रारम्भ की गयीं। इसके साथ ही योग का डिप्लोमा कोर्स भी प्रारम्भ किया गया। पुस्तकालय का विकास एवं आधुनिकीकरण किया गया। प्रोफेसरों के लिए मकान बनाये गये। जिमनाजियम हाल बनाया गया और खेल-कूद के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। अनेक राष्ट्रीय स्तर के सम्मेलन तथा विचार संगोष्ठियां आयोजित की गई।

इस वर्ष फिजिक्स में एम एस-सी. कक्षायें इसी जौलाई से खोलने का प्रयास किया जा रहा है। हमारी योजना रोजगारी पाठ्यक्रम चलाने की है ताकि यहां से शिक्षा पाने के बाद छात्र जीवन में रचनात्मक कार्यों के साथ-२ रोजगार भी प्राप्त कर सकें और साथ ही साथ अपनी संस्कृति की रक्षा और चरित्र निर्माण में भी संलग्न रहें। जौलाई १९८६ से 'डिप्लोमा कोर्स इन कम्प्यूटर साईन्स' खोलने की योजना है। शिक्षा का तात्पर्य छात्र का बहुमुखी विकास है, अस्तु छात्रों के शारीरिक और मानसिक विकास हेतु सभी सम्भव प्रयत्न किए जा रहे हैं। मान्य कुलाधिपति डा० सत्यकेतु जी विद्यालंकार के अथक परिश्रम, ज्ञान और अनुभव के आधार पर विश्वविद्यालय में 'वैदिक तथा इण्डोलोजिकल अध्ययन तथा अनुसंधान संस्थान' खोलने का सङ्कल्प गया है। इसका उद्देश्य वेदों तथा सम्बन्धित साहित्य की व्याख्या करना है,

प्राचीन भारतीय इतिहास दर्शन तथा संस्कृति में अनुसंधान की सुविधा प्रदान करना है, संस्कृत भाषा व्याकरण तथा साहित्य के उच्चतम अध्ययन की सुविधायें प्रदान करना तथा विश्व के महान धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है। इक संस्थान द्वारा प्रकाशन, अनुवाद, वैदिक शब्दार्थ कोष आदि की भी व्यवस्था की जायगी। वैदिक संस्थान के प्रारम्भ का अनुग्रह पूर्व कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र जी, प्रधान, आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब का भी रहा है।

मुझे आप सबको सूचित करते हुए अपार हर्ष होता है कि कन्या गुरुकुल देहरादून इस वर्ष से इसी विश्वविद्यालय का दूसरा कैम्पस बन गया है। इसकी मान्यता भारत सरकार तथा यू.जी.सी. से प्राप्त हो गई है। मैं शिक्षा मन्त्रालय तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को इस स्वीकृति के लिए आप सबकी ओर से धन्यवाद देता हूं। इसी सत्र से कन्या गुरुकुल में बी.एड. कक्षाओं की स्वीकृति हेतु यू.जी.सी. से पुनः अनुरोध किया जा रहा है।

हरिद्वार की जनता की मांग को दृष्टिगत रखते हुए हरिद्वार में ही विश्वविद्यालय से बाहर विज्ञान की शिक्षा हेतु एक कन्या महाविद्यालय खोलने के लिए प्रयास जारी रहेगा।

जैसाकि आपको विदित है कुछ वर्ष पूर्व गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेद कालेज उत्तर-प्रदेश सरकार ने अपने अधीन ले लिया था। हमारा प्रयास यह होगा कि इस कालेज का इन्तजाम सरकार से वापिस लेकर यहां एक उच्चतम आयुर्वेद पीठ की स्थापना करें जिसमें स्नातकोत्तर अध्ययन के अतिरिक्त उच्चकोटि के अनुसंधान की व्यवस्था हो।

विश्वविद्यालय का प्रौढ़ शिक्षा कार्य-क्रम लगातर प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। निरक्षरता उन्मूलन के अतिरिक्त यह कार्यक्रम सफाई, पर्यावरण, का महत्व, परिवार नियोजन के लाभ, देश की स्वतन्त्रता और अखण्डता बनाये रखने में महापुरुषों द्वारा किए गए योगदान आदि की सूचना भी देता है। इस कार्य-क्रम के अन्तर्गत विश्वविद्यालय के ५४ केन्द्र यथावत सम्भव कार्य कर रहे हैं। इसमें लगभग एक हजार निरक्षर प्रौढ़ साक्षरता प्राप्त कर रहे हैं। इस कार्यक्रम को देखकर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने विश्वविद्यालय को ५०,००० रुपये का विशेष अनुदान आडियो विजुअल एडस

खरीदने हेतु दिया है, जिससे वी.सी.आर., रंगीन टेलीविजन व स्लाइडस् प्रोजेक्टर आदि क्रय किए गए हैं।

फरवरी माह में अनुदशकों हेतु एक रिफ्रेशर प्रशिक्षण भी आयोजित किया गया। इस कार्य को अधिक गति देने के लिए यह योजना भी बनाई गई कि सलाहकार समिति के कुछ सदस्य ७-७, ८-८ केन्द्रों पर जाकर अभिभावक की तरह निरीक्षण करें तथा आवश्यक सुझाव दें।

गङ्गा समन्वित योजना का सैम्पलिंग विश्लेषण आदि कार्य दिन प्रतिदिन तरक्की पर है। कुम्भ मेले को दृष्टिगत रखते हुए गङ्गा जलका विशेषकर स्नान स्थानों का सैम्पलिंग प्रत्येक स्नान पर्व पर लिया जाता रहा है। नये पौधे उगाने का कार्यक्रम भी जारी है। यह पौधे प्रदूषण कम करने की दृष्टि से उगाये गये हैं। इस विभाग द्वारा एक नर्सरी भी विकसित की गई है। गंगा के विभिन्न प्रदूषण स्रोतों का पता लगाया गया है तथा अनेक स्थानों से जल के नमूने एकत्रित करके प्रयोगशाला में उनका विश्लेषण किया गया है। भविष्य में जल के अन्दर पाये जाने वाले जीव-जन्तुओं का जल के प्रदूषण में क्या स्थान है—इस विषय पर अनुसंधान करने की योजना है। गगा के किनारे स्थित श्मशान घाटों की राख तथा अधजले शरीर के हिस्से जो गंगा में फैंक दिए जाते हैं उनके प्रभाव से गंगा जल की गुणता किस सीमा तक प्रभावित होती है, इस पर आधारित एकत्र किए गए आंकड़ों की समीक्षा की जा रही है।

'हिमालय एक्लोजिकल योजना' के अन्तर्गत आवश्यक उपकरण और एक जीप खरीद लिए गये हैं। इस पर लगभग २.२० लाख रुपये खर्च किए जा चुके हैं। विश्वविद्यालय तथा कण्वाश्रम में वन महोत्सव मनाया गया, पेड़ लगाये गये तथा कोटद्वार में १९ फरवरी से २१ फरवरी तक हिमालय पर्यावरण विषय पर राष्ट्रीय गोष्ठी में विश्वविद्यालय के हिमालय शोध योजना के निदेशक डा॰ जोशी सहित योजना के अन्य शोध कर्मियों ने भाग लिया।

नवम्बर मास के मण्डलीय स्तर पर गढ़वाल में होने वाली राष्ट्रीय गान प्रतियोगिता में कन्या गुरुकुल देहरादून की छात्राओं ने प्रथम स्थान प्राप्त करके रनिंग शील्ड प्राप्त की। दिसम्बर मास में जिला स्तर पर आयोजित पल्लव भावगीत प्रतियोगिता में छात्राओं ने प्रथम स्थान प्राप्त करके शील्ड प्राप्त की।

इसी प्रकार अनेक छात्राओं ने जिला स्तर, मण्डलीय स्तर तथा प्रादेशिक स्तर पर अनेक खेल-कूद प्रतियोगिताओं में भाग लिए और विजयश्री प्राप्त की।

२५ छात्राओं ने राष्ट्रीय सेवा योजना के अन्तर्गत शिविर में भाग लिया और स्वयं सेविकाओं के कार्यक्रम पूरे किये। इस शिविर में छात्राओं ने सड़क का निर्माण और सफाई अभियान भी चलाया।

विश्वविद्यालय के रसायन विभाग में एक वर्षीय कामर्शियल मैथडस् आफ कैमिकल एनलिसिस का भी पी० जी० डिप्लोमा कोर्स प्रारम्भ किया गया है। रसायन विभाग के डा० रणधीरसिंह प्रवक्ता को रुड़की विश्वविद्यालय का वार्षिक खोसला पुरस्कार अन्य वैज्ञानिकों के साथ सामूहिक रूप से १-३-८६को केन्द्रीय मन्त्री श्री पी०वी०नरसिंहाराव द्वारा दान किया गया। डा०अक्षयकुमार इन्द्रायण का आकाशवाणी नजीबाबाद से ४-३-८६ को एक्सटेन्शन कार्य सम्बन्धी एक क्विज प्रोग्राम प्रसारित हुआ।

हेलो पुच्छल तारा देखने हेतु विश्वविद्यालय को एक तीन इञ्च की दूर-बीन भी केन्द्रीय सरकार द्वारा दी जा रही है।

वेद-विभाग ने अनुसंधान के क्षेत्र में आशातीत प्रगति की। वेद-विभाग वैदिक मन्त्रों के उच्चारणों और यज्ञ के वैज्ञानिक परीक्षणों के कार्यों को आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अध्ययन कर रहा है। वैदिक यज्ञों, यज्ञपात्रों तथा याज्ञिक सामग्री के प्रदर्शन के लिए वेद संग्रहालय बनाया जा रहा है। संस्कृत-विभाग में बाहर के विद्वानों ने भाषण दिए तथा अनुसंधान कार्य में प्रगति हुई।

दर्शन-विभाग में इस वर्ष अनेक प्रकार की शैक्षणिक उपलब्धियां रही है। ६ मार्च से ९ मार्च तक अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का ३० वां अधिवेशन इसी विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुआ। इसी विभाग में राष्ट्रीय दार्शनिक सम्मेलन 'विश्व की प्रमुख ज्वलन्त समस्याओं का दार्शनिक निदान' विषय पर सम्पन्न हुआ। दर्शन-विभाग में डा० हर्ष नारायण रिटायर्ड प्रोफेसर शिलांग, विज़िटिंग फेलों के रूप में पधारे और उनके कई व्याख्यान अनेक दार्शनिक विषयों पर हुये। इन आयोजनों के लिए डा० जयदेव वेदालंकार विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं।

इस वर्ष हिन्दी विभाग में केन्द्रीय निदेशालय द्वारा संचालित अहिन्दी क्षेत्रीय विद्वानों द्वारा हिन्दी-क्षेत्र में दी जाने वाली भाषण-माला योजना के अन्तर्गत गुजरात के हिन्दी आचार्य डा० सुरेशचन्द्र त्रिवेदी के चार व्याख्यान हुए। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आचार्य डा० त्रिभुवन सिंह, दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी आचार्य तथा अध्यक्ष डा० महेन्द्रकुमार एवं पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० धर्मपाल मैनी विश्व-विद्यालय में पधारे तथा विद्यार्थियों को अनुसंधान प्रक्रिया से परिचित कराया काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में 'भारतेन्दु और दयानन्द' पर हमारे हिन्दी के प्रोफेसर डा० विष्णुदत्त राकेश ने विशेष वक्ता के रूप में भाषण दिया।

मनोविज्ञान विभाग में क्लीनिकल कोर्सेस खोलने की योजना है। अंग्रेजी विभाग में एक लैंग्वेज लबोरेटरी की स्थापना की गई है। अंग्रेजी-विभाग के रीडर डा० आर०एल० वार्ष्णेय का एक भाषण 'सोवियत संघ में हिन्दी का स्थान' चार अगस्तको आल इण्डिया रेडियो से प्रसारित हुआ। इस विभाग में अनुसंधान में भी प्रगति हुई और विभाग के डा० श्रवण कुमार एवं श्री अजय शर्मा ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर इन्स्टिट्यूट मेरठ में भाग लिया। इसी विभाग के डा० वार्ष्णेय तथा डा० श्रवणकुमार ने मेरठ विश्व-विद्यालय में डी० एच० लारेंस पर हुए एक सेमीनार में भी भाग लिया। विश्वविद्यालय के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक सर्वश्री डा० हरगोपाल सिंह, डा० विजयशंकर, डा० विष्णुदत्त राकेश आदि बधाई के पात्र हैं। वैदिक-पथ तथा अन्य पत्रिकाओं का प्रकाशन पुनः शुरु कर दिया गया है।

इस वर्ष गणित विभाग का प्रसार किया गया। इस विभाग में अब दो प्रोफेसर हैं। इसमें पी०एच०डी० खोलने की योजना है। वनस्पति विभाग में भी दो प्रोफेसर हैं इस विभाग के अन्तर्गत गंगा समन्वित योजना भी चल रही है। भौतिक-विभाग में एम० एस-सी० के अतिरिक्त कम्प्यूटर कोर्स भी शुरु किए जा रहे हैं। जूलोजी विभाग में माइक्रोबाइलोजी की एम० एस-सी० कक्षायें प्रारम्भ कर दी गई हैं और पर्यावरण तथा एकालोजी पर सराहनीय कार्य हो रहा है।

गुरुकुल का एक प्रमुख दर्शनीय खण्ड गुरुकुल का पुरातत्व संग्रहालय है। इसमें अभिलेख शास्त्र तथा मुद्राशास्त्र की विविध दुर्लभ तथा रोचक सामग्री

प्रदर्शित है। जनसाधारण को दिखाने के उद्देश्य से प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री वीथिकाओं में सजाई गई है।

संग्रहालय के साथ जुड़े हुए श्रद्धानन्द कक्ष की प्रगति भी उल्लेखनीय है। इसमें पूज्य स्वामी जी की पादुकायें, वस्त्र, कमण्डल तथा दुर्लभ चित्र सुरक्षित हैं। इस स्मृति कक्ष में भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास की एक स्वर्णिम कड़ी के रूप में स्वामी जी के भव्य व्यक्तित्व की अद्भुत झांकी यहां मिलती है। अब यहां अष्टधातु तथा चित्रकक्ष की भी स्थापना हो गई है। छठी योजना के अन्तर्गत गुरुकुल विश्वविद्यालय में उत्खनन विभाग खोलने की स्वीकृति हमें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से प्राप्त हुई है। अत. आगामी योजना में हम इस ओर दत्तचित होकर अग्रसर होंगे। इसके साथ ही इस योजना में गंगा संग्रहालय स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष डा० विनोद चन्द्र सिन्हा को अनुदान आयोग ने राष्ट्रीय प्रोफेसर नियुक्त करके सम्मानित किया है।

गुरुकुल पुस्तकालय तो उत्तर भारत के गिने चुने पुस्तकालयों में एक है। यहां धर्म, दर्शन, इतिहास तथा मानविकी और विज्ञान की दुर्लभ पुस्तकें तथा पाण्डुलिपियां सुरक्षित हैं। विभिन्न विषयों पर एक लाख से अधिक पुस्तकें विद्यमान हैं जिनका उपयोग देश विदेश के शोधार्थी करते रहे हैं। राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता के निदेशक तथा गुरुकुल कांगड़ी के पूर्व विजिटिंग फेलो डा० डी० आर० कालिया के अनुभव से लाभ उठाकर पुस्तकालयाध्यक्ष श्री जगदीश विद्यालंकार पुस्तकालय को अप-टू-डेट बनाने की दिशा में प्रयत्नशील हैं।

एन.सी.सी. का कार्य मेजर वीरेन्द्र अरोड़ा कर रहे हैं। पिछले वर्ष की भाँति इस वर्ष भी एन.सी सी का सफल कैम्प उनके नेतृत्व में लगा।

आपको यह जानकर भी प्रसन्नता होगी कि इस वर्ष तमिल कक्षायें खोलने हेतु तमिलनाडु सरकार से यथेष्ट धनराशि उपलब्ध कराई गई है। आशा है इस दिशा में आगामी सत्र से कार्यारम्भ हो जायेगा।

गुरुकुल सिस्टम वर्तमान परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय अखण्डता, समाज सेवा, मानव जाति की एकता, विश्वव्यापी प्रेम, चरित्र-निर्माण, आत्मानुशासन, सामाजिक तथा लोकतान्त्रिक न्याय, सामूहिक कार्य चेतना, ज्ञान की खोज एवं प्रसार जैसे उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो सकता है। गुरुकुल में विगत

वर्षों में हम इन्हीं मूल्यों की खोज का यत्न करते रहे हैं। इस दिशा में अपने सीमित साधनों के बावजूद जहां एक ओर यहां आश्रम व्यवस्था का सुधार किया गया वहां ब्रह्मचारियों के आध्यात्मिक विकास के लिये व्रताभ्यास, योगाभ्यास तथा वेदमन्त्र पाठ पर अधिकाधिक बल दिया गया।

गुरुकुल की उपलब्धियों के लिये मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, उत्तर-प्रदेश सरकार, आकाशवाणी नजीबाबाद, विश्वविद्यालय की शिष्ट परिषद्, कार्य-परिषद् तथा शिक्षा पटल के मान्य सदस्यगण के प्रति आभार प्रकट करता हूं। उन्होंने समय पर हमें अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया तथा हमारा मार्ग दर्शन किया। इसके साथ ही मैं स्थानीय प्रशासन को भी धन्यवाद देता हूं, उन्होंने यहां व्यवस्था बनाये रखने में अपना सहयोग दिया।

मैं इस अवसर पर अपने आचार्यों, ब्रह्मचारियों तथा कर्मचारियों को भी धन्यवाद देना चाहूंगा जिनकी मेहनत और लगन से ये सब उपलब्धियां हो सकीं। यहां कुलसचिव, उपकुलसचिव तथा वित्ताधिकारी एवं उनके स्टाफ के सहयोग का भी आभारी हूं।

इस वर्ष पी एच.डी. की ५, एम.ए. ५, एम.एस-सी. की ६७ बी.एस-सी. को ४१ तथा अलंकार की १७ उपाधियां प्रदान की गई हैं।

मुख्य अतिथि डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार विज़िटर, विश्वविद्यालय दीक्षान्त-भाषण देते हुए।
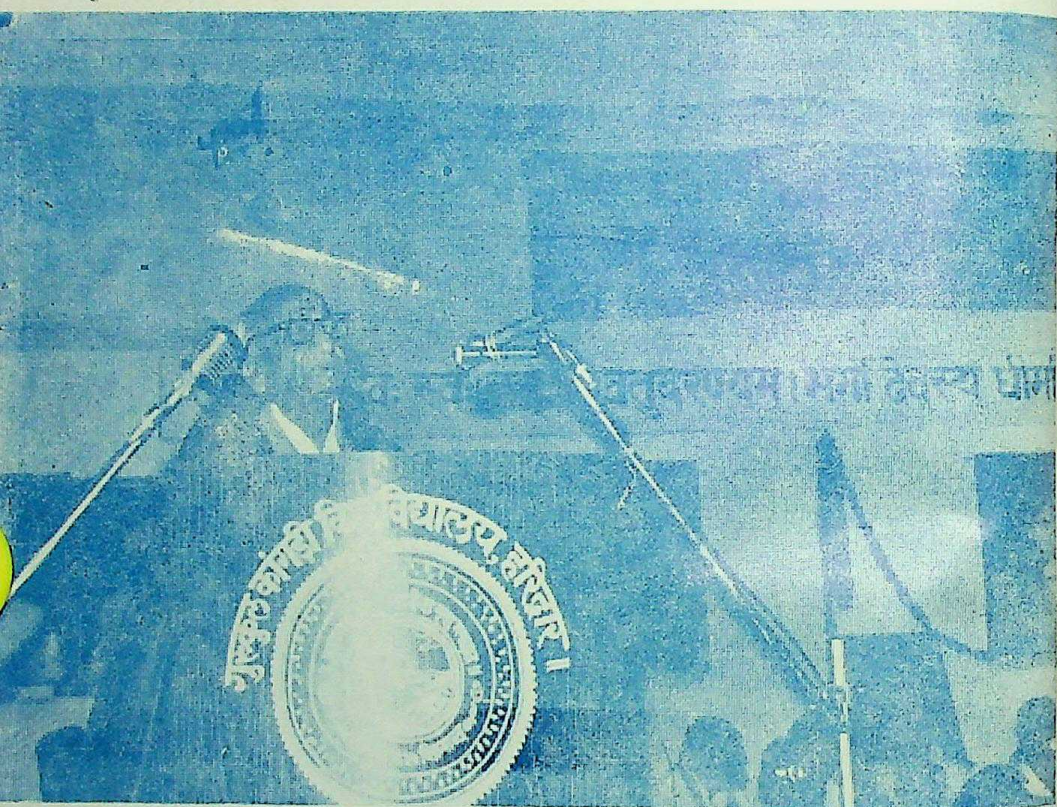
डा० सत्यकेतु विद्यालंकार कुलाधिपति महोदय दीक्षान्त-समारोह में नवस्नातकों को आशीर्वाद प्रदान कर रहे हैं

दीक्षान्त - भाषण

द्वारा : डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार (पूर्व संसद्-सदस्य)

१२ – ४ – १९८६

श्री कुलाधिपति जी, श्री कुलपति जी, अध्यापकवृन्द, उपस्थित महानुभावो, देवियो तथा नवदीक्षित युवास्नातकवृन्द !

आप सभी तथा समस्त मानव जाति के सुख और समृद्धि की कामना करते हुए मैं गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति, कुलपति एवं अधिकारियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ कि आपने मुझे दीक्षान्त-भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया। मेरा सम्बन्ध इस विश्वविद्यालय से अत्यन्त लम्बा तथा पुराना है। मैं यहां विद्यार्थी के रूप में सात वर्ष की आयु में आया था। मैंने यहा १४ वर्ष अध्ययन किया, दो बार मैं इसका कुलपति तथा पिछले ६ वर्षों से इसका परिद्रष्टा रहा हूँ। इसलिए मुझे गुरुकुल से विशेष प्रेम है। मेरी आधे से अधिक आयु गुरुकुल से सम्बन्धित रही है। मुझे यहां की एक-एक ईंट प्रिय है। मेरे मन, बुद्धि और आचार-विचार पर गुरुकुल शिक्षा का अमिट प्रभाव रहा है।

वैदिक-धर्म हमारी सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, आचार, मर्यादाओं आदि का आधार है जिसके बिना हम खड़े नहीं रह सकते। यहीं हमें विश्वबन्धुत्व का सन्देश मिलता है। आप बड़े सौभाग्यशाली हैं कि आपकी शिक्षा-दीक्षा इस सुरम्य संस्था में हुई है। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की स्थापना वैदिक आदर्शों को आधार बना कर हुई है। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली भा अन्य शिक्षा-प्रणालियों की तरह अपने ढंग की एक विशेष शिक्षा-प्रणाली है। जिस प्रकार मौन्टसरी-शिक्षा-प्रणालो, वर्धा-योजना या प्रोजेक्ट-सिस्टम नाम से विविध शिक्षा-प्रणालियां हैं उसी प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द ने ऋषि दयानन्द से प्रेरणा लेकर इस प्रणाली की स्थापना की थी। गुरुकुल-शिक्षा-

प्रणाली की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषतायें हैं—गुरु-शिष्य का दिन-रात का घनिष्ठ सम्बन्ध, ब्रह्मचर्य तथा चरित्र-निर्माण । गुरुकुल-प्रणाली के अतिरिक्त अन्य किसी शिक्षा-प्रणाली में चरित्र-निर्माण को इतनी अधिक प्राथमिकता तथा महत्ता नहीं दी गई । यह कहना कि अन्य शिक्षा-प्रणालियों में चरित्र-निर्माण को कोई स्थान नहीं, गलत होगा, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली ही ऐसी प्रणाली है जिसके विषय में कहा जा सकता है कि इस शिक्षा प्रणाली का मुख्य उद्देश्य पुस्तक-शिक्षा के साथ-साथ चरित्र-निर्माण करना है ।

गुरुकुल का अर्थ है गुरु का कुल, गुरु का परिवार । यहां विद्यार्थी माता-पिता के 'कुल' से 'गुरु' के कुल में प्रवेश करता है । एक छोटे और सीमित परिवार से निकल कर एक विशद और सार्वभौम परिवार में प्रविष्ट होता है, जहां वह माता-पिता के परिवार की सीमाओं को लांघकर समाज के हर युवा को अपना सम-कक्ष तथा परिवार का अंग समझता है । क्योंकि आपकी शिक्षा-दीक्षा उक्त आदर्शों की सर्वश्रेष्ठ संस्था में हुई है अतः आप पुनः पुनः बधाई के पात्र हैं । आपके कुलपति और कुलाधिपति और अधिकारियों से भी कहूँगा कि आप अपने अन्तेवासियों को वैदिक-संस्कृति के आदर्शों को जीवन में घटाने की प्रेरणा दें और ऐसे छात्र उत्पन्न करें जो जात-पांत की सीमाओं को लांघ-कर, ऊंच-नीच के भेद को भुलाकर एक ऐसे समाज का निर्माण करें जिसमें 'संगच्छध्वं संवदध्वम्' का आदर्श क्रियात्मकरूप धारण करे और जिसमें चरित्र-निर्माण को शिक्षा का आदर्श समझा जाये ।

परिवर्तन प्राकृतिक नियम है । बीज अंकुरित होकर वृक्ष बनता है पुष्पित फलित होकर शीतलता, छाया, फूल-फल प्रदान करता है । अतः संस्थाओं में भी युगानुरूप परिवर्तनों की आवश्यकता होती है । गुरुकुल की स्थापना के समय हमारी शिक्षा क्रान्तिकारी वातावरण में हुई थी जिसमें शिक्षा का उद्देश्य ऐसे युवक उत्पन्न करना था जो स्वावलम्बी हों और स्वतन्त्रता के लिए विदेशी सरकार से लोहा ले सकें । परन्तु आज स्थिति बदल गई है । इस स्वतन्त्रता के युग में हमें ऐसे युवक उत्पन्न करने की आवश्यकता है जो ऊंचे सरकारी पदों पर आसीन होकर अपनी उत्कृष्ट चारित्रिक विशेषताओं के कारण सरकार के सहयोगी बनकर देश में व्याप्त भ्रष्टाचार, अन्धकार, पारस्प-रिक कलह-द्वेष को दूर करके राष्ट्र को एकता और समृद्धि में सहायक बनें । इसलिये जहां एक ओर चारित्रिक उच्चता तथा वैदिक-संस्कृति के जन-जन के

जोवन में व्याप्त होने की आवश्यकता है जिससे यहां के छात्र हर प्रकार के पाठ्य क्रमों और अध्ययन-अध्यापन की आवश्यकता है जिससे यहां के छात्र हर प्रकार के सरकारी पदों पर आसीन हों, वे आई० ए० एस०, पी० सी० एस०, भारतीय रक्षा-सेवाओं, डाक्टरी, इंजीनियरी तथा अन्य क्षेत्रों में उच्च स्थान प्राप्त कर देश को उन्नति के पथ पर अग्रसर कर सकें।

स्वतन्त्रता से पूर्व गुरुकुल सरकारी अनुदान नहीं लेता था। वह आत्म-निर्भर था। यह आत्म-निर्भरता विद्यार्थियों की भी मिली थी। उन्होंने अपने पैरों पर खड़े होना सीखा। जब व्यक्ति आत्म-निर्भर होना है, दूसरे के सहारे पर नहीं, अपने सहारे पर खड़ा होता है, तब उसके भीतर से शक्ति उत्पन्न होती है जो उसे सब बाधाओं से लड़ने की शक्ति प्रदान करती है। यही कारण है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व के समय के गुरुकुल के छात्र अनेक क्षेत्रों में उच्च स्थान और अप्रत्याशित ख्याति प्राप्त कर सके। पत्रकारिता के क्षेत्र में पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार, कृष्णचन्द्र विद्यालंकार, आनन्द विद्यालंकार, क्षितीश विद्यालंकार, सतीश विद्यालंकार जैसे अनेक प्रकाश-स्तम्भ गुरुकुल ने दिए। आयुर्वेद के क्षेत्र में गुरुकुल का जितना योगदान है उतना संसार की किसी भी शिक्षण-संस्था का नहीं है। मेरी मनोकामना है कि हमारे हाथ से निकल गया आयुर्वेद महाविद्यालय फिर हमारे विश्वविद्यालय का अंग हो और यहां आयुर्वेद में उच्चतम अनुसंधान हो। मुझे पूर्ण आशा है कि हमारे नवीन कुलपति इस दिशा में उद्योग करेंगे और इस उद्योग में शीघ्र ही सफल होंगे। इतिहास के क्षेत्र में डा० प्राणनाथ विद्यालंकार, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, डा० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा प्रोफेसर हरिदत्त वेदालंकार जैसे प्रकाण्ड पण्डित गुरुकुल ने प्रदान किये हैं। इनके द्वारा लिखी गई पुस्तकें समस्त भारत में पढ़ाई जाती हैं। संस्कृत तथा वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में भी गुरुकुल ने अनेक प्रतिभायें दी हैं। स्वामी अभयदेव विद्यालंकार, पं० जयदेव विद्यालंकार, बम्बई के सत्यकाम विद्यालंकार, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, रामनाथ वेदालंकार तथा अन्य अनेक स्नातक वेद के उच्च कोटि के विद्वान् हैं। उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में भी हमारे स्नातकों पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, पं०चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सत्यपाल विद्यालंकार, पं० विद्यानिधि विद्यालंकार, श्री विराज विद्यालंकार, डा० सत्यकेतु विद्यालंकार की देन चिरस्मरणीय है।

पुरातन स्नातकों ने जो कार्य किया है उसकी तुलना यदि किसी भी विश्वविद्यालय के स्नातकों के कार्य से की जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि उनकी देन प्रतिशत की दृष्टि से अत्यधिक तथा विशिष्टतम है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व गुरुकुल के छात्र परिस्थिति से लड़ते हुये आत्म-निर्भर हुये और उन्होंने जीवन में अपने आत्म-बल से जीवन का रास्ता सफलता पूर्वक बनाया तथा तय किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यद्यपि हमारे रास्ते तथा उद्देश्यों में बदलाहट हुई, और इस बदलाहट में मेरा ही मुख्य हाथ रहा है, तथापि मैं अनुभव करने लगा हूं कि हम गुरुकुल के मुख्य आधारभूत सिद्धान्तों से दूर होते जा रहे हैं। आप क्षमा करें, गुरुकुल का जो वर्तमान रूप होता जा रहा है वह अन्य कालेजों से भिन्न नहीं रहा। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के जिन आधारभूत सिद्धान्तों को लेकर इस संस्था की स्थापना हुई थी हम उन्हें भूलते जा रहे हैं। कहां है वह गुरु-शिष्य का दिन-रात का आधारभूत सम्बन्ध? कहां है वह 'कुल' की, 'परिवार' की भावना? कहां है वह हमारी प्राचीन परम्परा? कहां है वह लगन? गुरुकुल में परिस्थितिवश परिवर्तन आना आवश्यक है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु अपने आधारभूत सिद्धान्तों को खो कर नहीं। उन सिद्धान्तों को सप्राण तथा सजग रखते हुये हमें परिवर्तन लाना है। गुरुकुल को ऐसा रूप देना है जिससे यहां के कार्यकर्त्ता सिर्फ बाहर के छात्रों की भर्ती कर संतुष्ट न हो जायें, परन्तु अपने बच्चों को भी यहीं भर्ती करें। मुझे यह देख कर दुःख होता है कि गुरुकुल की सभा के संचालक भी अपने बच्चों को यहां भर्ती नहीं करते, न यहां के अध्यापक ही अपने बच्चों को यहां भर्ती करते हैं। दिल्ली पब्लिक स्कूल की बसें गुरुकुल के कार्य कर्ताओं के बच्चों के लिये यहां आती हैं और उन्हें गुरुकुल से बाहर के स्कूलों में शिक्षा के लिये ले जाती हैं। इसका यह अर्थ है कि गुरुकुल की सभा के संचालक तथा गुरुकुल के अध्यापक भी स्वयं यहां की शिक्षा से संतुष्ट नहीं हैं। मैं गुरुकुल के सचालकों से अनुरोध करूंगा कि जो कमी वे यहां अनुभव करते हैं उसे वे स्वयं दूर क्यों नहीं कर देते। अगर यहां की पाठविधि में कोई कमी है तो उसे दूर करना आपके हाथ में है। अब तो विदेशी शासन नहीं है, अपना शासन है, आप अपनी सरकार से भरपूर सहायता लेते हैं, जो सहायता आपको नहीं मिलती वह भी यत्न करने पर मिल सकती है। अपना दृष्टिकोण बदलिये और ऐसा पग उठाइये ताकि हर

व्यक्ति गुरुकुल में अपने बच्चे की भर्ती ही न करे, अपितु भर्ती करने के लिए उत्सुक हो जाये ।

गुरुकुल को सरकारी मान्यता प्राप्त हुई परन्तु यह मान्यता उस गुरुकुल को नहीं दी गई जिसमें बी.ए , एम ए. की डिग्री दी जाती है । बी.ए., एम.ए., पी.एच-डी. की डिग्री दीजिए, परन्तु यत्न कीजिए कि यहां से जो छात्र निकलें वे इन डिग्रियों के साथ गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के आधारभूत सिद्धान्तों से ओत-प्रोत हों । यह आपका लक्ष्य होना चाहिए ।

मेरे सामने भविष्य के गुरुकुल का यह सपना है कि गुरुकुल से ऐसे स्नातक निकलें जिनका तपस्यामय जीवन हो, जो हिन्दी में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की तरह शुद्ध हिन्दी लिख-बोल सकें, जो संस्कृत में उव्वट तथा ऋषि दयानन्द जैसा उच्चतम संस्कृत का ज्ञान रखते हों, जो अंग्रेजी में शैक्सपीयर तथा मैकाले की कोटि के हों, जो विज्ञान में श्री सतीश धवन तथा प्रोफेसर यशपाल सरीखे वैज्ञानिक हों, जो हर क्षेत्र उच्च से उच्चतर शिखर को छू सकें । उड़ान लीजिये तो ऊंची उड़ान लीजिए । सब कुछ संभव है । जो आज असंभव तथा कठिन प्रतीत होता है वह प्रयत्न करने पर कालान्तर में सम्भव तथा सुगम हो जाता है । एक भव्य भवन को बनाने लिए उसकी नींव को दृढ़ करना होगा । अगर हम मानव समाज के भवन को सुदृढ़ नींव पर खड़ा करना चाहते हैं तो उसकी नींव को सबसे पहले दृढ़ करना होगा । हमारी शिक्षा-संस्था की नींव वह है जहाँ से बालक शिक्षा जगत में बाल्यकाल में प्रवेश करता है । आप अगर अपने विद्यालय विभाग को दृढ़ कर सकें तो तो सम्पूर्ण संस्था अपने आप उन्नति के मार्ग पर चल पड़ेगी । गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के आधारभूत सिद्धान्तों को आदर्श तक पहुंचाने के लिये आपको विद्यालय विभाग को दृढ़ करना होगा । गुरुकुल का विश्वविद्यालयीय रूप तभी उभरेगा जब आपका विद्यालय-विभाग इतना उन्नत हो जाएगा कि सब लोग अपने बच्चों को यहां भर्ती ही नहीं करेंगे, भर्ती करने के लिए उत्सुक होंगे, तब हमें बाहर से एक छात्र भी नहीं लेना पड़ेगा, हमारे विश्वविद्यालय में वही छात्र होंगे जो हमारे विद्यालय विभाग की शिक्षा दीक्षा में गुजर कर आयेंगे ।

मेरा अनुरोध है कि आज के बदलते युग में आप गुरुकुल के रूप को ऐसा बदलिए कि यहां के आदर्शों, यहाँ की भावनाओं, यहां के रंग में रंगे हुये छात्र

ही आपके महाविद्यालय विभाग में प्रविष्ट हो, आपको बाहर से छात्र लेने की आवश्यकता न हों, और वे ही छात्र स्नातक बनकर समाज में प्रविष्ट हों, जो हिन्दी, संस्कृत के पंडित हों, अंग्रेजी के उच्चकोटि के विद्वान् हों, और इस योग्यता के साथ साथ वे किसी जिले में मजिस्ट्रेट बनें, किसी जगह इन्पैक्टर जनरल आफ पुलिस हों, किसी जगह सरकारी उच्च पदों पर आसीन हों। देश की मांग है और आवश्यकता है कि ऐसी शिक्षा में दीक्षित व्यक्ति ही देश के कोने कोने में व्याप्त हो जायें। जैसे किसी युग में विदेशी सरकार से विद्रोह करने वाले स्वतन्त्रता सैनानियों की आवश्यकता थी जिसे गुरुकुल ने पूरा किया, वैसे ही आज देश को ऐसे सरकारी सैनानियों की आवश्यकता है जो देश में व्याप्त भ्रष्टाचार, ईर्ष्या द्वेष, कलह, भेदभाव को अपने आदर्श क्रियात्मक जीवन से दूर रह सकें जिसे गुरुकुल जैसी प्राचीन आदर्शों से ओत-प्रोत संस्था ही पूरा कर सकती है परन्तु इस स्थिति पर पहुंचने के लिए हमें अपने आपको बदलना होगा। खड़ा पानी सड़ जाता है, बहता पानी तरोताजा रहता है और गन्दगी को दूर कर देता है। इस बदलाहट के विषय में किसी ने ठीक ही कहा है—

'तू भी बदल ए गाफिल, जमाना बदल गया।'

मध्य एशिया एवं चीन में भारतीय बौद्ध प्रचारक

—डा० जबरसिंह सेंगर

प्राचीन भारतीय पंडितों में अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रचार की लालसा थी। जिसे उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को दिया। सांस्कृतिक क्षेत्र में उनकी कल्पना बृहत्तर भारत की थी उन प्राचीन धर्म प्रचारकों में न तो वित्तीय लोभ था और न दुर्गम मार्गों का कष्ट या भय। वे अपने जीवन को सफलीभूत इसी में समझते थे कि उन्होंने शरीर को तपाकर समाज को क्या दिया? जहाँ तक मध्य एशिया एवं चीन में बौद्ध-धर्म के प्रचार एवं प्रसार का सम्बन्ध है—इसकी तिथि निश्चित करने में विद्वानों में मतभेद है। एक जनश्रुति के अधार पर अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को तिष्यरक्षिता के कोप-भाजन के फलस्वरूप देश निकाला दिया और कुणाल अपने साथियों सहित खोतन पहुंचा। वहां इन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। विद्वान पी०सी० बागची के अनुसार बौद्ध धर्म का प्रवेश यहां प्रथम शती ई० पू० से बहुत पहले हो चुका था।

एक अन्य जनश्रुति के अनुसार प्रसिद्ध हान वंशी राजा मिगती को रात्रि में सोते समय एक स्वर्णिम पुरुष दिखाई दिया। राजा मिगती ने अपने दरबारियों को बुलाकर इस स्वप्न के बारे में पूछा तो दरबारियों ने बताया कि यह स्वर्णिम पुरुष आकृति भगवान बुद्ध की है। राजा मिगती ने अपने दो दूतों को भारत से बौद्ध भिक्षुओं को लाने हेतु भेजा। हालाकि कश्यप मातंग एवं धर्मरक्ष से पूर्व भी भारतीय विद्वान वहां पहुंच चुके थे तथा उन्हें स्थानीय ताओ एवं कन्फ़्यूसस धर्मों के विरोध का सामना भी करना पड़ा।

अब हम उन प्रमुख बौद्ध प्रचारकों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने बौद्ध साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद, शिक्षा, दीक्षा अथवा धर्म प्रचार में योगदान दिया।

१. **महारक्षित**—सम्राट अशोक सबसे पहला भारतीय शासक था जिसने अनेक धर्म प्रचारक-मंडलियां बनाकर विभिन्न देशों में भेजी थी।

२. **मध्यम**—डा० कृष्णदत्त वाजपेयी के अनुसार अशोक के द्वारा लगभग इसी समय बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए उत्तरी वृहत्तर भारत में एक प्रचारक मंडली जो भेजी गई थी, उसका नेतृत्व मध्यम कर रहे थे।

३. **अर्हत वैराचेन**—साक्ष्यों के अनुसार कुणाल के देश निष्कासन के बाद कुणाल अपने साथियों सहित खोतन गया था। उसके बाद ५३ ई० पू० में खोतन अर्हत वैरोचेन गए और वहां बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

४. **कश्यप मातंग एवं धर्मरक्ष**—चीन में बौद्ध धर्म का प्रमुख उपदेशक कश्यप मातंग गया। यह मगध का निवासी एवं कश्यप गोत्र का था। जिस समय राजा मिगती द्वारा भेजा गया दूत भारत आया, उस समय वह गांधार में था। जब दूत ने राजा का अनुग्रह सुनाया तो वह चीन चलने को तैयार हो गया। उसके साथ ही दूसरा भारतीय पंडित धर्मरक्ष (मगध-निवासी) ६८ ई० में चीन गया। यह विनय तथा अन्य बौद्ध शास्त्रों का प्रकांड विद्वान था। दोनों के चीन पहुंचने पर वहां के राजा मिगती ने उनका जोर-शोर से स्वागत किया। मिगती का बौद्ध धर्म के प्रति रुझान देखकर वहां के स्थानीय धर्मताओं एवं कन्फ्यूसियस के समर्थकों ने विरोध किया। विशाल जन-समुदाय के बीच बौद्धधर्म एवं ताओ-कन्फ्यूसियस धर्म की परीक्षा हुई जिसमें बौद्ध धर्म सफल हुआ। उक्त दोनों भारतीय पंडितों को लोयंग बिहार में ठहराया गया। इन्होंने वहां चीनी भाषा का ज्ञान प्राप्तकर बौद्ध धर्म का प्रचार चीनी भाषा में किया। कश्यप मातंग की मृत्यु के पश्चात् धर्मरक्ष ने अपना कार्य जारी रखा। विद्वान् पी० सी० बागची ने इसे स्वर्ण-काल की संज्ञा दी है। डा० कृष्णदत्त वाजपेयी कश्यप मातंग के चीन जाने का समय ६५ ई० तथा धर्मरक्ष का ६९ ई० मानते हैं।

५. **सुविनय, स्थविर, श्रमण आदि**—अब भारतीय धर्मविदों में धार्मिक एवं सांस्कृतिक विजय की होड़ लग गई। १४७ ई० के लगभग ये चीन गये तथा २५ वर्ष तक लोयंग बिहार में ठहरे एवं इन्होंने बौद्ध-धर्म प्रचार एवं बौद्ध साहित्य का सृजन चीनी भाषा में किया। इनके लगभग २३ ग्रंथ ऐसे हैं जिनका अनुवाद चीनी भाषा में किया गया।

६. **आर्य काल** – (१४८ से १८० ई०) १४८ ई० में चीन जाकर वहां २२ वर्ष तक रहकर लगभग १७६ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

७. **मन्त्र सिद्ध**—यह विद्वान लगभग २२५ ई० में खोतान गया एवं वहां इन्होंने बौद्ध-धर्म का प्रचार किया।

८. **विघ्न**—(२०० से २५० ई०) यह विद्वान् मध्य एशिया में बौद्धधर्म का प्रचार करता हुआ सन् २२४ ई० में चीन पहुंचा। वहाँ सर्व प्रथम 'धम्मपद' का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

९. **महाबल**—यह भारतीय पंडित दूसरी शती के अन्त में चीन गया लोचंग विहार में रहकर बौद्ध-साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

१०. **धर्मपाल**—२५० ई० में यह मध्य भारत निवासी चीन गया। कपिलवस्तु से 'पातिमोक्ख' नामक ग्रन्थ अपने साथ चीन ले गया। वहां के लोगों को 'विनय पिकं' से अवगत कराया। इन दोनों ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

११. **धर्मरक्ष**--(२४०–३१८ ई०) धर्मरक्ष मध्य एशिया के प्रमुख नगरों में धर्मप्रचार करता हुआ २६६ ई० में चीन पहुँचा। यह पंडित ३६ भाषाओं का ज्ञाता था। २१० बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

१२. **संघभूति**--यह कश्मीरी पंडित मध्य एशिया एवं चीन ३८१ ई० में गया। इसका चीनी नाम चांग आन पड़ा। इसने अभिधम्म-विभास-शास्त्र नामक ग्रंथ की रचना की। प्रसिद्ध चीनी भिक्षु तान-आन सङ्घभूति के साथ रहा तथा इनकी विद्वता से आकृष्ट था। राजाज्ञानुसार अभिधम्म-विभास-शास्त्र, आर्य-वसुमित्र, बोधिसत्त्व-सङ्गीत-शाव्न, सङ्घरक्ष-सङ्काय-बुद्धकीर्ति-सूत्र आदि ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

१३. **धर्मप्रिय**--धर्मप्रिय (३८२ ई०) इस विद्वान् ने चीन में बौद्ध-मठीय शिक्षण संस्था स्थापित कर शिक्षण कार्य किया। **'दशसाहस्रिका** प्रजामारमिता' का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

१४. **संघदेव**—सङ्घभूति एवं धर्मप्रिय के पश्चात सङ्घदेव उर्फ गौतम-सङ्घदेव नामक बौद्ध पंडित ३८३ ई० में चीन गया। इसने मध्यमगामा, त्रि–

का-शास्त्र, अभिधम्म-हृदय-शास्त्र आदि ग्रन्थों का सङ्घभूति एवं तुखिस्तानी धर्मानन्दी विद्वानों की सहायता से चीनी भाषा में अनुवाद किया।

१५. **कुमारजीव** — (३७५–४३० ई०) कुमारायण का पुत्र कुमारजीव कूचा शासक के यहां राजगुरु था। चीनी शासक के अनुग्रह पर कूचा शासक ने जब कुमारजीव को चीन जाने की आज्ञा नहीं दी तो चीनी शासक बलपूर्वक कूचा राजा को हराकर इस विद्वान् को चीन ससम्मान ले गया। इस विद्वान् ने अनुवाद की नई शैली निकाली एवं अनुवादक मंडल की स्थापना की। लोयंग बिहार में रहकर अश्वघोष एवं नागार्जुन आदि विद्वानों द्वारा लिखित लगभग ९८ ग्रन्थों का इसने चीनी भाषा में अनुवाद किया। अनुवाद का रूप मौलिक रचना की भांति है। चीन में महायान धर्म का प्रचार-प्रसार इनके समय में पर्याप्त हुआ।

१६. **पुण्यत्तर**—(४०४ ई०) कुमारजीव के साथ इन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, साथ ही मध्य एशिया में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। इन्हें मध्य एशिया की सभी भाषायें आती थीं—यथा खोतनी, कूची आदि। इन्होंने सर्वस्तीवाद–विनय का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

१७. **बुद्धजीव**—(४२३ ई०) इसने अन्य दो विद्वानों की सहायता से महिषाशाक्य–विनय, प्रतिमोक्ष आदि ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

१८. **गुण वर्मा**— (२६७-४३१ ई०) यह कश्मीरी पंडित श्रीलंका, जावा, सुमात्रा, आदि देशों से होता हुआ चीन पहुंचा। कुमारजीव की भांति इसने भी अनुवाद कार्य किया। शिक्षण कार्य में भी योगदान दिया। इस महायानी पंडित ने चीनियों को काफी प्रभावित किया एवं बहुसंख्या में चीनियों ने बौद्ध धर्म में दीक्षा ली।

१९. **बुद्धघोष**—श्रीलंका एवं चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इसके द्वारा अनूदित ग्रंन्थ विशुद्धमग्ग, पट्टचूड़ामणि आदि हैं।

२०. **गुणभद्र**—(३६७-४३१ ई०) यह मध्य भारत निवासी पंडित चीन गया एवं वहां रहकर ७८ संस्कृत ग्रंन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

२१. **धर्मजात यशस**—(४८१ ई०) इस मध्य भारत निवासी ने चीन पहुंचकर धर्मप्रचार के साथ-साथ 'अमृतार्थ-सूत्र' का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

२२. **बुद्धशांत**—(५२५ ई०) इस भारतीय भिक्षु ने चीन में शिक्षण कार्य के साथ-साथ दस ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

२३. **परमार्थ**—(५३९-ई०) यह बौद्ध साहित्य का प्रकांड विद्वान था। चीन के प्राचोन साहित्य में इनके पांडित्य की बड़ी प्रशंसा की गई है। इन्होंने योगाचार सम्प्रदाय का चीन में प्रचार किया। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान असंग तथा बसुबन्धु के ग्रन्थों पर इन्होंने विद्वतापूर्ण टीकाएं लिखीं।

२४. **पुण्योपाय**—(६५५ ई०) मध्य भारत निवासी यह पंडित ६५५ ई० में बौद्ध सम्प्रदाय के १५०० ग्रन्थों को लेकर चोन गया। महायान एवं हीनयान से सम्बन्धित उक्त ग्रन्थों का प्रचार चोनी भाषा में किया एवं उनके अनुवादार्थ अनुवादक मंडल को ये ग्रन्थ दिए।

२५ **अमोघ बज्र** - (७४१-७७४ ई०) इस विद्वान ने चीन जाकर ७७ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इसमें लगभग ४१ तंत्र ग्रन्थ थे। वहां के तत्कालीन राजा ने इन्हें 'प्रज्ञा कोष' (ज्ञान की खान) उपाधि से सम्मानित किया।

२६. **प्रज्ञ**—(७८२ ई०) इस विद्वान ने भी ७८२ ई० में चीन जाकर अनुवादक मंडल के साथ अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनो भाषा में अनुवाद किया।

२७. **धर्मदेव**—(९४०-१००१ ई.) २८ वर्ष चोन में रहकर इस विद्वान ने ४६ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

२८. **सुनय श्री**—(१२१० ई.) तत्कालीन चीन सम्राट के निमन्त्रण पर चीन पहुंचे। इस विद्वान ने अनेक कठिन ग्रन्थों का चोनी भाषा में अनुवाद किया।

इसके अतिरिक्त धर्मयशस, बुद्धयशस, धर्ममित्र, धर्मक्षेंभ, धर्मगुप्ता, धर्म-केन्द्र, अजितसेन, अतिगुप्ता, बोधिरूचि, प्रभाकर मित्र, सुधाकर सिन्हा, जिन-गुप्त गौतम प्रजा रूचि, ज्ञानभद्र, बुद्धभद्र, विमोक्षसेन, बज्रबोधि, विनीत-रूचि आदि विद्वान् भी मध्य एशिया एवं चीन गये तथा वहां बौद्ध-धर्म का प्रचार प्रसार, बौद्ध-साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद तथा शिक्षणक्षेत्र में सराह-नीय योगदान दिया। क्या इनसे भारतीय संस्कृति के पोषक भी सबक लेंगे एवं भारतीय संस्कृति के प्रसार-प्रचार में योगदान दे सकेंगे— यही विचार-णीय है।

"परिकल्पनात्मक तत्वमीमांसा की असम्भावना"—कांट

डॉ० भगवन्त सिंह

कांट के अनुसार वास्तविक ज्ञान 'प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक परामर्श' (Synthetic Apriori judgment) का ज्ञान होता है। इसमें यथार्थता या सत्यता के साथ-साथ अनिवार्यता और सार्वभौमता भी होती है। यह परामर्शात्मक या निर्णयात्मक ज्ञान इन्द्रिय संवेदनों एवं बुद्धि-विकल्पों के योग से बनता है। अतः जिस किसी वस्तु का इन्द्रिय सम्वेदन नहीं होगा, उसका वास्तविक ज्ञान भी असम्भव होगा। यह कांट की मान्यता है कि देश-काल का ज्ञान व्यवहारतः वास्तविक और परमार्थतः काल्पनिक होता है। अतः हमें व्यवहार का सत् किन्तु परमार्थ का काल्पनिक ज्ञान ही प्राप्त होता है। क्योंकि इन्द्रिय सम्वेदन देश-काल के द्वारों से होकर ही बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचते हैं। व्यावहारिक दर्शन से कांट का तात्पर्य ज्ञान-मीमांसा से है; इस कार्य में दर्शन सफल भी होता है। दर्शन का पारमार्थिक पक्ष है—तत्वमीमांसा अर्थात् आत्मा, जगत और ईश्वर का विवेचन। प्रश्न है कि क्या यह तत्वमीमांसा सम्भव है ?

इस सन्दर्भ में कांट का उत्तर निषेधात्मक है। उसके अनुसार परिकल्पनात्मक-तत्वविज्ञान जो केवल बुद्धि के आधार पर अतीन्द्रिय जगत का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, असम्भव है। दर्शन के ये तत्व अतीन्द्रिय हैं इस कारण इन बुद्धि-विकल्पों (Categories of Understanding) की गति न होने के कारण ये इन तत्वों से मूल इन्द्रिय सम्वेदन नहीं प्राप्त कर सकते। इन्द्रिय सम्वेदनों के अभाव में बुद्धि-विकल्पों का एकीकरण और समन्वय के लिए सामग्री नहीं मिलेगी; फलतः वे निर्णय का निर्माण नहीं कर सकेंगे और परामर्शात्मक ज्ञान असम्भव होगा। परामर्शों के अभाव में प्रज्ञा को नियमन के लिए सामग्री भी नहीं मिल पायेगी। अतः तत्वमीमांसा के अर्थ में दर्शन भी असम्भव होगा

जो कि इन्द्रिय सम्वेदनों एवं बुद्धि-विकल्पों की शक्ति को ध्यान में रखते हुए उन्हें उनकी सीमा के परे परमार्थ पर भी लागू करता है।

यहां एक स्वाभाविक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि तत्वमीमांसा असम्भव है तो इस ओर हमारी प्रवृत्ति क्यों होती है। कांट के अनुसार मानव के अन्दर अनन्त जिज्ञासा और उत्कट इच्छा होती है जिसके कारण वह बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण कर सीमित से असीमित की ओर, सान्त से अनन्त की ओर अनित्य से नित्य की ओर जाने की इच्छा करता है। इसी प्रवृत्ति के कारण ही मनुष्य तत्वमीमांसा की ओर अग्रसर होता है।

कांट इस समस्या को संवृत्ति (Phenomena) और परमार्थ (Noumena) की समस्या के रूप में लेकर बुद्धि एवं प्रज्ञा में भेद करता है। बुद्धि का कार्य प्रत्यक्ष तक ही सीमित है जबकि प्रज्ञा प्रत्यक्ष का अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय जगत में प्रवेश करने का प्रयत्न करती है। बुद्धि प्रकृति के सम्वेदनों के प्रति एकीकरण को सम्भव बनाती है जब कि प्रज्ञा बुद्धि के व्यापारों के बीच एकीकरण एवं समन्वय स्थापित करती है। बुद्धि के नियम वस्तु जगत पर लागू होते हैं। वे प्रकृति का निर्माण करते हैं (Understanding makes nature) इसलिये इन्हें उपादानात्मक नियम (Constitutive principle) कहते हैं। इसके विपरीत प्रज्ञा के नियम बुद्धि के व्यापारों के नियामक होते हैं अत: उन्हें नियामक नियम (Regulative principle) कहते हैं। बुद्धि का क्षेत्र इन्द्रिय सम्वेदन है जबकि प्रज्ञा का क्षेत्र बुद्धि है। बुद्धि जिन नियमों के आधार पर संवेदनों का समन्वय करती है प्रज्ञा उन नियमों का समन्वय करती है। प्रज्ञा का इन्द्रिय-सम्वेदनों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अत: प्रज्ञा का ज्ञान यथार्थ न होकर मात्र सम्भाव्य होता है क्योंकि सम्वेदनाभाव में इनके मौलिक पदार्थ वस्तु-जगत में हैं या नहीं इसकी जानकारी हमें प्राप्त नहीं होती। इसीलिए प्रज्ञा के विज्ञानों में अनिवार्यता और सार्वभौमता होने के बावजूद प्रज्ञा का संवेदनों से मात्र परोक्ष सम्बन्ध होने के कारण उसके विज्ञानों सत्यता या यथार्थता नहीं होती। इसी आधार पर तत्वमीमांसा के अतीन्द्रिय तत्वों का कोई इन्द्रिय-सम्वेदन नहीं होता है। सम्वेदनों के अभाव में बुद्धि-विकल्प इन अतीन्द्रिय तत्वों पर लागू नहीं होते; किन्तु जब प्रज्ञा बलात् बुद्धि को अपने विकल्पों को इन तत्वों पर फेंकने के लिए बाध्य करती है तब बुद्धि विकल्प असफल रह जाते हैं और द्वन्द्वों (Dialecties) की सृष्टि होती है। फिर भी आत्मा, जगत् और ईश्वर के

अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए क्रमशः तीन शास्त्र माने जाते हैं—आत्मनिष्ठ मनोविज्ञान (Rational Psychology) सृष्टि-विज्ञान (Rational Cosmology) और बौद्धिक ईश्वर-विज्ञान (Rational Theology) ये तीनों ही प्रज्ञा के काल्पनिक विज्ञान हैं। उपर्युक्त तीनों ही विज्ञानों से सम्बन्धित द्वन्द्वों को कांट ने क्रमशः तर्काभास (Paralogism), विप्रतिषेध (Antinomies) और विरोधाभास (Contradiction) नाम दिया है। इन तीनों अन्तर्विरोधों के नाम भले ही भिन्न-भिन्न हों किन्तु आशय तो सबका एक ही है—परस्पर विरोधी तर्क।

इस प्रकार कांट परिकल्पनात्मक तत्व-मीमांसा को असम्भव मानता है। इन्द्रिय सम्वेदन और बुद्धि-विकल्पों को गति परमार्थ कक न होने के कारण वे अज्ञेय हैं। यह अज्ञेयता इनकी गति की सीमा का ज्ञान है। कांट के दर्शन में अज्ञेय कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि उसका परामर्शात्मक ज्ञान (Judgmental Knowledge) असम्भव है। यद्यपि उसका ज्ञान निर्विकल्प अनुभूति द्वारा सम्भव है किन्तु उस दशा में परामर्श के न होने पर वह ज्ञान नहीं कहा जायगा। अतः अनुभवातीत या अतीन्द्रिय वस्तुओं का ज्ञान असम्भव होने के कारण हम स्वतः सत् वस्तुओं (Things-in-themselves) का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते।

कांट के इस अज्ञेयवाद की विद्वानों ने कटु आलोचनाएं की हैं—

हेगल ने आपत्ति की, कि कांट ने एक ओर तो तत्व को बुद्धि-विकल्पों से परे और अतीन्द्रिय माना और दूसरी ओर उसने उन पर वास्तविकता, अनुपस्थिति, सीमितता और कारणता जैसे ४ विकल्पों को आरोपित किया है। आखिर अज्ञेयता भी तो एक विकल्प ही है। अतः तत्व को अज्ञेय भी नहीं कहा जा सकता।

कांट के अनुसार हेगल की आलोचना निराधार है। हेगल अज्ञेय का अर्थ ज्ञेयता की अनुपस्थिति के रूप में लेते हैं जब कि कांट के अनुसार अज्ञेय का अर्थ निर्णयात्मक ज्ञान की सीमा का ज्ञान है, ज्ञान का निषेध नहीं। इसके अलावा व्यावहारिक वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होने वाले शुद्ध-विकल्प से पूर्णतया भिन्न है। अतः कांट द्वारा शुद्ध-विकल्पों का परमार्थों पर प्रयोग सर्वथा उचित है।

ब्रैडले ने आपत्ति की और कहा कि 'जो व्यक्ति यह सिद्ध करता है कि

तत्व-विज्ञान असम्भव है वह एक विरोधी सिद्धान्त का प्रतिपादक तत्वविज्ञानी बन्धु ही है।'

विट्गेन्स्टाइन ने कहा कि 'यदि हम चिन्तन की कोई सीमा रेखा निर्धारित करते हैं तो इसके लिए हमें सीमा के दोनों पार्श्वों का विचार करना होगा। अर्थात् संवृति और परमार्थ का भेद करते समय कांट को परमार्थ का भी बोध रहा होगा फिर परमार्थ अज्ञेय कैसा ?

ब्रैडले और विट्गेन्स्टाइन की आपत्तियों के समाधान में कांट कहते हैं कि अज्ञेय कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि तत्व निर्णयात्मक-ज्ञान के रूप में अज्ञेय है। कांट इस सीमा का अतिक्रमण कर सकता है और परमार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकता है किन्तु बौद्धिक रूप में नहीं बल्कि निर्विकल्प अनुभूति के रूप में। चूंकि निर्विकल्प अनुभूत में इन्द्रिय-सम्वेदनों के अभाव में निर्णयात्मक ज्ञान (Judgmental Knowledge) नहीं हो पता, जब कि कांट के अनुसार वही ज्ञान का मानदण्ड है; इसीलिए कांट परमार्थ को अज्ञेय ही मानता है।

माध्यमिक दर्शन बनाम माध्यमिक धर्म

डॉ० मुक्तावली
(लखनऊ)

माध्यमिक धर्म भी है और दर्शन भी। धर्म की दृष्टि से तो वही महायान बौद्ध धर्म है, जो विज्ञानवादियों का भी है। अतः धर्म के स्तर पर माध्यमिक और विज्ञानवाद प्रायः एक है। बल्कि बुद्ध की पूजा में तो वे हीनयानियों से से भी मूलतः तत्त्वतः वहुत भिन्न नहीं रह जाते। वे बुद्ध के विविध रूपों तथा विविध बोधिसत्त्वों आदि की मूर्तियों की पूजा उसी धूम-धाम से कहते हैं जैसे अन्य श्रद्धालु धार्मिक पुरुष अपने मन्दिरों में अपने उपासकों की पूजा करते हैं। जिस यरह अन्य बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय भी कहते हैं। माध्यमिक दर्शन की दृष्टि से शून्यवादो है नितान्त अभाववादी। अब देखिये, कहाँ यह शून्यवाद और कहां यह पूजा-ध्यान। शून्यवाद की चाहे जो भी व्याख्या को जाए शून्य को अनमिलाप्य और सभी कोटियों के परे मा वना ही होगा जिससे उसके पूज्य-भाव की प्रतिष्ठा का प्रश्न दी नहीं उठता। फिर पूजा-पाठ किलका और क्यों ?

माध्यमिक का उत्तर है कि व्यवहार में यह सब चलता है, परमार्थ की स्थिति चाहे जितनी भिन्न क्यों न हो। परमार्थ में माध्यमिक लोक-परलोक संसार-निर्वाण सभी को लांध कर न जाने कहां पहुंच जाता है, किन्तु व्यवहार में उसमें तथा अन्य धर्मों के अनुयायियों में कोई मौलिक भेद नहीं रह जाता।

वस्तुतः नागार्जुन ने **मध्यमक-शास्त्र** के चौबीसवें अध्याय में बहुत रोचक चर्चा उठाई है कि यदि सब कुछ शून्य है तो हमें कुछ करना हो नहीं है न उदय है, न अन्त है, न व्यय है, न दुःख है, न निर्वाण है ऐसी अवस्था में चारों आर्य सत्य भी नहीं है और उनके अभाव में त्रिरत्न भी नहीं होंगे—

यदि शून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः।
चतुर्णामार्य सत्यानामभावस्ते प्रसज्यते ।।
परिज्ञा च प्रहाणं च भावना साक्षिकर्भ च।
चतुर्णामार्यसत्यानभावन्नोपपद्यते ।।

तदभावान्न विद्यन्ते चत्वार्यार्षफलानि च ।
फलाभावे फलवस्था नो, न सन्ति प्रतिपन्नकाः ॥
संघो नास्ति न चेत्सन्ति तेऽष्टौ पुरुषपुद्गलाः ।
अभावाच्चार्यसत्यानां सद्धर्मोऽपि न विद्यते ॥
धर्मे चासति संघे च कथं बुद्धो भविष्यति ।
एवं त्रीण्यपि रत्नानि ब्रवाणः प्रतिबाधसे ॥

इन प्रश्नों का वह स्वयं ही उत्तर देने का प्रयत्न करता है । वह पहले तो यह कहता है कि वस्तुओं को अशून्य मान लेने पर भी उक्त आक्षेप से बचना असम्भव है क्योंकि यदि वस्तुओं का अपना स्वभाव है तो वह बदल नहीं सकता ऐसी अवस्था में भी निर्णय और उसके लिए प्रयत्न व्यर्थ है और बाद में भी यह कह कर छुट्टी लेता है कि वस्तुओं को निःस्वभाव मानने पर ही उनका उत्पाद और विनाश सम्भव हो सकता है और निर्वाण आदि के प्रयत्न सार्थक हो सकते हैं । नागार्जुन का आग्रह हैं कि शून्यता अथवा निःस्वभावता मानने पर ही निःस्वभावता बन सकती है जबकि वह स्वभावता अपने शास्त्र का प्रवर्तन ही कारण-कार्य भाव के खण्डन से ही करता है । इस प्रकार वह अन्तर्विरोध में फंस जाता है । फिर नागार्जुन दो सत्यों की चर्चा छेड़ देता है । और सम्भवतः पूजा-पाठ आदि को व्यवहार दृष्टि से उचित ठहराता है । यहां यह उल्लेखनीय है कि नागार्जुन इसी सन्दर्भ में शून्यता को प्रतीत्यसमुत्पाद से समीकृत करता है, जबकि प्रज्ञाकरमति प्रतीत्यसमुत्पाद को संवृति सत्य बतलाता है "प्रतीत्यसमुत्पन्नं वस्तुरूपं संवृति उच्यते[2] नागार्जुन द्वारा उठाये गये प्रश्न का चन्द्रकीर्ति अपने ढंग से समाधान करने की चेष्टा करता हैं और लिखता है कि माध्यमिक वस्तुओं की शून्यता का प्रतिपादन संवृति सत्य की दृष्टि से करता है, इसलिए कि वस्तुओं की सत्यता का अभिनिवेश नष्ट हो जाये । अन्यथा ज्ञानी जन की दृष्टि में तो कुछ बचता ही नहीं है जिसे वह सत्य अथवा मिथ्या कह सकें । इस सन्दर्भ में चन्द्रकीर्ति ने एक वचन भगवद् वचन के रूप में उदाहृत किया है—

"शून्य माध्यत्मिकं पश्य शून्यं पश्य बर्हिगतम् ।
न विद्यते सोऽपि कश्चिद् यो भावयति शून्यताम्[3] ॥

इसका अर्थ और आशय सर्वथा सुस्पष्ट है—भीतर भी शून्य, बाहर भी शून्य, और वह भी शून्य जिससे शून्य का प्रतिभास होता है । इसी सन्दर्भ में चन्द्रकीर्ति का वचन भी द्रष्टव्य है—

"नैवत्वार्याः कृतकार्याः किंचिदुपलभन्ते यन् मृषा वा अमृषा वा स्यात् ।"[४]

अर्थात् ज्ञानी जन को कुछ मिलता ही नहीं है जिसे वह सत्य या मिथ्या कह सके। सारांश यह है कि ज्ञान की दृष्टि से सब कुछ शून्य है इतना शून्य कि उसे असत्य कहना भी निरर्थक होगा, क्योंकि असत्य सत्य के प्रतियोगी के रूप में ही सार्थक हो सकता है और कुछ है हो नहीं जिसके प्रतियोगी का प्रश्न उठे। हां, वस्तुओं का मृषा होना भी संवृति सत्य का अंग है। अतः चन्द्रकीर्ति कहता है मृषा पदार्थ भी पाप और पुण्य के कारण बनते हैं जैसे माया युवती। अतः जब तक शून्यता दृष्टि भी बनी रहेगी तब तक शून्यता धर्माचरण आवश्यक बना रहेगा किन्तु इस तर्क में भी विशेष सार नहीं है। क्योंकि मृषा पदार्थ पाप और पुण्य के कारण तभी बनते हैं जब उनमें वास्तविक पदार्थों का अध्यारोप कर लिया जाता है। किन्तु यहां तो प्रश्न है कि उस चरम सत्य का जहां मृषा और अमृषा भी शान्त हो जाते हैं। जब माध्यमिक उस भूमिका में पहुंच जाता है तो फिर पूजा-पाठ किसका ? माध्यमिक के लिए एकमात्र सत्य है——संवृति सत्य की परिकल्पना। हमारी धारणा है कि अद्वैत वेदान्त में परमार्थ और व्यवहार की परिकल्पना का औचित्य है किन्तु माध्यमिक दर्शन में नहीं। अद्वैत वेदान्त परमगति, परम पद और परम तत्त्व को वास्तविक मानना है जबकि माध्यमिक की दृष्टि में तो सब कुछ शून्य हैं, वस्तुतः इतना शून्य कि उसके लिये शून्य शब्द भी हलका पड़ता हैं। अतः उसमें पर अपर का भेद निरर्थक हो गया।

सारांशतः माध्यमिक धर्म और दर्शन के विरोध के परिहार में अक्षम सिद्ध होता है।

महमूद गजनवी क सभ्य अरबी का महान् लेखक और भारतविद् अबूरीहान–अलबैरूनी लिखता है कि भारत में उच्च से उच्च सिद्धान्त घटिया से घटिया व्यवहार के साथ इस प्रकार सहभूत और सम्मिश्रित पाये जाते हैं जिस प्रकार कोई बच्चा हीरे-मोती और कंकड़-पत्थर को एक में मिलाकर खेलता पाया जाए। यहां का बड़ा से बड़ा विद्वान् घटिया से घटिया मूढ़ाग्राह से ग्रस्त पाया जाता हें। ऐसा क्यों है ? यहां एक ओर "सर्वं खल्वनिदं ब्रह्म" की घोषणा की जाती है दूसरी तरफ शूद्र को मनुष्य मानने में भी विप्रतिपत्ति देखने को मिलती है। एक ओर अखण्ड ब्रह्मचर्य का गुणगान है दूसरी ओर तन्त्र में उसकी छीछालेदर पायी जाती है। अलबैरुनी कहता है कि इस देश

में सुकरात जैसी कोई प्रतिभा प्रादुर्भूत नहीं हुई जिसके कारण यहां सिद्धान्त और व्यवहार की खाई बढ़ती चली गई और मूढ़ाग्राह और सत्याग्रह में सहभाव स्थापित हो गया, ऐसा क्यों है ?

हमारी दृष्टि में इसका मूल कारण है परमार्थ और व्यवहार में सुन्दर समन्वय व सामन्जस्य का अभाव। वस्तुतः यह परवर्ती भारतीय प्रतिभा की आधारभूत निर्बलता है। अद्वैतवादी भी एक ओर सब कुछ को ब्रह्म की संज्ञा देगा और दूसरी ओर देवी देवताओं की पूजा भी करेगा। माध्यमिक भी परमार्थ विचार के अवसर पर सब कुछ यहाँ तक कि तथागत के भी शून्य होने की घोषणा करता है किन्तु जब व्यवहार के क्षेत्र में उतरने की चेष्टा करता है तब वह तथागतों और उनके उपासकों, देवताओं और उनके भक्तों में उसी प्रकार का भेद और उससे प्रभावित व्यापार करने लग जाता है जिस प्रकार पामर जन करते हैं। और इस प्रकार अन्ततः माध्यमिक धर्म और दर्शन में समन्वय नहीं कर पाता है और वह धर्म और दर्शन के विरोध परिवार के प्रयत्न में नितान्त अक्षम सिद्ध होता है।

सन्दर्भ—

१. मध्यमक-शास्त्र,—२४.१-५
२. बोधिचर्यावतार-पञ्जिका, ६.२
३. मध्यमकशास्त्र-प्रसन्नपदा, १८.३ में उद्धृत बुद्ध वचन
४. तत्रैव

कांगड़ी ग्राम : सामाजिक सर्वेक्षण

डा०बी०डी० जोशी, निदेशक
एवं
डा०टी० शर्मा, वरिष्ठ शोध छात्र,
हिमालय पर्यावरण शोध योजना
जन्तु विज्ञान-विभाग, गु०कां०वि०वि०,हरिद्वार

भूमिका

कांगड़ी, हरिद्वार से ८ किलोमीटर दूरी पर हरिद्वार–नजीबाबाद (बिजनौर) सड़क के किनारे नील पर्वत शृंखलाओं की तलहटी पर बसा बिजनौर जिले का एक छोटा सा गांव है प्राकृतिक सौंदर्य से परिपूर्ण इस गांव का एक महान ऐतिहासिक महत्व भी है। विगत - ८६ वर्ष पूर्व इसी गांव से लगी पावन भूमि पर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना की थी लेकिन बाद में कुछ कारणों से उक्त विश्वविद्यालय को हरिद्वार में स्थानान्तरित कर दिया गया।

लगभग १४० परिवारों के ९०० सदस्यों का यह छोटा सा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति बहुल गांव, आज की वर्तमान परिस्थितियों में महत्व पूर्ण सामाजिक-आर्थिक आंकड़े देता है।

सारांश

हिमालय पर्यावरण शोध योजना की टीम द्वारा डा० बी. डी. जोशी के निदेशन में कांगड़ी गांव, जिला बिजनौर का सामाजिक आर्थिक सर्वेक्षण किया गया। चूंकि यह गाँव बिजनौर जिले का सीमान्त गांव है। अतः इस गांव का एक वानगो (नमूना) सर्वे किया गया। सर्वेक्षण के दौरान ग्रामवासियों के जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओं का वारीकी से अध्ययन करने की कोशिश की गई।

वानगी सर्वेक्षण के पश्चात् तुलनात्मक अध्ययन से निष्कर्ष निकाला गया कि उक्त ग्राम-वासियों की आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक दशा काफी दयनीय है।

गांव के अधिकांश व्यक्ति अस्थाई तौर से मजदूरी से भरण-पोषण करते हैं। जिनकी मसिक आय निम्न आय श्रेणी से भी कम है। तथा अधिकतर परिवारों में ६ से १० तक सदस्य हैं, जो वर्तमान परिस्थितियों में बहुत बड़े परिवार माने जा सकते हैं। रोजगार की कमी, आर्थिक अभाव एवं बड़े परिवार होने के कारण ग्राम वासियों का रहन-सहन खाने एवं स्वास्थ्य का स्तर निम्न है। उक्त अभावों के कारण बच्चों की शिक्षा एवं देख-रेख का भी उचित प्रबन्ध नहीं है। अधिकांश ग्राम वासियों की शिक्षा या तो बेसिक ही है या फिर अशिक्षित हैं। महिलायें तो १०० प्रतिशत अशिक्षित हैं। दुःख का विषय है कि आजादी के ३७ वर्षों के बाद भी उक्त ग्रामवासियों का जीवन स्तर काफी दयनीय है। विगत ८६ वर्ष पूर्व जिस गांव में विश्वविद्यालय जैसी संस्था की स्थापना की गई आज उसी गांव में अधिकांश व्यक्ति अशिक्षित हैं या फिर बेसिक शिक्षा प्राप्त और महिलायें सभी अशिक्षित हैं तथा साक्षर लड़कियों की संख्या भी अल्प है।

निरीक्षण एवं परिणाम

ग्राम कांगड़ी, जिला बिजनौर का सामाजिक सर्वेक्षण किया गया। सर्वे के दौरान लगभग १४० परिवारों के गांव में से ९३ परिवारों के सदस्यों से उनके विचार लिये गये। सर्वेक्षण के दौरान कोशिश की गई कि ग्राम वासियों के जीवन के मुख्य पहलुओं जैसे :—परिवार का माप, परिवार में पुरुष, महिलायें, लड़के एवं लड़कियों की संख्या, पहली पीढ़ी तथा दूसरी पीढ़ी में सन्तान उत्पादन का अनुपात, आयु, शिक्षा, आय प्रति व्यक्ति एवं प्रति परिवार, व्यवसात एवं परिवार/गांव के लिए मुख्य आवश्यकताओं पर ग्राम राय (विचार) लिया जाय। सर्वेक्षण के पश्चात एक तुलनात्मक रूप से उक्त ग्राम वासियों की स्थिति का अध्ययन किया गया। जिससे कई महत्वपूर्ण बातें सामने आई जो निम्न प्रकार से।

१. परिवार का माप (साईज)—(अ) पूरे गांव में लगभग ५० प्रतिशत परिवारों में ६-१० तक सदस्य हैं। जिनकी संख्या ९३ परिवारों में से ४५-(४९.४७ प्रतिशत) है, जिसमें ४८७ जनसंख्या में से ३१२(६४.०६ प्रतिशत) सदस्य हैं। जिसमें पुरूष १०२(५६.६६ प्रतिशत), महिलायें ६३(६८.४७ प्रतिशत लड़के ९१ (६६.४२प्रतिशत) तथा लड़कियाँ ५६ (७१.७९प्रतिशत)हैं। परिवारों का दूसरा बड़ा भाग वह है जिसमें ३-५ सदस्य हैं। इन परिवारों

की संख्या ४०(४३.०९ प्रतिशत)हैं। जिसमें कल १४९ (३०.५९ प्रतिशत) सदस्य हैं। जिसमें पुरुष ६८ (३७.७७ प्रतिशत), महिलाएं २६ (२८.२६ प्रतिशत) लड़के ३९ (२८.४६ प्रतिशत)तथा लड़कियां १६(२०.५७प्रतिशत) हैं। इस तरह उक्त दोनों समूह के परिवारों की संख्या, ९३ परिवारों में से ८६ (९१.४७ प्रतिशत) है तथा इनमें गांव की कुल जनसंख्या ४८७में से ४६१ (९४.६५ प्रतिशत) सदस्य हैं। जिसमें पुरुष १७०, महिलाएं ८७, लड़के १३० एवं लड़कियां ७२ हैं। तालिका संख्या–१।

(ब) परिवारों का छोटा सा भाग ऐसा है जिसमें। से २ सदस्य हैं। जिनकी संख्या ६ (६.४५ प्रतिशत) है। उक्त परिवारों में केवल १३ (२.६६ प्रतिशत) सदस्य हैं। जिनमें पुरूष ६ (६.४५ प्रतिशत) महिलाएं ३ (३.२६ प्रतिशत), लड़के २ (१.४५ प्रतिशत) एवं लड़कियां २ (६.४५ प्रतिशत) हैं। गाँव में मात्र एक परिवार ऐसा है जिसमें १३ सदस्य हैं। जिसमें पुरुष ४ (२.२२ प्रतिशत) लड़के ५ (३.६४ प्रतिशत) एवं लड़कियां ४ (५.१२ प्रति-शत) हैं। तालिका सख्या-१।

उक्त आंकड़ों से आभास होता है कि गांव में अधिकतर परिवारों में ३ से १० सदस्य तक हैं। वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार गांव में अधिकांश बड़े परिवार हैं।

२. गांव के सदस्यों की आयु (उम्र)—(अ) गांव में सबसे अधिक संख्या १८ से ६० वर्ष के लोगों को है जिनकी संख्या २६४ (५४.२० प्रतिशत) है। जिसमें पुरुष १९१ (६०.२४ प्रतिशत) एवं महिलाऐं ७३ (४२.९३ प्रतिशत) हैं। गांव का दूसरा बड़ा भाग १८ से कम आयु के सदस्यों का है। कुल जन-संख्या ४८७ में से २०७ (४२.५० प्रतिशत) अवयस्क हैं, जिनमें १२७ (४०.०५ प्रतिशत) लड़के एवं ८० (५७.०४ प्रतिशत) लड़कियां हैं। (तालिका संख्या २ अ)।

(ब) गांव में सब से छोटा भाग ६० वर्ष से ऊपर के लोगों का है मात्र १६ (३.२८ प्रतिशत) ही ६० वर्ष से ऊपर के उम्र के हैं, जिनमें पुरुष १२ १३.७८ प्रतिशत) एवं महिलायें ४ (२.३५ प्रतिशत) हैं। (तालिका संख्या २ अ)।

गांव के बच्चों (अवयस्क) एवं वयस्क सदस्यों की संख्या लगभग बराबर ही है। तथा ६० वर्ष से अधिक उम्र के व्यक्तियों की संख्या न्यूनतम हैं।

इससे आभास होता है कि ग्राम-वासियों का स्वास्थ्य, भोजन एवं रहन सहन का अच्छा स्तर नहीं है।

गांव में ६३ परिवारों में ४८७ सदस्य हैं जिनमें ३२० अवयस्क हैं। तथा वयस्क व्यक्तियों की संख्या १५१ है। ६१ वर्ष से ऊपर के उम्र के लोग मात्र १६ हैं। सन्तान उत्पादकता को मध्य नजर रखते हुए अनुमानतः नये पीढ़ी में सन्तान उत्पादकता कम हो रही है १६१ वर्ष से ऊपर उम्र १६ व्यक्तियों की १५१ सन्तानें) १.६ है तथा वर्तमान में १५१ लोगों के ३२० बच्चे १.४ हैं (तालिका संख्या २ ब) स्पष्ट है कि पुरानी पीढ़ी से नये पीढ़ी में सन्तान उत्पादकता दर वर्तमान समय में कम है। परिवार नियोजित करने के सम्बन्ध में शायद ग्राम वासियों का ध्यान गया है।

३. शिक्षा--(अ) ४८७ जनसंख्या में से अधिकांश गांव के व्यक्ति २८५ (५८.५२ प्रतिशत) अशिक्षित हैं। जिसमें पुरुष ८७ (४८.३३ प्रतिशत), महिला ९२ (१०० प्रतिशत), लड़के ५५ (४०.१४ प्रतिशत) एवं लड़कियां ५१ (६०.७८ प्रतिशत) हैं। दूसरा बड़ा भाग जो मात्र बेसिक/प्राथमिक शिक्षा प्राप्त ही है उसकी संख्या १३६ (२६.९२ प्रतिशत) हैं। (तालिका संख्या-३)।

(ब) गांव में कम ही लोगों की शिक्षा ५ वीं से १० वीं तक हैं। जिसकी संख्या कुल ५२ (१०.६७ प्रतिशत) है जिसमें पुरुष २७ (१५.०० प्रतिशत) लड़के १९ (३०.८६ प्रतिशत) एवं लड़कियां ६ (७.६७ प्रतिशत) हैं। (तालिका संख्या--३)।

(स) १० वीं से स्नातक की शिक्षा बहुत कम लोगों की है जो मात्र ११ (२.२५ प्रतिशत) हैं। जिसमें पुरूष ११ (६.११ प्रतिशत) हैं तथा मात्र ३ (१०.६१ प्रतिशत) व्यक्ति ही गांव में ऐसे हैं जो कि स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त हैं (तालिका संख्या--३)।

उक्त आंकड़ों से आभास होता है कि गांवों में शिक्षा का स्तर खराब है। शिक्षा के सम्बन्ध में महिलाओं एवं लड़कियों की दशा तो सोचनीय है ही, जहां महिलायें सभी अशिक्षित हैं वही बहुत कम लड़कियां मात्र बेसिक शिक्षा तक ही सीमित हैं। एक बात अच्छी यह है कि थोड़ा सा ध्यान ग्राम वासियों का महिला शिक्षा की ओर गया है। पुरुषों एवं लड़कों का शैक्षिक

स्तर भी विशेष अच्छा नहीं है। गांव में शिक्षा का स्तर निम्न होने का कारण विद्यालय की कमी, जागरूकता की कमी एवं आर्थिक अभाव है।

४. व्यवसाय—(अ) गाँव के अधिकांश वयस्क व्यक्ति मजदूरी से अपना भरण-पोषण करते हैं। तथा बहुत कम व्यक्ति खेती से जुड़े हैं, लेकिन खेती के लिये भी जमीन काफी कम है तथा स्वरोजगार से सम्बन्धित व्यक्ति भी सिलाई, बढ़ईगिरी, दूध, बुग्गी तथा झोटा बुग्गी आदि कार्य ही करते हैं जिससे उक्त सभी वर्ग के व्यक्तियों की मासिक आमदनी काफी कम है। अतः गांव में रोजगार के साधनों का काफी अभाव है। ४८७ जनसंख्या एवं ९३ परिवारों वाले गांव में मात्र १८५ वयस्क व्यक्ति ही रोजगार से जुड़े हैं। इन १८५ वयस्क व्यक्तियों में से अधिकांश भाग मजदूरी या अस्थाई नौकरी से सम्बन्ध रखते हैं। ७८ (४४.११ प्रतिशत) मजदूरी एवं २८ (१५.६५ प्रति.। अस्थाई नौकरी वाले हैं। (तालिका संख्या-४)।

(ब) गांव के वस्यक व्यक्तियों का छोटा भाग खेती एवं स्व रोजगार से जुड़ा हुआ है जिसमें ३३ (१८.३३ प्रतिशत) स्वरोजगार एवं ३० (१६.६६ प्रतिशत) खेती करते करते हैं। बहुत कम व्यक्ति स्थाई नौकरी करते हैं जो मात्र १६ (८.८८ प्रतिशत हैं। तालिका संख्या--४)।

५. मासिक आय—(अ) सर्वेक्षित गांव वासियों की संख्या ४८७ में से मात्र १७५ व्यक्तियों की ही कुछ मासिक आय होती है जिसमें सबसे बड़ा वर्ग उन लोगों का है जिनकी मासिक आय १-३०० रू० प्रतिमाह है। इन व्यक़्तियों की संख्या १५४(८५.५४ प्रतिशत) है। पारिवारिक दृष्टि से९३ परिवारों में से ५०(५३.७५ प्रतिशत)। परिवारों की मासिक आय इस श्रेणी में है। उक्त मासिक आय निम्न आय श्रेणी से भी कम है। (तालिका सं०५)।

(ब) गाँव में निम्न आय वर्ग (३०१ से १००० रु० प्रतिमाह के कुछ ही व्यक्ति (परिवार) हैं जिन की संख्या २० (११.१० प्रतिशत) है। मात्र ३७ ३९.७७ प्रतिशत) परिवारों की कुल मासिक आय उक्त श्रेणी में है। मध्यम आय वर्ग (१००१ से १५०० रु० प्रति माह के व्यक्ति मात्र। है तथा ६ (६.४५ प्रतिशत) परिवार ही उक्त श्रेणी में हैं (तालिका संख्या-५)।

गांव के कुल परिवारों का आधे से अधिक भाग ५३.७५ प्रतिशत परिवार दरिद्रता के निकट हैं। जिनकी मासिक आय मात्र ४४.४ रु० प्रति व्यक्ति

है। गांव में प्रति व्यक्ति मासिक आय मात्र ८६.३५ रु० प्रतिमाह है तथा प्रति परिवार ४५२.२० रु० प्रति माह है। आर्थिक दृष्टि से गांव की दशा बहुत खराब है अधिकांश व्यक्ति न्यूनतम आय वर्ग में भी नहीं आते। स्पष्ट है कि ग्राम वासियों के रहन-सहन, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं रोजगार की स्थिति काफी दयनीय है (तालिका संख्या-५)।

६. **स्व रोजगार हेतु ऋण विवरण द्वारा लाभान्वित**— कांगड़ी गांव के २२ परिवारों द्वारा स्व रोजगार (जैसे बैल, दुकान, बकरी, भैंस, साईकिल एवं बुग्गी हेतु ऋण लिया गया जो कि औसतन २,५६५ ६० रु० प्रति व्यक्ति/परिवार है। ऋण लेने से पूर्व उक्त परिवारों के सदस्यों की मासिक आय मात्र १२५.००रु. प्रति व्यक्ति/परिवार थी लेकिन ऋण लेकर स्व रोजगार द्वारा प्रति व्यक्ति/परिवार की मासिक आय २८८.६४ हो गई। इस प्रकार १६३ ६४ रु. प्रति व्यक्ति/परिवार की मासिक आय में वृद्धि हुई, जो कि १३०.९१ प्रतिशत है (तालिका संख्या-६) ग्रामवासियों का आर्थिक स्तर को उठाने में जिलाधिकारी बिजनौर ने काफी व्यक्तिगत रुचि दिखाई तथा जिला प्रशासन एवं हरिद्वार तथा बिजनौर के अनेक राष्ट्रियकृत बैंकों (जिनके द्वारा ऋण वितरण किया गया) का काफी सराहनीय योगदान रहा है।

७. **परिवार/गांव की प्राथमिक आवश्यकताऐं**—(अ) कांगड़ी ग्राम के ९३ परिवारों में से अधिकांश परिवारों ३८ (४०.८६ प्रति.) की प्राथमिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में कहना है कि अस्पताल की व्यवस्था होनी चाहिए। गांव में विद्यालय एवं बिजली के सम्बन्ध में क्रमशः १० (१०.७५ प्रतिशत), १० (१०.७५ प्रति.) परिवारों का मत है (तालिका संख्या-७)।

(ब) पानी की व्यवस्था, पक्की सड़क एवं बस स्टैंन्ड के सम्बन्ध में क्रमशः ६ (६.४५ प्रतिशत), ४ (४.३० प्रतिशत) एवं ८ (८.६० प्रतिशत) परिवारों का मत है तथा गांव के कुछ ही परिवारों में भूमि (मकान बनाने हेतु) ५ (५.३७ प्रतिशत) पक्के मकान ५ (५.३७ प्रतिशत) एवं जंगली जानवरों से सुरक्षा ४ (४.३० प्रतिशत) के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया सबसे कम मात्र ३ (३.२२ प्रतिशत) परिवारों के सदस्यों का मत है कि रोजगार के साधन उपलब्ध कराये जायें। तालिका संख्या--७)।

निष्कर्ष

उक्त प्राथमिक आवश्यकताओं के बारे में परिवारों के विचार को मध्य नजर रखते हुए स्पष्ट होता है कि—

गांव के अधिकांश लोगों का कहना है कि अस्पताल, बिजली, विद्यालय एवं पक्की सड़क की व्यवस्था होनी चाहिए । स्पष्ट है कि ग्रामवासी अपने चारों ओर हो रहे विकास कार्यों को देख कर सरकार से उक्त माँग करता है । यदि ग्रामवासियों से सभी उक्त आवश्यकताओं के लिये श्रमदान को बात होती है तो ग्रामवासी अपनी ध्याड़ी (मजदूरी) की बात करते हैं । एक ओर यह ग्रामवासियों को आर्थिक मजबूरी भी है तथा दूसरी ओर ग्रामवासी चाहते हैं कि हम कोई योगदान न दें और सरकार हमारे लिये उक्त सभी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर दें । इस से स्पष्ट है कि ग्रामीणों का जहां आर्थिक स्तर काफ़ी खराब है दूसरी ओर उनका सोचने का दायरा भी सीमित है ।

गांव के कुछ ही परिवारों द्वारा विद्यालय एवं बिजली की मांग की गई है जिससे स्पष्ट है कि अधिकतर लोग अशिक्षित एवं आर्थिक अभाव से ग्रस्त हैं जिससे शिक्षा के सम्बन्ध में ग्रामवासी सोचते तक नहीं हैं ।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह सामने आई है कि गांव में ज्यादातर लोग अस्थाई तौर से मजदूरी से अपने एवं परिवार का भरण-पोषण करते हैं । इसके बावजूद भी ६३ परिवरों में से मात्र ३ परिवारों का मत है कि रोजगार के साधन उपलब्ध कराये जाएं । स्पष्ट है कि अशिक्षित होने के कारण ग्राम वासियों का बौद्धिक स्तर इतना नहीं है कि वे रोजगार की बात सोच सकें या फिर कह सकें ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गांव के वासियों की आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक दशा काफी दयनीय है । परिवारों के सदस्यों की मासिक आय न्यून आय श्रेणी से भी कम है जबकि परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक है । जिससे बच्चों की शिक्षा, देख-रेख का उचित प्रबन्ध नहीं हो पाता है । शिक्षा का स्तर सोचनीय होने के कारण परिवार नियोजन की ओर भी ग्राम वासियों का विशेष ध्यान नहीं । महिलाओं में तो सभी अशिक्षित हैं जिससे घर की उचित देख-रेख, सफाई एवं बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है ।

गांव के विकास हेतु सुझाव

गांव के अध्ययन से पता लगता है कि उक्त गांव जब से बसा तब से अब तक लगातार हर वर्ष बाढ़ का शिकार बनता रहा है । जिससे काफी जन-

हानि, आर्थिक हानि तथा मवेसियों की हानि तो होती ही है साथ ही उपजाऊ जमीन का भी भारी मात्रा में कटाव होता है। बाढ़ के पश्चात् ग्रामवासियों को पुर्नानिवास की व्यवस्था करनी पड़ती है। जिससे पुनः आर्थिक हानि का शिकार बनना पड़ता है। इसलिये ग्रामवासियों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता है। जहां आर्थिक स्थिति सुदृढ़ न हो वहाँ सामाजिक जीवनस्तर अच्छा होने का स्वप्न भी देखा नहीं जा सकता है।

१. सर्वप्रथम उक्त गांव को बाढ़ से बचाना नितांत आवश्यक है। जिससे ग्रामवासियों को हर वर्ष होने वाली बहुत बड़ी हानि से बचाया जा सके। आज हिन्दुस्तान में काँगड़ी गांव जैसे हजारों गांव हैं जहां के निवासियों की कमजोर आर्थिक सामाजिक स्थिति की पूरी-पूरी जिम्मेदारी बाढ़ पर है। इसलिए बाढ़ नियन्त्रण कार्यक्रम पर अत्यधिक जोर दिया जाना चाहिये। इसके लिए नदी के किनारे-किनारे तटबन्ध बनाये जायें तथा नदी के उद्गम स्थान से नदी के किनारे-किनारे व्यापक वृक्षारोपण की आवश्यकता है। वृक्षारोपण से जहां एक ओर बाढ़ नियंत्रण एवं भूमि कटाव की रोक-थाम होगी, वहां दूसरी ओर गांव का वातावरण प्रदूषित होने से भी बचाया जा सकेगा। उक्त दोनों कार्यों के लिए ग्रामवासियों द्वारा श्रमदान एवं सरकार द्वारा योजनायें लागू की जानी चाहिए।

२. नदी के किनारे एवं गाव के सामने की बेकार पड़ी हुई लगभग एक वर्ग कि. मी. भूमि में अतिशीघ्र वृक्षारोपण होना चाहिये तथा वृक्षारोपण द्वारा मिश्रित वन बनाए जाने चाहिये।

३. चूंकि कांगड़ी ग्राम पर्वत श्रृंखलाओं की तलहटी में बसा हुआ गांव है तथा इन पर्वत श्रृंखलाओं में अनेक प्रकार के औषधीय पेड़ पौधे हैं। उक्त गांव में यदि एक छोटी सी आयुर्वेदिक फार्मेसी की स्थापना की जाय तो गांव के कुछ व्यक्तियों को रोजगार से जोड़ा जा सकेगा तथा इसके चारों ओर के प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग भी हो सकेगा।

४. गांव के पास से बहने वाली नदी में छोटे-छोटे तालाब एवं पोखरी का निर्माण किया जाय, जिससे कुछ व्यक्तियों को इस योजना से रोजगार प्राप्त हो सकेगा।

५. ग्रामवासियों को भेड़ एवं बकरी पालन हेतु प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ताकि आर्थिक स्थिति में सुधार हो सकें।

६. कुकुट पालन हेतु ग्राम वासियों को निःशुल्क प्रशिक्षण देकर सस्ते ब्याज दरों पर ऋण देकर स्वरोजगार से जोड़ना चाहिये जिससे गांव की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो सके।

७. पशुपालन की ओर ग्रामवासियों का और भी ध्यान आकृष्ट करके उन्हें उन्नत नस्ल के पशु क्रय हेतु बिना ब्याज के ऋण देकर भी उनके सामाजिक, स्वास्थ्य एवं आर्थिक स्थिति में सुधार लाया जा सकता है।

८. गांव में एक सहकारी सोसायटी बनाई जाय जिसमें प्रादेशिक सरकार द्वारा भी भागीदारी की जानी चाहिए तथा सोसायटी द्वारा ऋण वितरण कार्यक्रम एवं लघु-उद्योगों की स्थापना की जानी चाहिए। उक्त सोसायटी द्वारा जहां ग्रामवासियों को स्वरोजगार हेतु कम ब्याज दरों एवं बिना परेशानी के ऋण मुहइया हो पायेगा वहीं सहकारी सोसायटी द्वारा संचालित कुछ लघु उद्योगों में ग्रामवासियों को रोजगार मिल पायेगा।

९. सरकार द्वारा गांव में अस्पताल की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे ग्रामवासियों के स्वास्थ्य की देख-रेख तो होगी ही उसके साथ-साथ ग्रामवासियों को परिवार नियोजन कार्यक्रम के बारे में भी जानकारी प्राप्त हो पायेगी। परिवार नियोजित करने के प्रति जागरूकता आने से निश्चित रूप से छोटे परिवार होंगे जिससे आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में सुधार आ सकता है।

१०. गांव में कम से कम हाई स्कूल की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि बच्चों को शिक्षा प्राप्त हो सके। शिक्षा प्राप्त करके गांव के बच्चों में निश्चित रूप से अपनें भविष्य एवं रोजगार सम्बन्धी बातें सोचने की जागरूकता प्रदान हो पायेगी।

११. गांव में बिजली एवं पीने के पानी की व्यवस्था होना नितांत आवश्यक है।

१२. हरिद्वार–नजीबाबाद वाली रोड से गांव को पक्की सड़क से जोड़ा जाना चाहिये जिससे वर्षा ऋतु एवं अन्य समय में आवागमन में सुविधा हो सके। कुछ व्यक्ति जो दूध एवं सब्जियों के व्यापार से अपना भरण-पोषण करते हैं उन्हें भी सुविधा प्राप्त हो जायेगी।

१३. बस स्टेन्ड की व्यवस्था भी आवश्यक है जिससे ग्रामवासियों के सम्बन्ध शहर से बन सकें तथा आवागमन में कोई परेशानी न हो पाये।

हम समझते हैं कि उक्त सभी कार्यों के लिये जहां सब से पहले ग्रामवासियों का जागरूक होना, उनमें सहकारिता की भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है, तभी वहां सरकार एवं जिला प्रशासन का भी विभिन्न योजनाओं द्वारा उतना ही सहज सहयोग सम्भव हो पाता है अकेले न तो ग्रामवासी ही कुछ कर सकते हैं और न सरकारी तन्त्र ही स्वयं कुछ करेगा ।

तालिका–१

परिवार का माप (साइज)—

क्रम सं०	परिवा में सदस्यों की संख्या	परिवार संख्या	%	पुरुष	%	महिला	%	लड़के	%	लड़कियां	%
१.	१–२	६	६.४५	६	३.३३	३	३.२६	२	१.४५	२	२.५६
२.	३-५	४०	४३.०१	६८	३७.७७	२६	२८.२७	३९	२८.४५	१६	२०.५१
३.	६–१०	४६	४९.४६	१०२	५६.६६	६२	६८.४७	९१	६६.४२	५६	७१.७९
४.	११–१५	१	१.०७	४	२.२२	–	–	५	३.६४	४	५.१२
कुल योग—		९३	१००.००	१८०	३६.६६	९२	१८ ८९	१३७	२८.१३	७८	१६.०१

तालिका–२

(अ) ग्रामवासियों का आयु विवरण—

क्र. सं	वर्ष	पुरुष	%	महिला	%	कुल संख्या	%
१.	०–५	४१	१२.९३	३५	२०.५८	७६	१५.६०
२.	६–१०	४४	१३.८८	२३	१३.५२	६७	१३.७५
३.	११–१७	४२	१३.२४	२२	१२.९४	६४	१३.१४
४.	१८–३५	१३३	३५.५४	५७	३३.५२	१७०	३४.९०
५.	३६–६०	७८	२४.६०	१६	९.४१	९४	१९.३०
६.	६१-९०	१०	३.१५	४	२.३५	१४	२.८७
७.	९१-अधिक	२	०.९३	–	–	२	०.४१

(ब) सन्तान उत्पादकता विवरण—

क्र. सं.	वर्ष	पुरुष	%	महिला	%	कुल सं०	%	अनुपात
(अ)	१–३५	२४०	७५.६९	८०	४७.०४	३२०	६५.७०	अ : अ = १ : ४
(ब)	३६–६०	७८	२४.६०	७३	४२.९३	१५१	३१.००	स : ब = १ : ६
(स)	६१–अधिक	१२	०.६३	४	२.३५	१६	३.३०	

तालिका–३

शिक्षा विवरण—

क्रम सं०	शिक्षा	पुरुष	%	महिला	%	लड़के	%	लड़कियां	%	कुल योग	%
१.	अशिक्षित	८७	४८.३३	९२	१००	५५	५०.१४	५१	६५.३८	२८५	५८.५२
२.	१ से ५ वीं	५२	२८.८८	-	–	६३	४५.९८	२१	२६.९२	१३६	२७.९२
३.	५वीं से १०वीं	२७	१५.००	–	–	१९	१३.८६	६	७.६९	५२	१०.६७
४.	१०वीं से बी.ए.	११	६.११	–	–	–	–	–	–	११	२.२५
५.	बी.ए. से उच्च	३	१.६६	–	–	–	–	–	–	३	०.६१

तालिका–४

व्यवसाय विवरण—

क्रम सं०	व्यवसाय	व्यक्ति	%
१.	मजदूरी	७८	४४.११
२.	अस्थाई नौकरी	२८	१५.६५
३.	स्थाई नौकरी	१६	८.८८
४.	स्वःरोजगार	३३	१८.३३
५.	खेती	३०	१६.६६

तालिका--५

मासिक आय विवरण—

क्रम सं०	मासिक आय रुपया	व्यक्ति	%	परिवारों की सं०	%	कुल सदस्यों की सं०	मासिक आय रु०	प्रति व्यक्ति मा० आय रुपया
१.	१ से ३००	१५४	८५·५५	५०	५३·१६	२३१	१०२५०.००	४४.३७
२.	३०० से १०००	२०	११·१०	३७	३९·७७	२१०	२२१५५ ००	१०१.६२
३.	१००१ से अधिक	१	०.५५	६	६·४५	३६	९६५०·००	२५३.९४

गांव के प्रति परिवार मासिक आय — ४५२·२० रुपया

गांव के प्रति व्यक्ति मासिक आय — ८६·३५ रुपया

तालिका—६

स्वरोजगार हेतु ऋण वितरण द्वारा लाभान्वित--

क्रम सं०	व्यवसाय	परि० सं०	ऋण रुपया	व्यक्ति ऋण	ऋण से पूर्व मा. आ.रु.	ऋण के पश्चात मा.आ.रु.	मा०आ० में वृद्धि	व्यक्ति मा०आ० में वृद्धि
१.	बैल	८	१२.०००	१५००	१०००	१८५०	८५०	१०६.२५
२.	भेड़	२	७.०००	३०००	३००	६००	३००	१५०.००
३.	बकरी	२	३.५००	१७५०	२५०	५००	२५०	१२५.००
४.	बुग्गी	५	२२.०००	४४००	५५०	१९५०	१४००	२८०.००
५.	साईकिल	१	५०	४५०	१००	१५०	५०	५०.००
६.	दुकान	४	१२.५००	३१२५	५५०	१३००	७६०	१८७.५०
कुल योग		२२	५६.४५०	१४२२५	२७५०	६३५०	३६००	८९८.७५

ऋण से पूर्व प्रति व्यक्ति मासिक आय — १२५.०० रु०

ऋण के पश्चात स्वरोजगार द्वारा मासिक आय — २८८.०० रु०

आय में वृद्धि प्रति व्यक्ति/परिवार — १६३,६४ रु०

% आय वृद्धि प्रति व्यक्ति/परिवार — १३०.९१ रु०

तालिका–७

परिवार/गाँव की प्राथमिक आवश्यकतायें—

क्र० सं०	परिवार/गांव की प्राथमिक आवश्यकतायें	परिवारों की संख्या	%
१.	अस्पताल	३८	४०.८६
२.	विद्यालय	१०	१०.७५
३.	बिजली	१०	१०.७५
४.	पानी की व्यवस्था	६	६.४५
५.	सड़क (पक्की)	४	४.३०
६.	बस स्टैण्ड	८	८.६०
७.	भूमि मकान (हेतु)	५	५ ३७
८.	पक्के मकान	५	५.३७
९.	जंगली जानवरों से सुरक्षा	४	४.३०
१०.	रोजगार	४	३.२२

गांव में सर्वेक्षण किये गये परिवारों की कुल संख्या – ९३
गांव में सर्वेक्षण किये गये परिवारों की कुल जनसंख्या – ४८७

आभार

ग्राम कांगड़ी का सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण, पर्यावरण एवं वन विभाग भारत सरकार द्वारा स्वीकृत योजना के अन्तर्गत किया गया, जिसके लिए हम उनका हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

वेदों के मन्त्रों में आन्तरिक रूपता तथा बाह्यरूपता

—डॉ० जेतली

निम्न प्रकार की बाह्यरूपतायें मिलती हैं।

(१) मन्त्रों के चरणों में चरणों की संख्या विविध होती है। उदाहरण के तौर पर गायत्री में पादों की संख्या तीन होती है। और अनुष्टुपों में यह संख्या चार होती है। दोनों के चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं।

गायत्री का उदाहरण—

अग्निमीडे पुरोहितम्, यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥

मन्त्र में तीन पाद हैं। प्रत्येक पाद आठ अक्षरों से बना हुआ है।

अनुष्टुप् का उदाहरण—

ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मागृधः कस्यस्वित् धनम्॥

यह मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में है। इसके चार पाद हैं। प्रत्येक पाद हैं। प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर हैं। अतः पादों की संख्या में विविधता है।

(२) मन्त्रों के चरणों में अक्षर संख्याओं को विविधता।

उष्णिक् में तीन पाद होते हैं। इन तीन पादों में दो पाद आठ-आठ अक्षरों के होते हैं और एक पाद बारह अक्षरों का होता है।

मण्डल ९, सूक्त = १०२, ऋग्वेद। मन्त्र १ उष्णिक्—

क्राणाशिशुर्महीनाम्, हिन्वन ऋतस्य दीधितिम्।
विश्वा परिप्रिया भुवत् अधद्विता॥

पहले दो चरण (क्राणादि और हिन्वनादि) आठ-आठ अक्षरों के हैं। तीसरा चरण विश्वादि वाला बारह अक्षरों का है। मन्त्र में कुल अक्षर ८+८+१२=२८ हैं। मन्त्र उष्णिक् छन्द में है)।

मन्त्र के सब चरण एक समान अक्षरों वाले नहीं है, इसलिये इसके पादों में अक्षर संख्या की विविधता है।

(३) क्रम विविधता – इन चरणों के क्रम में भी विविधता मिलती है। उदाहरण के लिये उष्णिक् को ही ले लीजिये। कभी तो ये १२ अक्षरों वाला चरण पहला होता है। कभी दूसरा और कभी तीसरा। इस क्रम विविधता से मन्त्र के छन्द के नाम में प्रायः परिवर्तन देखा जाता है। यथा पुरस्तात् उष्णिक्। मध्य-उष्णिक और परस्तात् उष्णिक्। यह क्रम विविधता है।

(४) त्रिष्टुप् श्रेणी के छन्द ११ अक्षरों के होते हैं। ये ११ अक्षरों के त्रिष्टुप् वेदों में १२० ही होते हैं। संख्यान प्रत्यय के अनुसार ११ अक्षरों के कुल चरण २११ = २०४८ होते हैं। पर वेदों में ये केवल १२० ही पाये जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वेदों का त्रिष्टुप् केवल १२० प्रकार का होता है।

मन्त्रों में ये चरण आपस में मिले जुले हुए होते हैं। इसे मिश्र चरणता का नाम दिया गया है। उदाहरण—

हिरण्य गर्भः समवर्तताग्रे
। S · S S । । S । S S
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
S S । S S । । S । S S
सदाधार पृथिवीं द्यामुते माम्
। S S । । । S S । S S

इन उपरोक्त चारों चरणों में कोई चरण किसी के साथ नहीं मिलता है। चारों के लघु-गुरु भिन्न-२ है। पहला चरण उपेन्द्र वज्रा छन्द का है। दूसरा चरण इन्द्र वज्रा छन्द का है। ये दोनों चरण भागणी मध्यालय वाले अगला (तीसरा) चरण सरगणी मध्यालय वाला है। और चौथा चरण नागणी मध्यालय से बना हुआ है। मध्यालय पहिले चार अक्षरों के बाद आती है।

यद्यपि ये चारों चरण त्रिष्टुप् के हैं पर तो भी भिन्न-भिन्न त्रिष्टुपों के हैं। लयें सबकी भिन्न-भिन्न है। अतः इस मन्त्र में त्रिष्टुप् अन्तर्वती मिश्रालयी पर दिया है।

यह विविधता आन्तरिक स्वरूप की विविधता है।

(५) छन्द श्रेणी की लयों की विविधता—भी देखने में आती है।

त्रिष्टुप् श्रेणी के छन्दों के चरणों में जगती श्रेणी के छन्दों के चरण मिले हुए होते हैं। त्रिष्टुप् और जगती, दोनों छन्दों की अलग-अलग श्रेणियाँ है। पर इन दोनों श्रेणियों के चरण मिले हुए एक ही मन्त्र में पाये जाते हैं। उदाहरण (श्रेणी मिश्रता)—

य प्राणतो निमिषतोमहित्वा
S S I S I I I S I S S

एक इद् राजा जगतो बभूव
S I S S S I I S I S S

य ईशे अस्य द्विपदश्चतु स्वतः
I S S S S I I S I S I S

कस्मै देवाय हविसा विधेम।
S S S S I I I S I S I

इस मन्त्र के तीन चरण तो त्रिष्टुप् के हैं। पर य ईशे वाला चरण जगत का है। अक्षरों की संख्या से तो आप यही कहेंगे कि मन्त्र के तीसरे चरण में एक अक्षर की अधिकता होने से यह चरण भुरिक् है। पर वास्तविकता यह है कि यह मन्त्र त्रिष्टुप् और जगती छन्दों की मिश्रपादिता का उदाहरण है। यह तीसरा चरण जगती श्रेणी का है इस बात का हमें चरण की अन्त्यालय से एकदम पता लग जाता है। यह लय रलगा (S I S I S) लय है। रेखाङ्कित कर दी गई है। अन्य चरणान्तों यह लय नहीं है।

वेदों के मन्त्रों में (प्रायः) तीन प्रकार के श्रेणी छन्दों के चरण पाये जाते हैं। अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों के। और ये तीनों प्रकार के चरण मन्त्रों के नाना रूपों में मिले हुए मिलते हैं। प्रायः सभी रूपों में मिले हुये मिलते हैं वैदिक अनुष्टुभों, वैदिक त्रिष्टुभों और वैदिक जगतियों की आन्तरिक लयें (आद्या और मध्या) एक समान होती हैं। इसलिये इनका सम्मिलन करने से गाने में कोई अड़चन नहीं आती है।

(६) वेद मन्त्रों में अपूर्णपाद भी पाये जाते हैं। ये मन्त्रों में डाले हुए मिलते हैं। इसके दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

पहला उदाहरण : 'सपर्यगाच्छु क्रमकाय' मन्त्र में जो कि यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में आता है। अपूर्णपाद मिलता है। रेखांकित भाग मन्त्र में एक अपूर्णपाद है।

। S । S S । । S । S । S
सपर्यगाच्छु क्रम कायम ब्रणम्

यह जगती श्रेणी का वंशस्थ चरण है।

अस्नाविरशुद्धम पाप विद्धम्
S S । S S । । S । S S

यह त्रिष्टुप् का इन्द्र व श्री चरण है।

कविर्मनी षी परिभूः स्वयम्भू
। S । S S । । S । S S

यह त्रिष्टुप् श्रेणी का उपेन्द्र व श्री चरण है।

याथात थ्यतो अर्थान्
S S S । । S S

अपूर्ण पाद है। "तो" को द्रवता दूर करने के नियमों के अनुसार लघु अङ्कित किया गा है। यह याथादि चरण एक अपूर्व पाद है। इस अपूर्वपाद में लघु + तगण + और यगण आये हैं।

व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः
। । S S । S S । S S

इस चरण पर से द्रवता का परदा हटा दें। इस चरण को निम्न प्रकार का बनालें।

व्यदधात् शा शु + अ तीभ्यः समाभ्यः
',। S S, । । S, S । S S

निष्कर्ष—१. इस मन्त्र में मिश्र चरणता है तीन त्रिष्टुपी चरणों का सम्मिलन है।

२. इस मन्त्र में श्रेणी मिश्रता भी है। दा श्रेणियां जगती और त्रिष्टुप् श्रेणी के छन्दों के चरणों का सम्मिलन है।

३. इस मन्त्र में सम्पूर्ण पादिता भी है। एक अपूर्व पाद डला हुआ है।

दूसरा उदाहरण—प्रस्तुत करते हैं—

स्तुता मया वरदा वेद माता
। S । S । । S S । S S त्रिष्टुप चरण है।

प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्
।, S, । S S S । S S । S S

यह १२ अक्षरों का चरण है । पर जगतो का नहीं है । त्रिष्टुप् का है । इस बात का निर्णय इस चरण की लयें करती हैं । इसलिए आदि का 'प्र' बढ़ा हुआ है । सो यह चरण भरिक्—त्रिष्टुपी चरण है ।

S S S S । S,
आयुः प्राण प्रजा (मगण + रगण)

यह अपूर्ण पादी चरण है । इसके बाद है—

पशुकीर्तिद्रविणं ब्रह्म वर्चसम् ।
। S S S, । । S, S । S । S

यह जगती का चरण है । यह ३४ बातों की लय वाला जगती छन्द का चरण है । मध्यालय सग को है और अन्त्यालय रलगा है--

मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।
S S S S । । । S । S S

यह त्रिष्टुपी चरण हैं । मध्यालय नगण की है ।

निष्कर्ष—[१] इस मन्त्र में मिश्र चरण का है । तीन त्रिष्टुपी चरण है तीनों भिन्न-भिन्न लयों वाले हैं ।

[२] इस मन्त्र में श्रेणी जगती श्रेणी के चरणों का मेल करवाया गया है । ब्रह्मवर्चसम् वाला चरण जगती श्रेणी का है । रलगा (S । S, ।, S ।) लय में समाप्त होता है ।

[३] अपूर्ण पादिका की है ।

(७) सूक्तों में भिन्न-२ श्रेणी के मन्त्रों की मिश्र मन्त्रिता भी मिलती है । इसका अर्थ यह है कि एक ही सूक्त में अगर सब छन्द जगती के चल रहे हैं तो सूक्त के अन्त के भाग में जगती मन्त्रों का मेल त्रिष्टुपी मन्त्रों के साथ करवा दिया जाता है । उदाहरणार्थ--ऋग्वेद के ९ वें मण्डल के ६८ वें सूक्त को देखें । इसमें ९ मन्त्र तो जगती श्रेणी के हैं । पर दसवां मन्त्र त्रिष्टुप् श्रेणी का है । इस प्रकार इस सूक्त में मैं दो भिन्न-२ श्रेणियों के मन्त्रों का मिश्रण किया गया है । अर्थात् जगतो छन्दों का त्रिष्टुप् श्रेणी के छन्द के साथ त्रिष्टुपी मन्त्र जागती सूक्तों में प्रायः अन्त में पाया जाता है ।

(८) मण्डलों में मिश्र-सुक्तितायें भी मिलती हैं ।

(९) प्रगाथ छन्दों के मन्त्र भी मिलते हैं । दो भिन्न-२ छन्दों वाले मन्त्रों को मिलाकर एक नया मन्त्र बना लिया जाता है तो उसे प्रगाथ छन्द का मन्त्र

कहते हैं। उदाहरण के तौर पर सतोबृहती छन्द को किसी और छन्द के साथ मिलाकर नया छन्द बना लिया जाये तो वह प्रगाथ होगा। प्रगाथ मन्त्र दो भिन्न-२ प्रकार के छन्दों वाले मन्त्रों के मेल म बना हुआ होता है।

किसी मन्त्र को निचृत्, भूरिक् स्वराट् व विराट् नामक न्यूनाधिकता वाला छन्द पुकारने से पहले उस मन्त्र पर से भाजा की प्रवृता का परदा हटा कर निचृत आदि न्यूनाधिकताओं का निर्णय करना चाहिये। ऐसा करने से मन्त्रों के करीबन ८० प्रतिशत चरण इन न्यूनाधिकताओं से रहित हो जाते हैं।

मन्त्रों की लयों से हमें यह निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है कि मन्त्र का छन्द किस श्रेणी का है या किस प्रकार के चरणों से बना हुआ है।

सूक्तों पर जो निचृत् या भुरिक् प्रभृति शब्द मन्त्रों के सम्बन्ध में लिखे हुये होते हैं उन्हें प्रायः विचार पूर्वक नहीं लिखा हुआ होता।

निष्कर्ष—[१] जहां लयें भिन्न-भिन्न होती हैं वहां वह भिन्नता का आन्तरिक रूपता की भिन्नता समझनी चाहिए।

[२] जहां केवल अक्षरों, चरणों, मन्त्रों और सूक्तों का मेल करवाया जाता है उसे बाह्य रूपता की विविधता समझनी चाहिए।

[३] उपर्युक्त सब प्रकार की भिन्न-रूपताओं के मिश्रणों से बने हुये मन्त्र भी मिलते हैं।

मन्त्रों के स्वरूपों को समझने के लिए हमें भिन्न-२ दृष्टियों से उन्हें देखना चाहिए।

१. बाह्य रूप कैसा है?
२. आन्तरिक रूप कैसा है?
३. उनका मिश्रण कैसा है?

मन्त्रों के रूपों को देखने के लिए मन्त्रों पर पड़ा वैदिक भाषा की द्रवता का परदा हटाकर मन्त्रों के स्वरूप का दर्शन करना चाहिए।

जब हम पादपूरणों और मन्त्रों की न्यूनाधिकताओं पर विचार करेंगे तो उस समय भाषा के परदे को हटाने विधि पाठकों को सूचित कर देंगे।

अद्यतन भारते संस्कृतस्य उपयोगिता

श्री बटुक तिवारी
साहित्याचार्यः सम्पूर्णानन्द स०वि० वाराणसी

संस्कृत भाशायां ईदृशः कश्चित् गन्धविशेषो विद्यते येन आमोदिता निखिलापि समग्रा भारतीया संस्कृतिः अपूर्व कश्चित् आमोद विस्तारयति । प्राक्तनकाले भारतराष्ट्रं लघुतरेषु बहुषु खण्डेषु विभक्तमासीत् । राजानः भिन्ना आसन् तथापि अस्याः भाषायाः इदं माहात्म्यम् आसीत् यत् तेषु वैविध्येष्वपि अपूर्वा काचिदासीत् समग्रता ! अद्यापि दृश्यते यत् सीमाप्रदेशेषु राज्यशासनं विभक्तं तिष्ठति, परन्तु भाषायाः सामीप्यं सादृश्यं वा उभयोरपि प्रान्तवर्तिनोः जनसमूहयोः बहुतरं सौमनस्यं प्रतिष्ठापयति । संस्कृतेरैक्यं महती बन्धुत्वभावनां मुखरीकरोति ।

भारतीय संस्कृतेर्मूलभाषा सस्कृतं विद्यते । देशद्रोहभावनया वदतु नाम कश्चित् संस्कृतस्य विपरीतं, परन्तु ये राष्ट्रीय स्निहान्ति भारतीय संस्कृतये स्पृहयन्ति, भारतीय समृद्धये दत्तावधानाः सन्तिः, ते सर्वे संस्कृताय विपरीतं न वदन्ति । इयं सा भाषा या विखण्डितापि अखण्डार्थं बोधयति । यस्याः प्रत्ययाः प्रकृतयः स्वराः अमेपि कञ्चित अर्थविशेषं प्रतिपादयन्ति । यस्याः शब्देषु जातिवाचकानां गुणवाचकानां क्रियावाचकानां च शब्दानां साधर्म्यं विद्यते । यदृच्छावाचकानां शब्दानाम् अन्तिमं स्थानं विद्यते । यदीयाः शब्दा गौरवमयं भारतीयम् अतीतं बोधयन्ति । प्रसूतां भौगौलिकीं स्थितिं संकेतयन्ति । यदीयाः भावविशेषाः विकीर्णानि जनमनांसि मधुरं ग्रन्थ्नन्ति । यत्रत्याः स्वरविशेषाः चमत्काराञ्चितां रमणीयतां कञ्चित् निरवरोधं धारयन्ति । सा भाषा अद्यतन भारते नूनं कस्मैश्चत् लोकोत्तर-कल्याणाय भूयसे, क्षेमाय च विद्यते इत्यत्र न कश्चन संदेहः ।

अद्यतन भारतस्य का स्थितिः यदि कश्चित् पृच्छति; का राष्ट्रभाषा अस्य देशस्य ? तदा उच्यते हिन्दी इति; किमियं हिन्दी ऊरीक्रियते समग्रेण देशेन वा किमिय राष्ट्रभाषात्वेन वर्तते कार्यान्विता? उत्तरमस्ति नितरां निषेधम् ।

आङ्लभाषा अद्यापि राष्ट्रभाषायाः सम्मानमयमानन्दं भजते, किन्तु वैदेशिक-भाषात्वेन सा चापि नास्ति विप्रतिपत्तिशून्या। स्थितावस्यां संस्कृतभाषा एव एका ईदृशी यागविद्यते थया प्रत्याख्यातुं शक्यते राष्ट्रस्य विच्छेदंभावना भाषा गतेन वैशिष्ट्येन राष्ट्रे अखण्डत्वभावनां द्रढयितुं इयमेव भाषा औषधिस्थानम्।

यस्य राष्ट्रस्य संकृतिः विच्छिन्ना, यस्य व राष्ट्रस्य भाषा विच्छिन्ना, तस्य, राष्ट्रस्य अखण्डता नूनं संशयःदवीं अधिरोक्ष्यति। संस्कृतं भारतीय संस्कृतेः। भाषा अस्ति। उपेक्षिते संस्कृते संस्कृतिरपि उपेक्षिता भविष्यति। उपेक्षितायां संस्कृतौ राष्ट्रीय-भावना दौर्बल्यम् आयम्बते।

अद्यापि पश्यन्तुतमां यत्र संस्कृत नाधीयते, संस्कृत-प्रचारो वा तनीयान् विद्यते, तत्र विखण्डनस्य भावना उदग्रनां गच्छति। अरुणाञ्चले, नागालैंडे, कश्मिरे अन्यत्रापि च सैव दशा विद्यते। यस्मिन-यस्मिन् प्रदेशे संस्कृतं वैकल्पिको विषयः तत्र-तत्र राष्ट्रीय भावनापि विकल्पतां गच्छति। राज्यानां ते सर्वेपि मुख्यमन्त्रिणः राष्ट्र द्रोहिणः सन्ति, ये संस्कृत विकल्पकोटौ समानयन्ति। इदं निश्चयेन विदन्तु यत् अरक्षितै संस्कृते राष्ट्रं अरक्षितं भवति। वीथ्यां-वीथ्यां या विखण्डन भावना नग्न नृत्यति तत्र सर्वत्र संस्कृतभावनायाः दुर्बलतैव हेतुः। एषा द्रढीयसो वतते उपयोगिता अद्यतन भारते संस्कृतस्य।

नोट—सूर्योदय से साभार।

दीक्षान्त समारोह के समय शोभा यात्रा का एक दृश्य।

नवस्नातक और अधिकारीगण दीक्षान्त यज्ञ करते हुये।

गुरुकुल-समाचार

—छात्र सम्पादक

वार्षिक उत्सव—गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का ८६ वां वार्षिकोत्सव ६-४-८६ से आरम्भ हुआ। उत्सव का आरम्भ यजुर्वेद पारायण यज्ञ से हुआ। यज्ञ के ब्रह्म आचार्य श्यामसुन्दर स्नातक (अफ्रीका वाले) थे। आपने वेद-मन्त्रों की मनोरम व्याख्या से जनता को आध्यात्मिक गंगा में स्नान कराया। यज्ञ के संयोजक डा० हरिप्रकाश जी थे।

इस उत्सव में शिक्षा, संस्कृति, वेद, स्नातक आदि सम्मेलनों का आयोजन किया गया। इन सम्मेलनों में स्वामी ओमानन्द जी, श्री रामगोपाल शालवाले, डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, प्रोफेसर शेरसिंह, श्री सत्यदेव भारद्वाज (केनिया वाले) आचार्य प्रियव्रत वेदमार्तण्ड, आचार्य रामनाथ वेदालंकार, श्री क्षितीश कुमार वेदालंकार आदि विद्वानों ने अपने विद्वत्तापूर्ण एवं ओजस्वी व्याख्यान दिये।

दीक्षान्त— १२ अप्रैल ८६ को विश्वविद्यालय का दीक्षान्त-समारोह सम्पन्न हुआ। डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार परिद्रष्टा विश्वविद्यालय इस समारोह के मुख्य अतिथि थे। आपने अपने दीक्षान्त भाषण में नवस्नातकों को उद्‌बोधन करते हुये कहा कि संसार एक दुर्गम मार्ग है, इस में सफल होने के लिये अत्यधिक दृढ़ संकल्प और परिश्रम करने की आवश्यकता है। श्रुति का यह वचन "चरैवेति चरैवेति" तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करेगा। प्रो० आर० सी० शर्मा कुलपति महोदय ने मुख्य अतिथि का स्वागत किया तथा विश्वविद्यालय की वार्षिक प्रगति से समस्त जनता को अवगत कराया। आपने नवस्नातकों को उपाधि प्रदान की। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार कुलाधिपति महोदय ने भी नवस्नातकों को आशीर्वाद प्रदान किया।

आचार्य प्रियव्रत वेदमार्तण्ड का सम्मान—संघड़ विद्या-ट्रस्ट जयपुर की ओर से वैदिक विद्वान आचार्य प्रियव्रत पूर्वकुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्व-

विद्यालय को सम्मानित किया गया। सम्मान स्वरूप उनको एक हजार रुपये और शाल भेंट किया गया। मान्य श्री आचार्य जी वेदों के उद्भट्ट विद्वान हैं। उनकी दर्जनों पुस्तकें वेदों, विभिन्न विषयों पर उपलब्ध हैं। 'वेदों में राजनीतिक सिद्धान्त" वैदिक साहित्य की एक अमूल्य निधि है।

यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त ट्रस्ट प्रति वर्ष एक वैदिक विद्वान् को सम्मानित करता है। इस क्रम में प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार उप-कुलपति, डॉ० भवानीलाल भारतीय, पं०विश्वनाथ वेदवाचस्पति और पं० भगवद्दत्तवेदालंकार आदि विद्वान सम्मानित किये जा चुके हैं।

यह ट्रस्ट पूर्व कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा जी के पूज्य पिता जी द्वारा स्थापित किया गया था।

पुस्तक विमोचन—इस वर्ष उत्सव के स्नातक सम्मेलन में 'स्वामी श्रद्धानन्द विलक्षण व्यक्तित्व' नामक बृहद्ग्रन्थ का विमोचन किया गया। यह ग्रन्थ स्वामी श्रद्धानन्द जी के सर्वांगीण व्यक्तित्व पर शोध ग्रन्थ के रूप में है। इस ग्रन्थ के लेखक डॉ०निरूपण विद्यालंकार आचार्य गुरुकुल विद्यालय-विभाग हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में विश्वविद्यालय ने भी आर्थिक सहायता प्रदान की है। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्यसमाज और आर्य-शिक्षण संस्थाओं के पुस्तकालयों में रखना चाहिये।

दीक्षान्त समारोह का संयोजन प्रो० वीरेन्द्र अरोड़ा कुलसचिव महोदय ने सफलतापूर्वक किया।

गुरुकुल पत्रिका

गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालयस्य मासिकी पत्रिका

७
२०४१, जून १६८६
पूर्णाङ्क : ३७९

सम्पादक :
डा०

सम्पादक-मण्डल

प्रधान संरक्षक :
प्रो० आर० सी० शर्मा
कुलपति

संरक्षक :
प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
उपकुलपति

परामर्शदाता :
डॉ० विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग

सह-सम्पादक :
डॉ० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता, दर्शन-विभाग

छात्र-सम्पादक :
श्री दुधपुरी गोस्वामी
एम० ए० द्वितीय वर्ष
दर्शन-विभाग

मूल्य :
२५.०० रुपये वार्षिक

प्रकाशक :
प्रो० वीरेन्द्र अरोड़ा
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक :
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी मुद्रणालय, हरिद्वार।

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालस्य मासिकी-पत्रिका]

सम्पादक

डॉ० जयदेव वेदालंकार

न्यायाचार्य, पी-एच०डी०, डी० लिट्०

रीडर-अध्यक्ष, दर्शन-विभाग

प्रकाशक

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

[मूल्य : ५.०० रुपये

❀ विषय-सूची ❀

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालयस्य मासिकी-पत्रिका]

आषाढ़ : २०४१
जून : १९८६

वर्ष : ३७

अङ्क : ८
पूर्णाङ्क : ३७९

वेदों में क्या है ?

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधाऽअसि।
परमेण धाम्ना दृँहस्वमा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥ (यजु० अ.१,मं.२) ॥

देवता—यज्ञः । ऋषि–परमेष्ठी प्रजापतिः । छन्द–स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् ।

विषय—यज्ञों के द्वारा पर्यावरण शुद्ध करने की प्रेरणा, इस मन्त्र में दी गई है।

पदार्थ—हे विद्या युक्त मनुष्य ! तू जो (वसोः) यज्ञ (पवित्रम्) शुद्धि का हेतु (असि) है (द्यौः) जो विज्ञान के प्रकाश का हेतु और सूर्य की किरणों में स्थिर होने वाला (असि) है। जो (पृथ्वी) वायु के साथ देश-देशान्तरों में फैलाने वाला (असि) है। जो (मातरिश्वनः) वायु के (घर्मः) शुद्ध करने वाला (असि) है। जो (विश्वधाः) संसार का

धारण करने वाला (असि) है। तथा जो (परमेण) उत्तम (धाम्ना) स्थान से (दृँ्हस्त) सुख का बढ़ाने वाला है। इस यज्ञ वा (मा) मत (ह्वा) त्याग कर तथा (ते) तेरा (यज्ञपतिः) यज्ञ की रक्षा करने वाला यजमान भी उसको (मा) न (ह्वर्षीत्) त्यागे। धात्वर्थ के अभिप्राय से यज्ञ शब्द का अर्थ तीन प्रकार का होता है अर्थात् जो इस लोक और परलोक सुख के लिए विद्या और धर्म के सेवन से वृद्ध अर्थात् बड़े-२ विद्वान् हैं। उनका सत्कार करना। दूसरा अच्छी प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान में शिल्प विद्या का प्रत्यक्ष करना और तीसरा नित्य विद्वानों का समागम अथवा शुभगुण विद्यासुख धर्म और सत्य का नित्यदान करना चाहिए।

भावार्थ—मनुष्य अपनी विद्या और उत्तम क्रिया से जिस यज्ञ का सेवन करते हैं, उससे पवित्रता का प्रकाश, पृथ्वी का राज्य, वायुरूपी प्राण के तुल्य राजनीति, प्रताप, सब की रक्षा, इस लोक और परलोक में सुख की वृद्धि परस्पर कोमलता से वर्तना और कुटिलता का त्याग इत्यादि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं, इसलिये सभी मनुष्यों को परोपकार तथा अपने सुख के लिये विद्या और पुरुषार्थ के साथ प्रीतिपूर्वक यज्ञ अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये।

—ऋषि दयानन्द

—:o:—

सम्पादकीय—

पंजाब समस्या और आतंकवाद

पंजाव समस्या विचित्र मोड़ लेती जा रही है। कई बार ऐसा लगता है कि यह कोई राजनैतिक या प्रान्त की समस्या न होकर, केवल राष्ट्र विभाजन का एक गहरा षड्यन्त्र है। यह तो सभी एक स्वर मे मानते हैं कि किसी भी प्रान्त की कोई समस्या हो सकती है ? उसका सम्बन्ध सीमावर्ती प्रान्तों से भी हो सकता है।

पंजाब की सीमा निर्धारण या चण्डीगढ़ को लेने देने की समस्या का आधार सही भी हो सकता है या गलत भी हो सकता है। इस प्रकार की समस्या विश्व के सभी देशों और उनके प्रान्तों में हुआ ही करती है।

प्रस्तुत प्रसंग में सबसे अधिक दुःखद स्थिति यह है कि पंजाब के एक वर्ग के लोगों का शिकार कर रहे हैं। किसी भी पंजाब के रहने वाले हिन्दू को चण्डीगढ़ के मिलने पर उतनी ही प्रसन्नता होगी जितनी कि किसी भी अति-वादी सिख को होगी।

<u>ये मौत के उड़न दस्ते</u>—आज प्रात:काल समाचार पत्र में यह सबसे उत्सुकता पूर्ण समाचार होता है कि कितने हिन्दु लोग सिख आतंकवादियों ने मारे हैं ? ये मौत के उड़न दस्ते किसके घर पर जाकर मौत का पैगाम देने पहुंच जायें ? यह कोई भी नहीं जान सकता है। मरने वाले का सम्बन्ध किसी भी समस्या से हो या नहीं, इसका मारने से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मारना, मारने के लिये है, आतंक के लिए है, मरते हुये देखना और लाश पर शराब पीकर, नाचना और समाचार पत्रों के मुख्य पृष्ठ पर समाचार छपना आदि कोई भी उद्देश्य हो सकता है।

यह सभी मानते हैं कि चण्डीगढ़ की समस्या और आतंकवादियों द्वारा निर्दोष लोगों की क्रूर हत्यायें, इन दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी कोई भी कूटनीतिज्ञ इन दोनों समस्याओं को अलग-अलग देखने में असमर्थ प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि एक बेकार सिख युवक को एक बढ़िया मोटर साईकिल दी जाती है और एक की हत्या करने पर बीस हजार रुपये नकद दिये जाते हैं। कुछ वे युवक भी हो सकते हैं जो सिख धर्म के प्रति भावुक या अधिक संवेदनशील होते हैं उन की भावुकता को बलिदान की भावना में बदल कर, उनको फंसाया जाता है, उन्हें सिख होमलैण्ड बन जाने पर शहीदी दर्जा दिया जायेगा, उनकी जय-जय की जायेगी आदि भावना से उनका मस्तिष्क ओत-प्रोत कर दिया जाता है। वे युवक भी इस नरसंहार में सम्मिलित होते हैं, वे अबोध युवक यह भूल जाते हैं कि तुम्हें देश द्रोही बनाकर देश को गहरे खतरे में डाला जा रहा है। ऐसे युवकों की संख्या बहुत कम है यदि वे इस देश द्रोह के प्रति सचेत होते हैं तो उन्हें तुरन्त गोली का शिकार बनाकर मौत के घाट उतार दिया जाता है। वास्तव में ऐसा लगता है, जो लोग सचमुच सिख होमलैण्ड की मांग कर रहे हैं, इस नरसंहार का सूत्र उन के हाथ में भी है। कुछ लोगों का यह भी मत है कि इस समस्या के पीछे यह सब तो है ही, इस के साथ ही पाकिस्तान का प्रतिशोध भी सबसे अधिक काम कर रहा है। पाकिस्तान की जनता और सरकार की स्पष्ट मान्यता है कि पाकिस्तान के दो टुकड़े बंगला देश और पाकिस्तान भारत ने किये हैं। जब यह बात उनके दिमाग में एकदम स्पष्ट है और इस में बहुत कुछ सचाई भी हो सकती है तो पाकिस्तान का नरसंहार कराना उसके देश की दृष्टि में एक मनोवैज्ञानिक सचाई है। यदि दोष है तो केवल हमारा और हमारी सरकार का है वह पाकिस्तान से यह आशा करती है कि वह प्रतिशोध नहीं लेगा, बल्कि हमारा मित्र देश बन सकता है। जब हम समाचार पत्रों में यह पढ़ते हैं कि भारत सरकार लाहौर के अतिरिक्त और भी पाकिस्तान को रेल मार्ग द्वारा जोड़ना चाहती है तो उस समय ऐसा लगता है कि यह वही गलती दोहराई जा रही है जो पृथ्वीराज चौहान ने कई सौ वर्ष पहले की थी। भारत और पाकिस्तान को अनेक रेल मार्गों से जोड़ने का मतलब है कि "आ बैल मुझे मार" इससे देश में अस्थिरता फैलेगी। सैकड़ों देशके शत्रु अनेक रूपों में देश के अन्दर आ जायेंगे। वास्तव में अस्सी प्रतिशत पंजाब के आतंकवाद को समाप्त करने का उपाय है पाकिस्तान से एक दम सम्बन्ध

विच्छेद करने की घोषणा करना । कहीं से भी किसी भी प्रकार से कोई भी पाकिस्तानी नागरिक का भारत में प्रवेश पूर्णतः निषिद्ध होना चाहिए । पूरी सीमा को बन्द कर के सेना को यह आदेश होना चाहिए कि किसी भी भारत से जाने वाले और पाकिस्तान से भारत में प्रवेश करने वाले व्यक्ति को देखते ही गोली मार दो" । इससे अनेक प्रकार के लाभ तुरन्त होंगे । पाकिस्तान से अस्त्र-शस्त्र आने रुकेंगे । अवैध हथियार बनाने के कारखानों का पंजाब में जाल बिछ गया है, वह समाप्त हो जायेगा इलाहाबाद, कानपुर, मुरादाबाद हैदराबाद और अहमदाबाद के साम्प्रदायिक दगे समाप्त हो जायेंगे । जब सेना में सदा सतर्कता बनी रहेगी तो हमारी सेना का युद्ध अभ्यास रहेगा मौका आने पर वह देश सुरक्षा करने में पूर्णतः समर्थ होगी । अतः देश की बहुत समस्याओं का निराकरण है, पाकिस्तान से सभी प्रकार के सम्बन्ध समाप्त करना । पाकिस्तान को पूर्ण शत्रु घोषित किया जाय । यदि सरकार या यहां की जनता ऐसा करने या करवाने में असमर्थ है तो ये मौत के दस्ते कभी भी किसी के भी दरवाजे आ सकते हैं । चाहे वह प्रधान मन्त्री का हो दरवाजा क्यों न हो ।

एक साधारण सिख से लेकर पंजाब के मुख्यमन्त्री को यह शिकायत है कि सुरक्षाबल या अन्य लोग आम सिख नागरिक को सन्देह आतंकवादी की दृष्टि से देखा जाता है । वास्तव में यह भी एक खतरनाक बात है कि हम एक व्यापारी सिख या देश भक्त नागरिक सभी सिखों को सन्देह की दृष्टि से देखें । यह भावना भी उतनी ही खतरनाक है जितनी कि आतंकवादी होना ।

इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का मत है कि इसके पीछे एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है । वह तथ्य है कि एक आतंकवादी सिख पर एक सिख पुलिस सिपाही की गोली तत्परता से क्यों नहीं चलती ? क्या पंजाब के गांवों में जहां पर सिख समुदाय का स्पष्ट बहुमत है, वहां पर यदि सिखों को मारा जाता तो वे क्या करते ? वह अब क्यों नहीं करते हैं ? उन सब आतंकवादियों को अपनी तलवार और कृपाण का शिकार क्यों नहीं बनाते । क्या वे आतंकवादी युवक आकर उनके घरों में पनाह नहीं लेते ? यदि लेते हैं तो उन्हें क्यों नहीं देश द्रोही के रूप में देखा जाता । जब कोई आतंकवादी मारा जाता है तो उसके लिए गुरुद्वारों में प्रार्थना नहीं की जाती ? ये माना कि बहुत बड़ी संख्या में सिखों का आतंकवादियों से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु उपर्युक्त प्रश्न कुछ

प्रश्नवाचक चिन्ह अवश्य छोड़ जाते हैं, जो उनपर सन्देह का कारण बनते हैं। पंजाब में निर्दोष हिन्दुओं की हत्या का मुकाबला सिख युवकों को सामने आकर करना चाहिए।

वास्तव में भारत सरकार को इस समस्या का मुकाबला युद्ध स्तर पर करना चाहिए।

पजाब में राष्ट्रपतिशासन तुरन्त लागू कर देना चाहिये। यदि सरकार और भारतीय जनता समय रहते सचेत नहीं हुई तो देश शीघ्र ही गृह युद्ध की स्थिति में चला चायेगा। पंजाब से बाहर का सिख समुदाय द्वारा हुआ है उसके पास छोटे बड़े सभी प्रकार के हथियार पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। वह डर कर किसी भी समय हिंसा पर उतारू हो सकता है।

आर्य भारत के आदिवासी (मूल निवासी) हैं

स्वामी वेदमुनि परिव्राजक
अध्यक्ष–वैदिक संस्थान नजीबाबाद (उ०प्र०)

पराधीनता के युग में—जब भारत पर अंग्रेजों का शासन था तो उन्होंने दीर्घकाल तक भारत पर शासन करने की दृष्टि से भारत के इतिहास और उसकी संस्कृति को मिटाने के लिए योजनाबद्ध कार्य आरम्भ किया।

एक ओर तो लार्ड मैकाले की योजनानुसार एक शिक्षा पद्धति भारत में प्रारम्भ की, जो अभी तक चल रही है, जिसका उद्देश्य भारत में अंग्रेजी राज्य के लिये लिपिक तैयार करना था। दूसरे उस शिक्षा-पद्धति में पढ़ाये जाने के लिए भारतीय इतिहास के नाम पर भारतीय इतिहास से नितान्त असम्बद्ध तथा भारतीय इतिहास विरोधी स्व-कल्पित इतिहास लिखवा कर भारतीयों को पढ़ाना प्रारम्भ किया, जिससे भारतीय अपने इतिहास से प्राप्त होने वाले अतीत गौरव को भूल जायें।

दूसरा कार्य अंग्रेजों ने भारतीय संस्कृति को मिटाने का प्रारम्भ किया और इस कार्य के लिए जर्मन अध्यापक मैक्समूलर को इंग्लैंड में बुलाकर उससे भारतीय संस्कृति के मूलाधार वेदों के भ्रष्ट अर्थ कराने प्रारम्भ किये। अंग्रेज यह समझते थे कि इस कार्य से भारतीयों के मन में वेद के प्रति घृणा उत्पन्न कर के तथा तत्पश्चात् भारतीयों को ईसाई-मत के रंग में रग कर ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में स्थायी किया जा सकेगा।

किन्तु खेद तो यह है कि अंग्रेजों के चले जाने के पश्चात् तीन दशाब्दि बीत जाने पर भी अभी तक भारतीयों को वही शिक्षा मिल रही है और इतिहास के नाम पर वही कुछ पढ़ाना पड़ रहा है, जिसके परिणामस्वरूप इस शिक्षा और इतिहास से अनुप्राणित भारत के वर्तमान तथा कथित इसिहास वेत्ता अभी भी भारत को आर्यों का आदि देश और आर्यों को भारतके मूल निवासी मानने को तैयार नहीं। यह लोग इतने कूप-मण्डूक हो गये हैं कि इन की

यह कूप-मण्डूकता दुराग्रहका रूपधारण कर चुकी है। इतना दुराग्रह कि भारतीय पक्षको सुनने उसके प्रमाण जान लेने के पश्चात् निरुत्तर होकर भी बिना किसी तर्क और प्रमाणके अपनी बात पर अड़े रहते हैं। यह निकृष्ट कोटिकी हठवादिता और दुराग्रह है। इससे जहां यह लोग जानपूछकर स्व-इतिहास से अनभिज्ञ रहना चाहते हैं, वहां भावी सन्ततियों को भारतीय इतिहास और संस्कृति से अनभिज्ञ रखने के दुष्प्रयास में लिप्त रह कर जाति को पतन और विनाश के गर्त्त में धकेलने का पाप भी करते हैं।

हमारा कहना यह है कि आर्य भारत के मूल निवासी हैं। आर्यों के यहां के मूल निवासी होने के कारण ही इस देश का सबसे पहला नाम आर्यावर्त्त है। यदि आर्य कहीं बाहर से यहां आये होते और उनके आने से इस देश का नाम आर्यावर्त्त होता तो आर्यों के आने से पहले कोई अन्य नाम होना चाहिए था। परन्तु तथ्य यह है कि आर्यावर्त्त से पहले इस देश का कोई दूसरा नाम नहीं था।

समस्त भूगोल में कोई भी भूखण्ड ऐसा नहीं है कि जहां पर मनुष्य रहते हों और उसका कोई नाम न हो। मनुष्य की रहने की बात छोड़िये, यदि किसी ऐसे भूखण्ड का मानव को पता लग जाता है कि जिस पर मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी आदि भी न पाये जाते हों तो वह उसका भी कोई नाम रख लेता है। फिर यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि इस भूखण्ड में आर्यों से पहले मनुष्यों की एक बड़ी संख्या निवास करती थी किन्तु इतने पर भी इसका कोई नाम नहीं था। क्या यह इतिहास और भूगोल दोनों के साथ उन्हें स्वीकार न करने का मिथ्या व्यवहार नहीं है? तथा क्या यह इतिहास और भूगोल को न समझने की अल्प बुद्धि तथा ऐतिहासिक और भौगोलिक अयोग्यता का प्रमाण नहीं है?

एक और बात यह है कि यह देश आर्यों का आदि देश तो है ही—साथ ही आर्यों का केन्द्र भी है। यह इतिहास की सत्यता भी आर्य शब्द में ही निहित है। आर्य + आवर्त्त अर्थात् आर्यों का केन्द्र। इससे यह सिद्ध होता है कि न केवल यह देश आर्यों का आदि देश ही है अपितु आर्यों का केन्द्र भी यही है। इसी भूखण्ड से आर्य लोग भूगोल के अन्य भागों में आकर बसे और

कालान्तर में जलवायु के प्रभाव तथा स्वमूल आर्यावर्त्त से दूर हो जाने तथा दीर्घकाल बीतने पर आर्य परम्परा से विछिन्न हो जाने पर विविध जातियों में विभक्त हो गये।

वास्तविकता यह है कि भारत आर्यों का आदि देश है और आर्य यहां के मूल निवासी हैं तथा द्रविड़, कौल, किरात, शक, यवन, कम्बोज आदि उसी आर्यों के क्षत्रिय वर्ण में से हैं और खान-पान, आचार-विचार आदि से भ्रष्ट हो जाने के कारण यह सब लोग अलग-अलग वर्गों में विभाजित हो गये तथा पृथक् पृथक् नामों से पुकारे जाने लगे।

यह पश्चिमी दृष्टिकोण के इतिहासज सिन्धु घाटी की सभ्यता को आर्यों से प्राचीन कालीन बताते हैं। इनका कहना है कि आर्यों ने आकर सिन्धु-सभ्यता को विनष्ट किया। यह भी कहते हैं कि सिन्धु-सभ्यता पांच सहर्ष वर्ष पुरानी हैं। स्वर्गीय डा० सम्पूर्णानन्द के अनुसार वेदों का समय अठारह सहस्त्र वर्ष पुराना है। यदि सिन्धु-सभ्यता को पांच सहस्र वर्ष पुराना मान भी लिया जाये तो भी आर्य-सभ्यता तथा कथित सिन्धु-सभ्यता से तेरह सहस्र वर्ष पुरानी सिद्ध होती हैं। दूसरी ओर इस समय ईस्वी सन् १६८६ में कलि सवत् ५०८६ चल रहा है अर्थात् महाभारत को जो कि कलियुग के प्रारम्भ से पहले और द्वापर के अन्त में हुआ था, कम से कम ५१०० वर्ष बीत रहे हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत युद्ध सिन्धु-सभ्यता से कम से कम एक शताब्दि पूर्व अवश्य हुआ था। महाभारत आर्य इतिहास है। यह न तो सिन्धु घाटी की सभ्यता का इतिहास है और न द्रविड-इतिहास।

सिन्धु घाटी की खुदाई में जो सील मोहरें मिली हैं, उनमें से एक सील पर एक वृक्ष का चित्र है। उस पर दो पक्षी चित्रित हैं। एक उस वृक्ष के फलों को खा रहा है और दूसरा उसे (खाते हुये को) देख रहा है, स्वयं खा नहीं रहा। इस सील के चित्र का आधार ऋग्वेद का वह मन्त्र है, जिसमें प्रकृति को वृक्ष मानकर उस पर जीवात्मा और परमात्मा को पक्षी-रूप में वर्णित किया है और इस प्रकार यह दिखाया गया है कि जीव प्रकृति के बने हुए पदार्थों को भोगता है और परमात्मा केवल उसका दृष्टा है। मन्त्र इसप्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
॥ ऋ० १।१६४ २०॥

यह सील यह सिद्ध करने को पर्याप्त है कि आर्य-सभ्यता सिन्धु-सभ्यता से पुरानी है। यदि यह मान लिया जाये कि सिन्धु घाटी के लोग इस मुहर का प्रयोग करते थे, यह उन्हीं की मुहर है तो यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु-सभ्यता आर्य सभ्यता का उत्तर कालीन रूप मात्र है।

एक और बात ध्यान देने की यह है कि उक्त खुदाई में शिवलिङ्ग पाये गये हैं। हिन्दुओं अर्थात् वैदिक आर्यों को छोड़कर शिवलिंग पूजा अन्यत्र कहीं नहीं होती। इससे भी यही सिद्ध होता है कि सिन्धु-घाटी वासी आर्यों से पृथक् कोई अन्य जाति नहीं थी।

यह भी ध्यान देने को बात है कि वैदिक आर्यों से मूर्ति-पूजा जैनियों से चली है, इससे पहले आर्य लोग मूर्ति-पूजक नहीं थे। आचार्य शंकर ने अनीश्वरवादी जैनियों की नंगी मूर्तियों की ओर से तात्कालिक सर्वसाधारण जनता का ध्यान हटाने और वैदिक धर्म के ईश्वरवाद की ओर लाने के लिए श्रृंगारमय लक्ष्मीनारायण की मूर्तियों का प्रचलन कराया था। तत्पश्चात् वही विविध मूर्तियों की पूजा के रूप में प्रवलित होती गयी। स्मरण रहे कि जैनमत केवल २५०० वर्ष का है और शंकराचार्य का प्रादुर्भाव तब हुआ, जब जैनमत बड़े वेग के साथ भारत में फैल रहा था। सिन्धु-घाटी की खुदाई में शिवलिंग का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि सिन्धु-सभ्यता २५०० वर्ष से भी अर्वाचीन ही हैं, प्राचीन नहीं। इसप्रकार महाभारत इस तथाकथित सिन्धु-सभ्यता से न्यूनाधिक लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है।

डा० फतहसिंह का मत है कि सिन्धु सभ्यता उपनिषद् कालीन है। उपनिषदें वेद से बाद की हैं। उपनिषदों में सबसे पहली ईशोपनिषद् थोड़े से रूपान्तर के साथ यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय ही हैं। इससे भी आर्य-सभ्यता सिन्धु-सभ्यता से बहुत प्राचीन सिद्ध होती है।

महामहोपाध्याय श्री पण्डित सदाशिव शास्त्री के मत में महाभारत युद्ध पश्चात् भारतीय सभ्यता ह्रासोन्मुख हुई। सिन्धु-घाटी से प्राप्त अवशेष इसी विनष्ट वैदिक सभ्यता के चिह्न हैं।

आधुनिक युग-प्रवर्तक तथा उन्नीसवीं शताब्दि के अद्वितीय वैदिक विद्वान् महर्षि दयानन्द सरस्वती के शब्दों में महाभारत युद्ध से एक सहस्र वर्ष पूर्व ही भारत में बिगाड़ पैदा हो गया था। इसका अर्थ है कि महर्षि छः सहस्र वर्ष

पूर्व ही अर्थात् ईशा से कम से कम सवा चार सहस्र —४२५० वर्ष पूर्व आर्य-सभ्यता में विकृति आना स्वीकार करते हैं। यह बात महर्षि ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश में लिखी है। इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण १८७५ ई० में प्रकाशित हुआ था अब १९८६ ई० में इसे प्रकाशित हुए एक सौ ग्यारह—१११ वर्ष की अवधि बीत रही है। इस प्रमाण से भी आर्य-सभ्यता उक्त तथाकथित सिन्धु-सभ्यता से बहुत पुरानी है।

इन्हीं महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में युधिष्ठिर से यशपाल पर्यन्त ४१५७ वर्ष राज्य करने वाले राजाओं की क्रमवद्ध सूची दी है। यशपाल पृथ्वीराज चौहान की पांचवीं पीढ़ी में वर्णित है। पृथ्वीराज को अब लगभग एक सहस्र वर्ष का काल वीत रहा है। इसप्रकार महाभारत पांच सहस्र वर्ष से अधिक सिद्ध होता है। रामायण युद्ध जो महाभारत से पहले हो चुका है, उसे एक करोड़ इक्यासी लाख उनन्चास सहस्र छियासी— १,८१,४९,०८६ वर्ष बीम रहे हैं। इसमें वायुपुराण उत्तरार्द्ध नोवां अध्याय का अड़तालीसवां श्लोक प्रमाणस्वरूप उद्घृत है।

त्रेतायुगे चतुर्विशे रावणस्तपसः क्षयात्।
रामं दशरथं प्राप्य सगणः क्षयमीमिवान्॥

अर्थात् २४ वें त्रेता युग में जब रावण का सामर्थ्य क्षीण हुआ तो वह दशरथ के राम को प्राप्य होकर उसके द्वारा परिवार व बन्धु-बान्धओं सहित विनष्ट हो गया।

लेख का क्लेवर बढ़ाना हमें अभिप्रेत नहीं है, अन्यथा यदि रामायण से आगे वर्णन किया जाये तो आदि सृष्टि तक ही आर्य-सभ्यता का इतिहास पहुंचेगा। हमारा उद्देश्य इस लेख में केवल यह सिद्ध करना था कि सिन्धु-सभ्यता यदि कोई थी तो वह अर्वाचीन ही थी और भारत के मूल निवासी आर्य ही हैं, कोई अन्य जाति नहीं। सत्यता तो यह है कि आर्यों से पहले संसार में कोई अन्य जाति थी ही नहीं। आर्य जाति ही विश्व की सर्व प्रथम, सबसे प्राचीन और आदि कालीन मानव जाति है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता नाम को कोई सभ्यता कभी नही थी। कहीं किसी खुदाई में किसी समय के अवशेष निकल आने से किसी ऐतिहासिक तथ्य की कोई विशेष उपलब्धि नहीं

कही जा सकती। किसी स्थान विशेष पर किसी बस्ती के खण्डहर कुछ क्षेत्रीय वस्तुओं तथा खण्डहर होने से पूर्व की ऐतिहासिक वस्तु की प्राप्ति का साधन भले हो बन जाये किन्तु किसी जाति विशेष के इतिहास वर्णन का साधन सिद्ध हो, यह कल्पना मिथ्या है और केवल आर्य जाति को अर्वाचीन तथा भारत में आक्रान्ता सिद्ध करने और स्वयं को इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान दिलाने के लिए योरोप निवासियों का कपोल कल्पना पर आधारित इतिहास निर्माण का मिथ्या और असफल प्रयास है।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं अन्य समस्त भारतवासी भी आर्यसन्तान ही हैं और कालान्तर में आर्य लोग देशाटन, पर्यटन और व्यवसाय आदि की दृष्टि से भूखण्ड के अन्य क्षेत्रों में गये तथा उनमें से बहुत से लोग वहीं बस गये। देश-काल की परिस्थितियों से उनके आचार-विचार और खान-पान में में परिवर्तन हुआ। वही आर्य सन्तानें विविध नामों से पृथक्-पृथक् जातियों के रूप में विभक्त हो गयीं और उन्हीं में से कुछ लोग पुनः भारत आये, जो इतिहास में यवन-तुर्क आदि नामों से जाने जाते हैं।

अन्त में आर्य जाति की प्राचीनता के प्रमाण में हम आर्य परिवारों में विवाह आदि संस्कारों के अवसरों पर पुरोहितों द्वारा उच्चारण किया जाने वाला संकल्प-सूत्र देकर इस लेख को समाप्त करते हैं। यह संकल्प आर्य इतिहास को लगभग दो अरब वर्ष का बताता है, जो मानव जाति की आयु का प्राचीनतम इतिहास है।

प्रागेतिहासिक काल की कल्पना करने वाले और आर्य जाति को इतिहास विज्ञान से अनभिज्ञ कहने वाले और आर्य जाति को इतिहास-विदाभास जन इस सूत्र को ध्यानपूर्वक पढ़े और मनन करे तथा यदि उनमें थोड़ी सी नैतिकता है तो अपने दुराग्रह और मिथ्याभिमान को छोड़ कर सत्य को स्वीकार करें। आर्य जाति ने आदि सृष्टि से वर्तमान काल तक के अपने इतिहास तथा ऐतिहासिक स्रोत्र और इतिहास-सूत्र को इस संकल्प-सूत्र के रूप में ग्रन्थित करके सुरक्षित कर रक्खा है। सूत्र निम्न प्रकार है—

ओ३म् तत्सत् श्री ब्रह्मणो द्वितीय प्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथम चरणेऽमुक संवत्सरायनर्तु मास पक्षदिननक्षत्रलग्न मुहूर्त्तेऽत्रेदं कृत्यं क्रियते।

र्थ—ओ३म् तत् सत् परमेश्वर का इन शब्दों में स्मरण करके यह कहा गया है कि "ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के दूसरे प्रहर में सृष्टि के अर्द्ध भाग के निकट अट्ठाइसवां कलियुग और उसका प्रथम चरण अर्थात् प्रारम्भ हैं। इसके आगे वर्ष, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, नक्षत्र, लग्न, मुहूर्त्त का विधान है, जो संस्कार के अवसर पर उस काल के अनुसार जोड़ लिया जाता है।

इस सब को गणित की रीति से जो सज्जन जानना चाहें, वह महर्षि-दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के "वेदोत्पत्ति विषय" को पढ़कर जान लें। स्थानाभाव से यहां उसका वर्णन नहीं किया जा रहा। अलमति-विस्तरेण।

आर्यसमाज के कुछ नियम

❀ सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

❀ वेदों का पढ़ना, पढ़ाना और सुनना-सुनाना आर्यों का परम धर्म है।

विश्व जीवन की समस्याएं और दर्शन

डॉ० एन० के० देवराज (लखनऊ)

यों तो भूलोक वासी मनुष्य का जीवन सदा ही समस्याओं से घिरा रहा है, पर आज जैसी भयावह स्थिति संभवतः इतिहास के किसी युग में नहीं रही है। आज विश्व में चारों ओर अनास्था, नैराश्य और हिंसा का वातावरण दिखायी देता है। युद्ध पहले भी होते थे पर उनका दुष्प्रभाव प्रदेश-विशेष तक सीमित रहता था। उदाहरण के लिये सीजर के अनेक सैनिक अभियानों का एशिया के महाद्वीप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, और सिकन्दर की युद्ध यात्राओं ने भी पूर्व में भारत के उत्तरी थोड़े भाग को ही प्रभावित किया। इसके विपरीत पिछले दो महायुद्धों ने सुदूर पूर्व में जापान तक और पश्चिम के समस्त राष्ट्रों के साथ अमेरिका को अछूता नहीं छोड़ा। अगले युद्ध में नाभिकीय अस्त्रों के दोतरफा प्रयोग की तो कल्पना मात्र से मानवीय मन-बुद्धि, हिरोशिमा एवं नागासाकी की छोटे से अणु द्वारा घटित विनाश लीला का स्मरण करते हुए, काँप जाती है। वर्तमान स्थिति यह है कि जहाँ रूस और अमेरिका के बीच निरन्तर तनातनी चल रही है वहाँ मध्य पूर्व में आये दिन फिलस्तीन के प्रश्न को लेकर छोटा-बड़ा संघर्ष होता रहता है और ईरान तथा इराक के बीच पिछले पाँच-छह वर्षों से लड़ाई चल रही है। श्री लंका, अपने देश, फिलिपीन्स आदि में दूसरी कोटियों के हिंसात्मक फसाद चल रहे हैं।

सतही तौर पर देखने से लगता है कि वर्त्तमान संघर्षों की भीषणता के भूल में आधुनिक युग की वैज्ञानिक प्रगति है, वास्तविकता यह है कि सब प्रकार वैर भाव और हिंसा के बीच मनुष्य के मन होते हैं। वैसे मनोभावों का प्रकाशन विभिन्न युगों में अलग-अलग रूप लेता रहा है। कौटिल्य के युग में प्रतिपक्षी शासक को मारने के लिए तरह-तरह के विषों और विषकन्या का उपयोग होता था, दुर्योधन ने पाडवों की हत्या के लिए लाक्षागृह का निर्माण कराया था। और अश्वात्थामा ने चोर की भाँति घुसकर सोते हुए द्रौपदी के पुत्रों की हत्या की थी। यह भी देखा नहीं किया जा सकता कि पुराने युगों में आज की अपेक्षा लोभ और शोषण कम था। राज्य के लोभ में अजातशत्रु और औरंगजेब ने अपने-अपने पिता को बन्दी बनाया था।

मनुष्यों की मनोवृत्तियों में इतिहास की पिछली दो-तीन सहस्राब्दियों में विशेष परिवर्तन हुआ है यह कहना सही नहीं जान पड़ता, भेद उन मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति के आयतन और साधनों में हुआ है। यों विज्ञान और तकनीक की अभूतपूर्व प्रगति से मानवता के सुख-साधनों का, जिनमें रेडियो, सिनेमा, दूरदर्शन और यात्रा के सुगम तरीकों का भी समावेश है, अतिशय विस्तार हुआ है। इस के बावजूद आज के व्यक्ति या समाज अधिक सन्तुष्ट, सुखी और निरापद महसूस करते हैं, यह नहीं कहा जा सकता भले ही आज हमारे असन्तोष, भय और कष्ट का स्वरूप और स्रोत बदल गये हों। प्रश्न है, इस बदले हुए माहौल में दर्शन की क्या भूमिका हो सकती है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर खोजने और पाने से पहले हमें एक खास स्थिति का और जायजा लेना होगा। आज के मनुष्य के नैतिक धार्मिक विश्वास बहुत बदल गये हैं, सम्भवतः कथित वैज्ञानिक मनोवृत्ति के प्रचार-प्रसार के कारण। यह वक्तव्य हमारे जैसे परम्पराग्रस्त या परम्परा प्रेमी देश और समाज के सदस्यों को चौंकाने वाला लग सकता है, पर सच यह है कि स्वर्ग-नरक ही नहीं ईश्वर और परलोक-सम्बन्धी विश्वास भी बहुत शिथिल या अप्रभावी हो गये हैं। छोटे-बड़ों, राजा-प्रजा, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र आदि के परस्पर व्यवहार के पुराने आदर्श भी क्रमशः लुप्त या प्रभावहीन होते जा रहे हैं। इसके अलावा अपने देश में साम्प्रदायिकता और जातिवाद अधिकाधिक विकृत रूप धारण करते जा रहे हैं। सच यह है कि आज धर्म, जाति आदि के विभाग प्रच्छन्न रूप में आर्थिक-राजनैतिक संघर्षों का माध्यम बनते जा रहे हैं। इसका एक मतलब यह है कि हमारी मनोवृत्ति और संस्कृति क्रमशः ऐहिक सुख-सम्पत्ति, ऐश्वर्य पद आदि में संसक्त होती जा रही है। यह शायद विशेष आपत्ति को बात नहीं हैं; आपत्ति और चिन्ता की बात यह है कि जहां एक ओर जीवनस्तर और अर्थ-संयम में वृद्धि के लिए आज के अधिकांश लोग, विशेषतः अपने देश में नैतिक नियमों को तिलांजलि देते दिखायी पड़ते हैं, वहां दूसरी ओर पुरानी धार्मिक आस्थाओं के क्षीण होते होते प्रभाव के कारण भी, वे किसी प्रकार के आत्म-संयम या आत्म-नियन्त्रण की आवश्यकता से बेखबर होते जा रहे हैं। यह एक मुख्य कारण है कि हमारे युग के साधन-संपन्न व्यक्ति भी सन्तुष्ट और सुखी दिखायी नहीं देते।

उक्त स्थितियों को मन में रखना जरूरी है, यदि हम दर्शन को भूमिका

को ठीक-ठीक समझना चाहते । इस सन्दर्भ में एक और बात ध्यान में रखी जानी चाहिये वह यह कि आज दर्शन या किसी के वश में नहीं हैं कि विज्ञान को प्रगति पर रोक लगाये । और नहीं तो दुनियां की सरकारें विज्ञान को प्रगति में बेहद दिलचस्पी रखती हैं मुख्यत: इसलिए कि विज्ञान सामारिक शक्ति का अस्त्र है । गत महायुद्ध के दौरान जर्मनी से हिटलर द्वारा निष्कासित और उसके बढ़ते सैनिक प्रभाव से संत्रस्त अलबर्ट आइन्स्टाइन ने स्वयं अमेरिका के प्रेसीडेन्ट रूजवेन्ट को यह सुझाव दिया था कि वे अणुबम बनाने में पहल करें, अर्थात् जर्मनी से पहले वैसे बम का निर्माण करा लें। दर्शन पर विज्ञान का प्रभाव मुख्यत: उसकी सफल अन्वेषण-प्रणाली के माध्यम से पड़ा है । यह सर्व विदित हैं कि दर्शन के इतिहास में विभिन्न विचारकों के बीच निरन्तर मत भेद की स्थिति रही है । एक ही देश और परम्परा के चिन्तकों के बीच भी अनेक विध मत भेद रहे हैं, जबकि विभिन्न परम्पराओं के मतभेद और भो दूरगामो व गहन दिखाई पड़ते हैं । उदाहरण के लिए भारत के जैन, बौद्ध तथा हिन्दू विचारक प्रमाणों की संख्या, ईश्वर, जीव, सृष्टि, प्रलय, पुनर्जन्म, कर्मसिद्धान्त, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में अलग-अलग ढंग से सोचते और भिन्न-भिन्न निष्कर्षों पर पहुंचते दिखायी देते हैं दूसरी परम्पराओं के विचारक कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म आदि की मान्यताओं से बहुत कुछ अछूते और मोक्षवाद के प्रति उदासीन दिख पड़ते हैं । ऐसे ही मतभेद ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में भो पाये जाते हैं । पश्चिम के देशों में जब से आधुनिक विज्ञान का उदय और प्रसार हुआ है—और यहां स्मरणीय है कि विज्ञान आधुनिक सभ्यता की रोढ़ है—तब से मतभेदों से आक्रान्त दर्शन विज्ञान की अन्वेषण-प्रणाली से लगाया आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा लेता रहा ।

जहाँ एक ओर विज्ञान की तकनीकी उपलब्धियों ने हमारे बाह्य परिवेश और जीवन का बहुआयामी रूपान्तरण किया है । वहां उसकी अन्वेषण प्रणाली की सफलताओं ने मानवीय चिन्तन के हर क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी है । मानवीय विद्याओं के प्रायः सभी क्षेत्र विज्ञान की अन्वेषण और सिद्धान्त-निरूपण की पद्धतियों का अनुकरण अनुसरण करने के प्रयत्न में लगे रहे हैं । विज्ञान के इस प्रभाव को खत्म या कम करना भी संभव नहीं है ।

प्रश्न उठता है, ऊपर की स्थिति में दर्शन का क्या कार्य माना जाय, और उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिए, और आधुनिक

सभ्यता की विशिष्ट समस्याओं के समाधान के लिये, क्या उपयोगिता हो सकती है ? यहाँ यह ध्यातव्य है कि दर्शन के स्वरूप, उसकी उपयुक्त अन्वेषण पद्धति और उपयोगिता के प्रश्न भी दर्शन के ही प्रश्न हैं। वे दर्शन के प्रश्न क्या है, यह भी दार्शनिक विमर्श का ही विषय है। वास्तव में वे सब प्रश्न जो विभिन्न भौतिक, जीव-सम्बन्धी एव मानवीय विज्ञानों या विद्याओं के बहिर्भूत हैं, दर्शन के प्रश्न है। विभिन्न विज्ञानों के स्वरूप और उनके तथा उनकी अन्वेषण-पद्धतियों के परस्पर भेदों और सम्बन्धनों को परिभाषित-निरूपित करना भी एक सीमा तक दर्शन का ही कार्य है।

तो, दर्शन का प्रथम प्रमुख काय अपने स्वरूप और समस्याओं को निरूपित करना है। उक्त जानकारी को रोशनी में ही हम यह जान सकते हैं कि आज दर्शन हमारे लिए किन रूपों या दिशाओं में उपयोगी हो सकता है।

हम सब जानते हैं किस प्रकार तर्कनिष्ठ अनुभववाद ने तत्त्व मीमांसा का निराकरण किया है। वस्तुतः अनुभव-गम्य यथार्थ के विभिन्न क्षेत्र आज एक या दूसरे विज्ञान द्वारा अन्वेषित और व्याख्यात होते हैं। आज हम दार्शनिक से यह आशा नहीं करते कि वह हमें विद्युत् आदि ऊर्जाओं और रसायन शास्त्र के तत्त्वों एवं उनको पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के बारे में जानकारी दे। यही बात भूगर्भ संबन्धो, वनस्पति-जगत और जीव जगत के तथ्यों के लिये कही जा सकती हैं, वे सब विभिन्न विज्ञानों के शोध क्षेत्र हैं, न कि दर्शन के। विभिन्न जीवयोनियों का प्रादुर्भाव या विकास कैसे हुआ है, अथवा भौतिक विश्व अर्थात् नीहारिकाओं और नक्षत्रों की दुनिया कैसे वर्त्तमान स्थिति में पहुँची है, ये प्रश्न दर्शन के नहीं हैं। इसोलिए डिमोक्राइटस और अरस्तू के मन्तव्य अथवा वैशेषिक और सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया-सम्बन्धी धारणाएं आज प्रासंगिक नहीं रह गयी है।

क्या दर्शन का कार्य आत्मा-परमात्मा का ज्ञान है ? यह प्रश्न मान लेता है कि आत्मा और परमात्मा की सत्ता हैं। द्रष्टव्य है कि बौद्ध-दर्शन उक्त तत्त्वों को स्वीकार नहीं करता। तो क्या मुक्ति या निर्वाण का निरूपण का दर्शन निजी कार्य हैं ? इसका उत्तर चिन्तन के एक बड़े सन्दर्भ की अपेक्षा करता है।

हम मानते हैं कि दर्शन का एकमात्र और मुख्य कार्य जीवन-मूल्यों की व्याख्या है, उन मूल्यों की जो मानव व्यक्तित्व के गुणात्मक उत्कर्ष के उपादान

भूत हैं जो मूल्य वैसे उत्कर्ष के साधक होते हैं उनमें तरतम भाव (Deqrees) का अन्तर होता है। वैसे मूल्यों के अन्तर्गत सत्य या सत्यान्वेषण, शिवत्व या नैतिक-आध्यात्मिक उच्चता एवं सौन्दर्य की सृष्टि और उपभोग का समावेश है। इन मूल्यों की वाहक अनुभूतियों के स्वरूप का विश्लेषण और उनके तरतम भाव को बुद्धिगम्य बनाने वाले मानदंडों या प्रतिमानों का निरूपण दर्शन के दो प्रमुख कार्य हैं। तीसरा कार्य है व्यक्तित्व के गुणात्मक विकास में योग देने वाले मूल्य सत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध और आपेक्षित महत्त्व को समझने-समझाने का प्रयत्न। इस तीसरे कार्य द्वारा दर्शन हमें वह बोध देता या देने की चेष्टा करता है जिसे हम जीवन-विवेक कहते हैं।

प्लेटों की रिपब्लिक में थ्रैसाइमेकस नाम के सोफिस्टने न्यायधर्म की परिभाषा देते हुए कहा कि न्यायनीति या धर्म वह है जो शक्तिमान् व्यक्तिमान (राजा, शासक) के हित में, उसके लिए हितकर हो। इसका प्रतिवाद करते हुए सुकरात ने कहा—लेकिन इसका निर्णय कैसे होगा कि शक्तिमान व्यक्ति का वास्तविक हित क्या है? विभिन्न हितों, श्रेयस-रूपों के आपेक्षित महत्व की समझ की साथ जीना सहल नहीं है। यह समझ लम्बे चिन्तन और जीवन के और समाजों तथा जातियों के, व्यापक अनुभव पर निर्भर करती है। आज इस समझ का सार्वजनिक ह्रास वर्तमान मनुष्य के असन्तोष और उससे उत्पन्न विक्षुब्ध-असन्तुलित मनःस्थिति एवं आक्रामक मनोभावों का अन्यतम कारण है। भर्तृहरि ने सुख के साधनों के बारे में कहा है, प्रतीकारो व्याधे: सुखमिति विपर्यस्यति जनः—अर्थात् वैसे साधन दुःख का प्रतिकार कर करते हैं—वे भावात्मक सुख नहीं देते। विज्ञान के अविष्कार बहुत कुछ ऐसे ही साधन हैं। भावात्मक सुख के लिए उच्चतर मूल्यों में—जैसे त्याग मूलक नैतिकता, काव्यशास्त्र विनोद, सन्त चरित्र की स्वार्थों के बन्धन से युक्त रहने की साधना अर्थात् निष्कामना आदि में—संसक्ति आवश्यक है। इस प्रकार की मनोवृत्ति और जीवनचर्या के लिए प्राचीन विश्वास-पद्धतियों का स्वीकरण आवश्यक नहीं—यह इससे भी सिद्ध कि प्राचीन विचारक अलग-अलग सिद्धान्तों का आग्रह रखते पाये जाते हैं, यद्यपि तथाकथित मोक्ष की साधना को लेकर उनमें पर्याप्त मतैक्य है। यह बात चार्वाकेतर प्रायः सभी भारतीय दर्शनों पर लागू होती है।

निष्कर्ष के रूप में हम कहें कि दर्शन का प्रधान और एकमात्र कार्य

जीवन-मूल्यों की छानबीन है। एक समीक्षात्मक कार्य है और मूल्य-निषेधक विश्वासों का निराकरण। उदाहरण के लिए कभी-कभी कहा जाता है कि चूंकि विज्ञान ने पुराने विश्व-चित्र को खण्डित कर दिया या बदल दिया है, इसलिए उस चित्र का मानचित्र से निर्धारित या सम्बद्ध मूल्यदृष्टि भी खण्डित हो गयी। जैसाकि हमने कहा, यह कथन या तो भ्रामक है या अर्धसत्य। दूसरे विज्ञान की सीमाओं का निर्देश करते हुए दर्शन को बतलाना चाहिए कि विज्ञान की अन्वेषण-प्रणाली और निष्कर्ष किस सीमा तक मूल्यबोध में प्रासंगिक है या नहीं हैं। हमारी समझ में सत्य, अहिंसा, सहानुभूति, करुणा, सेवा आदि सद्गुणों का महत्व ईश्वर, आत्मा, परलोक आदि की यथार्थता या अस्तित्वत्ता का अपेक्षी नहीं है। उन्हें आधार देने वाले युगोचित मन्तव्यों का ग्रथन और प्रचार भी दर्शन का कार्य है। इसप्रकार मूल्यों का पुनः परिभाषित और निरुपित करते हुए दर्शन व्यक्तिगत और सामाजिक सब प्रकार के जीवन से सम्बन्धित विवेक देता और दे सकता है। ध्यातव्य है कि यह कार्य किसी दूसरे शास्त्र या विद्या का नहीं है।

समृद्ध एवं सुखी तथा उच्चतर जीवन और तदनुरुप मूल्यों को परिभाषित करते हुए दर्शन आदर्श समाज और आदर्श राज्य की यथार्थ-परक रूपरेखा प्रस्तुत कर सकता है। उस रूपरेखा के अनुरुप समाज तथा राज्य का संघटन दूसरी कोटि के, क्रान्तिकारी प्रयत्नों की अपेक्षा करेगा। इधर ऐसा एक दर्शन देने का दावा कार्ल मार्क्स और उससे अधिक उसके कतिपय अधिक कट्टर एवं एकांगी अनुयायियों—जैसे लेनिन—ने किया है। किन्तु मार्क्स के दर्शन ईश्वर-परलोक आदि की अस्वीकृति उतनी आपत्तिजनक नहीं है जितनी कि आध्यात्मिक मूल्यों की अवहेलना। मार्क्स के दर्शन में निष्कामता, क्षुद्र एषणाओं के त्याग एवं सन्त चरित्र की अपेक्षा और महत्ता की कोई बुद्धिगम्य व्याख्या उपलब्ध नहीं है। क्यों कुछ कर्मठ बुद्धिजीवी नेता समाज में न्याय, समानता आदि की प्रतिष्ठा के लिए त्याग और कष्टों का जीवन स्वीकार करें अर्थात निःस्वार्थ सेवाव्रत ग्रहण करें—इस प्रश्न का समुचित समाधान मार्क्सवाद में पाना कठिन है। इसलिए भी वह वाद अपूर्ण है। मार्क्स तथाकथित यूरोपियन (स्वप्नजीवी) समाजवाद की आलोचना करते हुये अपने सिद्धान्त को वैज्ञानिक समाजवाद कहता था, उसने एक इतिहास-दर्शन देने का प्रयत्न भी किया था। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि उसकी इतिहास सम्बन्धी प्रायः सभी भविष्य वाणियां गलत सिद्ध हुई हैं। उसके इतिहास-सिद्धान्तों के अनुसार और

वर्ग सम्बन्धी एवं पूंजीवाद के विश्लेषण के अनुसार भी श्रमिकों की क्रान्ति इंगलैण्ड, जर्मनी, अमेरिका जैसे विकसित उद्योगों वाले देशों में होनी चाहिए थी न कि उस दृष्टि से पिछड़े रूस और चीन में। उसने मध्यम वर्ग के क्रमशः विलुप्त होने की भविष्य वाणी भी की थी। सच यह है कि मनुष्य, अनेक सीमाओं के बावजूद, एक स्वतन्त्र और सर्जनशील प्राणी है, वह अपने इतिहास और नियति का नियामक बनने की क्षमता रखता है। वैसी क्षमता का मंडन, उसमें आस्था पैदा करना भी दर्शन का कार्य है। हमारे युग के बढ़ते लोभ एवं जीवन स्तर के आग्रह को सीमित करने की युक्ति पूर्ण सिफारिस और समृद्ध, आनन्दपूर्ण व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के स्रोतों का निरुपण अर्थात् जीवन-विवेक और जीवन की सार्थकता की नयी जीवन स्थितियों के आलोक में नयी व्याख्या प्रस्तुत करना—ये सब दर्शन के सार्वकालिक कार्य हैं।

वचनामृत

वीर्य की रक्षा में आनन्द और नाश करने में दुःख की प्राप्ति होती है। जैसे देखो जिसके शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल और पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होते है। इसके रक्षण हेतु विषयों का ध्यान त्याज्य है।

(दयानन्द, सत्यार्थ० समु० ३)

प्राचीन भारतीय सैन्य-शिक्षा

डा० रामसिंह
एवं
डा० नरसिंह नारायणसिंह
(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी)

मनुष्य जब से इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ है, तब से ही उसे भोजन के अविष्कार एवं स्वरक्षा हेतु वन्य जीवन--जन्तुओं एवं मनुष्यों से युद्ध करना पड़ा है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक अनेक सभ्यताओं का अभ्युदय एवं विनाश हुआ, किन्तु युद्ध कभी भी समाप्त नहीं हो सका। ज्यों-ज्यों सभ्यता पल्लवित एवं पुष्पित होती गई, त्यों-त्यों मनुष्य को अपनी जाति, ग्राम समुदाय राज्य एवं राष्ट्र की सुरक्षा हेतु युद्ध करना पड़ा। साथ ही साथ प्राचीनकाल से ही मनुष्य अस्त्र-शस्त्रों एवं सेनाओं के प्रयोग की कला में विकास करता रहा है और उस कला में पारंगत होने के लिए विभिन्न कालों में, विभिन्न रूपों में सैन्य-शिक्षा प्रदान की जा रही है। विभिन्न कालों में सैन्य-शिक्षा का स्वरूप निम्नवत रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

वैदिक युग में सैन्य-शिक्षा का रूप ज्ञात नहीं हो पाता। इस काल में हम मुख्यतः आर्यों को दस्युओं के साथ युद्ध में रत पाते हैं। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि इस समय भी सैनिक व्यवसाय रहा होगा, किन्तु सैनिकों की शिक्षा-प्रणाली किस प्रकार की थी, यह कह पाना सम्भव नहीं है। अश्वारोहण तथा रथ परिचालन में पारंगत होने के कारण ही आर्यों ने विजयश्री ग्रहण की थी। अतः उनका शस्त्रास्त्र विद्या एवं युद्ध में पारंगत होना अत्यन्त स्वाभाविक लगता है।

महाकाव्य काल में चातुर्वर्णों में क्षत्रिय का मुख्य कार्य देश रक्षा करना हो जाने के कारण क्षत्रियों ने इसे व्यवसाय के रूप में परिगृहीत किया जिसके कारण सैन्य-शिक्षा का महत्व बढ़ गया। तत्कालीन आश्रम अधिकांशतः

सैनिक-शिक्षा के केन्द्र थे। रामायण एवं महाभारत में इस प्रकार के अनेक आश्रमों का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, रामायण युग इलाहाबाद में स्थित भारद्वाज आश्रम सैनिक-शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था। इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारों के सैनिक प्रशिक्षण का एक आश्रम अयोध्या में था, जहां पर नियमित शस्त्राभ्यास के लिए राम और लक्ष्मण के कवच और अस्त्र-शस्त्र रखे रहते थे।[1] इस आश्रम के आचार्य के बारे में इतना ही ज्ञात हो सका है कि संभवतः ये कौशल राजकुमारों के गुरु एवं धनुर्वेद तथा अर्थशास्त्र के ज्ञाता सुधन्वा ही थे जिनसे राम को अपनी प्रारम्भिक सैनिक शिक्षा प्राप्त हुई थी। उन्हें परवर्ती एवं उत्तम सामरिक शिक्षा विश्वामित्र एवं अगस्त्य आश्रम से प्राप्त हुई थी। इसी प्रकार महाभारत काल में द्रोणाश्रम हस्तिनापुर में स्थित राज्याश्रय प्राप्त आश्रम था जो तत्कालीन बृहत् सैनिक प्रशिक्षण का केन्द्र था। इस ग्रन्थ में ऋटचोक् (ऋचिक) के पुत्र जमदग्नि के आश्रम[2] का वर्णन है, जिनके ज्येष्ठ पुत्र परशुराम ने भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि महान् योद्धाओं को सैन्य-शिक्षा प्रदान की थी।

गिरिव्रज (राजगिरि) में जरासंध का एवं द्वारका में बलदेव का मल्लयुद्ध अखाड़ा था, जहां पर दुर्योधन, भीम आदि ने मल्ल-युद्ध विद्या ग्रहण की थी। महाभारत में सन्दीपिनि के आश्रम[3] का वर्णन है जहां पर कृष्ण एवं बलराम को सैन्य-शिक्षा प्राप्त हुई थी। इस आश्रम में अन्य विद्याओं के साथ-साथ हस्ति एवं अश्व परिचालन की भी शिक्षा दी जाती थी।

आधुनिक काल की भांति प्राचीनकाल में भी सैनिक विद्यालयों में प्रवेश हेतु कुछ योग्यताएं निर्धारित थीं, शरीर सौष्ठव और फुर्ती उसके लिए आवश्यक योग्यता मानी जाती थी। इसके अतिरिक्त सैनिक छात्रों में सुदृष्ट, सुबाहु, सुहनु, सुपाद, अकृश, विशालाक्ष और जितेन्द्रिय आदि गुणों का होना आवश्यक था[4]। किसी भी आश्रम में प्रवेश लेने के उपरान्त बहुत दिनों तक उन्हें कठोर अनुशासन में रहना पड़ता था। घास-फूस या नग्न भूमि ही उनका शयन स्थल होता था। भूख, प्यास, शीत एवं गर्मी आदि सहने की उनमें शक्ति का होना नितान्त आवश्यक था। विश्वामित्र के आश्रम में राम लक्ष्मण को घास पर ही सोना पड़ा था।[5]

---

१. रामयण, ३।३१।३१॥ २. वनपर्व, ११७।३१ ३. सभापर्व, अध्याय ५४॥
४. उद्योग पर्व अध्याय १५-८॥ ५. बालकाण्ड, अध्याय २२॥

सेना के चारों अंगों गज, अश्व, रथ एवं पदाति सेना को दृष्टि में रखकर शिक्षार्थी को हाथी-घोड़ों की सवारी और उनका नियन्त्रण (आरोह तथा विनय) तथा रथ चलाने की कला (रथ-चर्या) एवं विविध शस्त्रास्त्रों में प्रशिक्षित करना युद्ध विद्या का मुख्य उद्देश्य था। रथी को सारथी के कार्य को भी शिक्षा दो जाती थी, जिससे आवश्यकता पड़ने पर वह सारथो का थी कर सके। लंका-युद्ध में जब लक्ष्मण ने मेघनाथ को सारथो विहीन कर दिया था, तब उसने स्वयं रथ और बाण दोनों को साथ-साथ चलाकर इस विद्या की सार्थकता को सिद्ध किया था।[६]

सैनिक शिक्षालयों में आचार्य छात्रों की रुचि के अनुसार ही विद्या प्रदान करते थे अर्थात् जो छात्र जिस शस्त्र की शिक्षा प्राप्त करना चाहता था उसे उसी प्रकार की शस्त्रास्त्र विद्या प्रदान की जाती थी।[७] विभिन्न युद्ध विद्याओं में पारंगत हो जाने के बाद सैनिकों को आश्रम में विविध प्रकार से परीक्षा होती थी। शिक्षा की समाप्ति के उपरान्त छात्रों को उपाधियां प्रदान करने के लिए दीक्षान्त समारोह का आयोजन होता था, जो आनुनिक सैन्य शिक्षा प्रणाली से मेल खाती है। इस समारोह में अर्द्धरथ, रथ, महारथ तथा अति-रथ आदि उपाधियां प्रदान को जातो थीं। राज्य सैन्य में पान्तिक, गुलमपति, सेनापति, सेनानायक तथा बलाध्यक्ष आदि अनेक सैनिक पद होते थे, जो उपर्युक्त उपाधि प्राप्त सैनिकों के लिए सुरक्षित रहते थे। इस आयोजन के समय समस्त सम्भ्रान्त व्यक्ति और सम्मानित वोर उपस्थित होते थे। सैनिक छात्र इस अवसर पर आचार्य के साथ कवच, धनुष-बाण एवं तरकस तथा खड्ग आदि शस्त्रास्त्रों से युक्त रहते थे। आचार्य कृत्रिम समरांगण के केन्द्र स्थल पर पहुंचकर शंख बजाते थे। समस्त सैनिक अपने-अपने धनुष पर नाम-युक्त बाण रखकर इस प्रकार शरसंधान करते थे कि वे आचार्यों के चरणों और करों का स्पर्श कर बिना हानि पहुँचाते हुए निकल जाते थे जो आचार्यों के प्रति उनके सद्भाव का सूचक था और इसे ही सैनिक सलामी कही जाती थी।[८]

सैनिक शिक्षा की समाप्ति के उपरान्त छात्र द्वारा आश्रम का परित्याग करते समय शिष्य आचार्य को गुरुदक्षिणा प्रदान करता था। विश्वामित्र को राम ने राक्षसों का संहार, द्रोण को अर्जुन आदि ने द्रुपद का पराभव और एकलव्य ने अपना अंगूठा गुरुदक्षिणा के रूप में दिया था। यह परम्परा परवर्ती काल में भी कुछ सीमा तक विद्यमान रही। महाकवि कालिदास ने

६. रामायण, ५।८६।४३। ७. आदि पर्व, अभ्यास ३३। ८. विराट पर्व, अध्याय ५४।५।

लिखा है कि विद्यार्थियों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था, बल्कि विद्यार्थी जीवन की समाप्ति[९] पर वह अपने शिक्षक को गुरुदक्षिणा[१०] प्रदान करता था।

जातकों जिनकी रचना संभवतः तृतीय शताब्दी ई० पू० तक हो चुकी थी, में तत्कालीन सैन्य शिक्षा एवं उनकी संस्थाओं का उल्लेख मिलता है। इनसे यह ज्ञात होता है कि उस समय के राजा अपने राजकुमारों को विद्योपार्जन के लिए तक्षशिला भेजा करते थे, जो सैन्य शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। यहां पर दो प्रकार के अध्यापकों का उल्लेख है। इनमें से एक प्रकार के ऐसे अध्यापक होते थे जो केवल राजकुमारों को ही सैन्य शिक्षा प्रदान करते थे। वहां जिन विषयों की शिक्षा दी जाती थी उनमें धनुर्वेद [इस्सत्थ शिष्य] का भी महत्वपूर्ण स्थान था। असदित जातक[११] में बोधिसत्व नामक राजकुमार का वर्णन आया है जिसने तक्षशिला में अपने आचार्य से धनुर्विद्या सीखी थी और इसमें निपुणता भी प्राप्त की थी। इसी प्रकार तक्षशिला में ही एक अन्य सैनिक विद्यालय का उल्लेख है जिसमें १०३ राजकुमार अनेक प्रकार की युद्ध विद्याओं, अश्वारोहण एवं हस्ति परिचालन तथा विभिन्न शस्त्रास्त्रों के संचालन की शिक्षा ग्रहण करते थे।[१२] एक अन्य स्थान पर यह वर्णन आया है कि गुरु ने अपने शिष्य को सैन्य शिक्षा की शिक्षा समाप्त कर लेने के उपरान्त उसे प्रमाण-पत्र के रूप में स्वयं अपनी तलवार, एक धनुष-वाण, एक कवच तथा एक हीरा दिया और उससे यह कहकर अवकाश ग्रहण किया कि वह उसके स्थान पर सैन्य शिक्षार्थी अन्य ५०० शिष्यों को पाठशाला के प्रमुख का पद ग्रहण करे।[१३] इस उल्लेख से यह आभास होता है कि आचार्य अपने बाद अपने ही शिष्यों में से ही योग्य किसी शिष्य को अपना पद प्रदान करता था।

मौर्य कालीन सैन्य शिक्षण प्रणाली का विस्तृत ज्ञान प्राप्त नहीं होता। किन्तु यत्र-तत्र जो सामग्री प्राप्त होती है उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इस काल में पूर्ववर्ती सैनिक शिक्षा की परम्परा विद्यमान रही। आचार्य कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त को सैन्य शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला में भर्ती किया था, जहाँ पर राजकुमारों को शिक्षा प्रदान की जाती थी। चन्द्रगुप्त आठ वर्ष तक सैनिक पाठशाला में शिक्षा प्राप्त कर समस्त सैन्य विद्याओं में तथा विभिन्न कलाओं में निपुण हो गया। कौटिल्य ने राजकुमारों की शिक्षा के क्रम में बताया है कि उन्हें दिन के प्रथम भाग को हाथी, घोड़े, रथ एवं

---

९ रघुवंश, ५ ३८। १०. वही ५।२२। ११. जातक २।४।८। १२. सुतसोम जातक सं० ५४५। १३. जामक सं० ५।१२७।

शस्त्रास्त्र आदि विद्या सम्बन्धी शिक्षाओं में व्यतीत करना चाहिए।[१४] इस काल में स्थायी सेना के सैनिकों को युद्ध कला सम्बन्धी समस्त शिक्षाओं का अभ्यास कराया जाता था[१५] और राजा स्वयं सैनिक अभ्यास का निरीक्षण करता था।

पतंजलि महाभाष्य में[१६] भी धनुर्विद्या के प्रशिक्षण का उल्लेख मिलता है, किन्तु इस काल में धनुर्विद्या को सामान्य पाठ्यक्रम के अन्तर्गत नहीं रखा गया था। ईसा की प्रथम शताब्दी में प्राचीन भारत मे किसी न किसी रूप में सैनिक विद्यालय विद्यमान थे। कनिष्क के समकालीन लेखक अश्वघोष अपने सौन्दरानन्द काव्य में एक राजकुमार के लिए विभिन्न विषयों के साथ धनुष-बाण और बर्छी चलाने की कला तथा सैन्य संचालन एवं सैन्य विन्यास की शिक्षा में भी पारंगत होने का उल्लेख किया है।[१७] इसी प्रकार महावस्तु[१८] के अनुसार युवक राजकुमार गौतम को यशोधरा के पाणिग्रहण संस्कार में पांच सौ शाक्य राज कुमारों के साथ युद्ध कला प्रदर्शन में भाग लेना पड़ा था। इससे यह ज्ञात होता है कि इस समय में सैन्य शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध किया जाता रहा होगा।

राजकुमारों को सैन्य शिक्षा प्रदान करने की प्रथा परवर्ती काल में भी विद्यमान रही। कालीदास ने लिखा है कि एक राजकुमार को अस्त्र-शस्त्र[१९] के संचालन की क्रिया में पारंगत हो जाने पर ही उसे गोदान संस्कार में जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इनके अनुसार सैनिकों, मुख्य रूप से क्षत्रियों एव राजाओं को विभिन्न शस्त्रास्त्रों की शिक्षा दी जाती था, जिसके लिए विद्यार्थी में शारीरिक शक्ति[२०] का होना आवश्यक था। इस काल में भी गुरुकुल पद्धति का पूर्ण रूप से ह्रास नही हुआ था, किन्तु मालविकाग्निमित्रम् में राजकीय विद्यालय का उल्लेख एक विशेष प्रकार की संस्थाओं के उदय का संकेत करता है। इस काल में शिक्षण संस्थाओं के अध्यापकों को राज्यकोष से नियमित वेतन का प्रावधान था। शिक्षण संथाओं के अतिरिक्त राजा अपने पुत्र को स्वयं सैन्य प्रशिक्षिण प्रदान करता था। कालिदास ने लिखा है कि राजा दिलीप जो स्वयं विभिन्न शस्त्रास्त्र विद्या में पारंगत थे ने अपने पुत्र रघु को विविध प्रकार की आयुध विद्या की शिक्षा प्रदान की थी। इस काल में युद्ध पर जीवित रहने वाले विशाल सेना को अस्त्र प्रहार की कला को पूर्ण

१४. अर्थशास्त्र १।३।१२। १५. वही ५।२। १६. महाभाष्य १।३।२१ पृ० ५२।
१७. सौन्दरानन्द प्रथम सर्ष। १८. महावस्तु, २।३७। १९. रघुवंश, ३।३१।
२० वही २।४। २१. मालविकाग्निमित्रम् पृ० ७।

रूप से शिक्षा प्रदान की जाती थी[२२]।

हर्ष काल में सैनियों के सुचारू शिक्षण की व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु इस काल में भी सैनिकों के लिए युद्ध कला के शिक्षण की व्यवस्था अवश्य रही होगी। राजवर्धन तथा हर्षवर्धन की सैनिक शिक्षा का एक स्थान पर वर्णन आया है जिसमें इन्हें समस्त प्रकार के विद्याओं के ज्ञान के उपरान्त विभिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्रों का प्रशिक्षण दिया गया था[२३]। कादम्बरी में उल्लेख मिलता है कि राजकुमार चन्द्रापीड़ को उसके पिता ने विशेष रूप से निर्मित तथा सुरक्षित विद्यामन्दिर में विद्याध्यन के लिए भेजा था जहां सभी विषयों में आयुधों के प्रयोग की भी शिक्षा दी जाती थी।

सैन्य प्रशिक्षण सम्बन्धी उपर्युक्त विवरणों के उपरान्त यह प्रश्न उठता है कि उन आश्रमों एवं शिक्षण संस्थाओं में क्या समस्त वर्णों के लोगों को सैनिक शिक्षा दी जाती थी ? ज्ञातव्य है कि वैदिक काल से ही राष्ट्र की रक्षा एवं प्रशासन का भार क्षत्रियों को ही सौंप दिया गया था और इस वर्ण को ही योद्धा वर्ग की संज्ञा प्रदान की गई थी। महाकाव्य काल तक आते-आते यह वर्ण पूर्णतः सत्ताधारो बन गया था। अतः स्पष्ट होता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर क्षत्रियों को ही प्रमुख रूप से सैनिक शिक्षा दी जाती रही होगी, किन्तु परवर्ती काल से सेना में अन्य वर्ग के लोगों को भी स्थान दिया जाने लगा और उन्हें भी शिक्षा का अधिकार प्राप्त हो गया। जातकों के अनुसार ब्राह्मण वर्ग के लोग सैन्य कला, शल्य चिकित्सा और नागवशीकरण आदि विषयों की शिक्षा ब्राह्मण एवं अन्य वर्णों के सभी ब्रह्मचारियों को प्रदान करते थे[२४]। अन्यत्र उल्लेख मिलता है कि एक ब्राह्मण पिता ने अपने पुत्र को, जिसके विषय में ज्योतिषयों ने भविष्यवाणी की थी यह चक्रवर्ती होगा, तक्षशिला में धनुर्वेद की शिक्षा के लिए भेजा था[२५]। मौर्यकाल में भी सभी वर्ण के लोगों को सेना में भर्ती किया जाने लगा था, किन्तु कौटिल्य ने अन्य वर्गों की अपेक्षा क्षत्रिय वर्ग को ही सेना में रखने का निर्देश दिया है। फिर भी उन्होंने यौद्धिक आवश्यकता पड़ने पर अन्य वर्ग के लोगों की भी नियुक्ति करने का समर्थन किया हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि अन्य जाति के व्यक्तियों को भो सैन्य शिक्षा दो जाती रही होगी। तभी तो समय पड़ने पर उनसे सैनिक कार्य लिया जाता रहा होगा।

---

२२. रघुवंश, ३०।३०, १७-६२। २३. हृष चरित। २४. छत्तिय असदित जातक सं० १८१। २५. सारभंग जातक सं० ५२२।

हम देखते हैं कि परवर्ती काल में अन्य वर्ग के लोगों में भी राज्य प्राप्ति की अभिलाषा जागृत हुई। शुंगों, कण्वों, एवं कदम्बों की महत्त्वकांक्षा ने ही उन्हें ब्राह्मण होते हुए भी सम्राट के पद पर आसीन किया था। पुष्यमित्र शुंग जो कि मौर्य कालीन राजा वृहद्रथ का सेनापति था, की सम्राट बनने की प्रबल इच्छा ने ही उसे अपने शासक की हत्या करने के लिए प्रेरित किया होगा। ब्राह्मण, शक, कुषाण, गुप्त एवं हर्षकाल में यद्यपि क्षत्रियों को सेना में प्राथमिकता दी जाती थी, किन्तु इस काल में भी बहुत से ब्राह्मण सेना से उच्च पदों पर आसीन हुए थे। इस प्रकार वैश्य एवं शूद्र वर्ग के लोगों द्वारा सैनिक वृत्ति ग्रहण करने के दृष्टान्तों की भी कमी नहीं है। धनुर्वेद से भी ज्ञात होता है कि सैन्य शिक्षा चतुर्वर्णों को दी जाती थी। चतुर्वर्णों को सैन्य शिक्षा देना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है, क्योंकि यदि सभी वर्गों के राजा शासन का भार सम्भाल सकते थे तो स्पष्टतः समस्त वर्णों के लोगों को भी सेना में भर्ती किया जाता रहा होगा और उन्हें सैन्य शिक्षा प्रदान की जाती रही होगी। ध्यातव्य है कि ह्वेनसांग की भारत यात्रा के समय माहेश्वर, उज्जैन तथा असम में ब्राह्मण और कन्नौज में वैश्य तथा सिन्ध एवं मणिपुर में शुद्र राजा राज्य कर रहे थे।

प्राचीन भारतीय युद्धों में गज सेना एवं अश्व सेना को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। किन्तु इनकी सांग्रामिक उपयोगिता तभी सार्थक होती थी जब उन्हें युद्ध भूमि में युद्ध करने, आरोहियों को वहन करने, उनको बचाने तथा शत्रु द्वारा विरचित व्यूह भंग आदि का पूर्ण रूप से प्रशिक्षण दिया जाये आचार्य कौटिल्य ने हाथियों को प्रशिक्षित करने के लिए सात उपायों यथा उपस्थान, सम्वर्तन, समयान, वधावध, नागरायण, एवं सांग्रामिक का उल्लेख किया है[२६]। जातकों में भी हस्ति–शिक्षा का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में वाराणसी के समीप किसी हस्ति प्रशिक्षक के बोधित्व नामक पुत्र का उल्लेख है जिसे राजा ने अपने राजकीय हाथी को प्रशिक्षित करने के लिए रखा था। इसमें उल्लेखित वर्णनों से यह ज्ञात होता है कि हाथियों को शत्रु के दुर्ग की दिवालों एवं फाटकों क तोड़ने की भी शिक्षा दी जाती थी[२७]। इस बात की पुष्टि महावंश से भी होती हैं, जिसमें हाथी द्वारा दुर्ग द्वार तोड़ने का उल्लेख है। मनुस्मृति में भी अश्वों एवं हस्तियों को शिक्षित करने का उल्लेख है[२८]। यथा प्रथा परवर्ती काल में विद्यमान रही। हर्षचरित[२९] से हाथियों के प्रशि-

२६. अर्थशास्त्र, २।३१५३२। २७. जातक, २।४।१८२। २८. मनुस्मृति, ३।१६२।
२९. महामात्र पेटक्येथ प्रकटितकरि मंचर्भपुरः। हर्षचरित्

क्षक को महामात्र (महावत) कहा गया है। महामात्र हाथियों को युद्ध की शिक्षा देने के लिए चर्मकुट (मृतक हाथी के चमड़े को भरवाकर बनाया गया पुतला) के माध्यम से युद्ध की शिक्षा देता था। हाथियों को शिक्षा देने में विविध पद्धतियों को प्रयोग में लाया जाता था, जिनमें समण्डल भ्रान्ति मण्डलाकार घूमना) तथा वक्राचार टेढ़ी चाल श्रेष्ठ शिक्षा पद्धति मानी जाती थी।

उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट होता है कि आधुनिक काल की भांति प्राचीन काल में भी सैनिकों को सैन्य शिक्षा प्रदान करना अति आवश्यक था। प्रारम्भिक काल में आश्रम ही सैन्य शिक्षा के केन्द्र होते थे और उनमें क्षत्रियों को ही प्रमुख रूप से ही शिक्षा दी जाती थी, किन्तु उत्तरोत्तर उनमें विकास होता गया और कालान्तर में उनके स्थान पर अन्य शिक्षण संस्थाओं का उदय हुआ जहां सभी वर्ग के सैनिकों को सैन्य शिक्षा प्रदान की जाने लगी। आज की भांति सैनिकों को सेना में प्रवेश कर उन्हें सरकार की तरफ से शिक्षा प्रदान करना सम्भवत: प्राचीनकाल में सम्भव न था; क्योंकि इतनी विशाल सेनाओं को किसी संस्था में रखकर प्रशिक्षित करना स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। ऐसी स्थिति में केवल राजकुमारों एवं सेना के उच्चाधिकारियों तथा उनके पुत्रों को ही शिक्षा प्रदान करना सम्भव था। सामान्य सैनिकों को शिक्षण संस्थाओं में बहुत कम शिक्षा दी जाती रही होगी। अर्थशास्त्र[30] का यह कथन, कि प्रत्येक ग्रामवासी को अपनी रक्षा स्वयं करनी चाहिए, स्पष्ट करता है कि प्रत्येक नागरिक अपने धन-जीवन की स्वयं रक्षा करने में समर्थ होता था। इसलिए समस्त नागरिक ग्राम वृद्धों से ही धनुष-बाण आदि विभिन्न आयुधों के प्रयोग को सीखता था और एतदर्थ आवश्यक अस्त्र-शस्त्र को रखता भी था। यूनानी इतिहासकारों के विवरणों से भी इस बात की पुष्टि होती है। इनके अनुसार कई स्थानों पर यूनानी सैनिकों को वहां की सेना के प्रतिरोध का उतना भीषण सामना नहीं करना पड़ा था, जितना कि अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित वहां की जनता का[31]। यहां तक कि कुछ ग्राम कुशल सैनिकों के लिए ख्यातिलब्ध थे, जहां के निवासी सैन्य-कला में इतने निपुण थे कि उन्हें राजा की ओर से कर मुक्त कर दिया जाता था। इस कर मुक्त के बदले ये ग्रांम राजकीय सेना में नियमित रूप से सैनिक भेजते थे।[32]

---

३०. अर्थशास्त्र २।३४। ३१. मैट्रडल, इनवेजन आफ अलेक्जेन्डर, पृष्ठ १४०।
३२. अर्थशास्त्र ६।१।

आध्यात्मिक शिक्षा का नई शिक्षा प्रणाली में योगदान

प्रो० कौशल कुमार
प्रवक्ता, रसायन विभाग गु०कां०वि०विद्यालय

आज धर्म और संस्कृति के नाम पर हमारे देश में घृणा और द्वेष की भावनाओं का वातावरण पैदा किया जा रहा है। मानवतावादी मूल्यों की उपेक्षा हो रही है। अतः आज के युवावर्ग को प्रतिकियावादी शक्तियों से संघर्ष करने में उनकी सहायता करना नवयुवकों को गुमराह होने से बचाकर उन्हें विवेक और बुद्धिमानी का मार्ग दिखाना सबसे आवश्यक है। यदि हम राष्ट्र को एक भयंकर संघर्ष से बचाना चाहते हैं तो शिक्षा शास्त्रियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे नवयुवकों में जीवन के प्रति विवेकपूर्ण एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने का अभ्यस्त बनाएं।

विश्वविद्यालयों की शिक्षा का उद्देश्य केवल विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्तियों जैसे डाक्टरों, इंजीनियरों, वैज्ञानिक, शासन प्रबन्ध को तैयार करना ही नहीं वरन् जीवन के प्रति मानवीय दृष्टिकोण रखने वाले समझदार सुसंस्कृत, ईमानदार, नागरिक भी तैयार करना है। विश्वविद्यालय से यह आशा की जाती है कि विचार और मानव सबन्धों के क्षेत्रों में नेतृत्व करने वाली शक्तियों को जन्म देंगे, क्योंकि आज के तीव्र परिवर्तनशील युग में नई सामाजिक चेतना और गतिशील चिन्तन भी राष्ट्रीय समस्याओं का निदान हो सकता है।

विश्वविद्यालयों को केवल अपने छात्रों को विद्यादान करके ही संतुष्ट नहीं होना है, अपितु उनको विशेष रूप से शरीर और मन को संयम में करने की शिक्षा देनी चाहिए। जिससे विद्यार्थियों का मानसिक और आध्यात्मिक विकास हो सके। पातंजल योगदर्शन का आधार मनोवैज्ञानिक है, वह यह कि मन को ठीक-ठीक शिक्षा हो तो एक ऊंचे ढ़ंग की चेतना पैदा हो जाती

है। इस ढ़ंग का उद्देश्य यह है कि मनुष्य स्वयं वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करे, यह नहीं कि यथार्थता या विश्व के बारे में किसी पूर्व कल्पित आधि-भौतिक सिद्धान्त को स्वोकार कर लें। इस प्रकार यह एक प्रयोगात्मक विधि है।

इस समय शिक्षा की राष्ट्रीय नीति क्या होनी चाहिए, इस पर काफी गहराई से चिन्तन किया जा रहा है। वर्तमान शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य केवल जोविका उपार्जन है, जिसका परिणाम भो स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा का प्रचलित पाठ्यक्रम में नितान्त अभाव है। विद्यार्थियों को अन्य विषयों की शिक्षा के साथ-साथ योग आसन, ध्यान स्वास्थ एवं मानसिक विकास की शिक्षा भी दी जानी चाहिये। मानव शरीर एक विद्युत बैटरी है, जिसमें "इच्छाशक्ति" की सहायता से इसमें नुन: शक्ति संचार किया जा सकता है। क्योंकि इच्छा के बिना कोई भी कार्य करना संभव नहीं। मनुष्य यात्रिक व्यायाम का सहारा न लेते हुये मूल शक्ति "इच्छा" को सहायता से शरीर में नवीन शक्ति का संचार कर सकता है। भृकुटी के मध्यबिन्दु पर ध्यान एकाग्र करने से (इच्छा शक्ति) को जागृत किया जा सकता है। गायत्री मन्त्र में मनुष्य को अन्तर्निहित असाधारण शक्तियों को जागृत करने की अद्वितीय क्षमता है। मन्त्र, जप, यज्ञ आदि में छिपी ज़बर-दस्त शक्तियों प्रकृति के कुछ ऐसे यथार्थ सत्य है, जिनको तर्क से नहीं अपितु स्वयं अभ्यास द्वारा अनुभव से जाना जाना जा सकता है। पूर्ण अवस्था तभी प्राप्त होती है जब मन, शरोर और वाणी में उपयुक्त समन्वय हो। यदि हम आसन, जप, ध्यान के विधान को जीवन का महामन्त्र बना लेने के लिए कृत संकल्प हो जाये, तो हर समस्या का अपने-आप समाधान निकल जायेगा। आध्यात्मिक दृष्टि के बिना मनुष्य का समाज का एवं देश का उत्थान सम्भव नहीं है। मन को एकाग्र करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है, यह अभ्यास यदि विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय में अन्य पाठ्यक्रम के साथ कराया जाये तो, इसके विलक्षण परिणाम मिल सकते हैं।

एक बार रोजर डब्ल्यू बाबसन ने महान् इलैक्ट्रिकल्स इंजीनियर चार्ल्स पी० स्टाइनमेत्स से प्रश्न किया "आगामी ५० वर्षों में किस क्षेत्र में सबसे बड़ा आविष्कार होगा। स्टाइमेन्स ने कहा, मेरे विचार हो आध्यात्मिक क्षेत्र ही सबसे बड़ा आविष्कार होगा। आध्यात्मिक शक्ति ऐसे शक्ति है जो मानवजाति की उन्नति के लिए सर्वश्रेष्ठ है। लेकिन इतना होने पर भी इसके साथ खिलवाड़

किया जाता है। और कभी गभीरता से इसका अध्ययन नहीं किया गया, क्योंकि हमारे पास भौतिक शक्तियां मौजूद हैं। लेकिन आज हम देख रहे हैं कि भौतिकशक्तियों से सुख नहीं मिल रहा, मनुष्यों में मानवीय मूल्यों की स्थापना में इसका कोई उपयोग नहीं है। आज पश्चिम की देशों एवं हमारे देश में भी वैज्ञानिक आध्यात्मिक शक्तियों का अध्ययन करने में लग गये हैं। जिस दिन आध्यात्मिक मानवीय जीवन का आवश्यक अंग बन जायेगी तब हम देखेंगे कि जितनी उन्नति पिछले कई दशकों में नहीं हो सकी है, उससे अधिक केवल एक दशक में हो जायेगी।

आधुनिक मनोविज्ञान का मत है, मनुष्य अपने मस्तिष्क के बहुत छोटे से भाग से काम लेता है। ध्यान से मन की एकाग्रता बढ़ती है, मानसिक चेतना जाग्रत हो जाती है। अभी यह कमी है, मानसिक चेतना को जाग्रत करने का कोई उपाय सिखाया नहीं जाता। अतः प्रत्येक कालेज, विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों को अन्य विषयों के साथ ध्यान का भी कोर्स कराया जाये। जब हर विद्यार्थी अपने पूरे मस्तिष्क से काम लेने लगेगा, जिससे जहां विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास होगा वहां सभ्यता, संस्कृति और देश की भी उन्नति हो सकेगी।

निस्सन्देह मन को वश में करना कठिन है, लेकिन इसके लिए प्रयत्न कहाँ किया गया है? अभ्यास कहां कराया गया है? जिस प्रकार एक के बाद दूसरी कक्षाओं को उत्तीर्ण करते हुए स्नातक एवं स्नातकोत्तर उपाधियाँ प्राप्त की जाती हैं। शिक्षा प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न किया जाता है, तभी सफलता प्राप्त होती है। उसी प्रकार सतत प्रयत्न, लगन एवं अभ्यास द्वारा मन को एकाग्र करके मानसिक विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया जा सकता है। आवश्यकता है, अभ्यास करने की और कराने की। अतः आध्यात्मिक शिक्षा को नई शिक्षा प्रणाली में उचित स्थान दिया जाना चाहिए।

सन्दर्भ—

१—राष्ट्रीयता और समाजवाद (आचार्य नरेन्द्र देव)
२—एक योगी की आत्मकथा (परमहंस योगानन्द)
३—हिन्दुस्तान की कहानी (पं० जवाहरलाल नेहरु)
४—महर्षि सन्देश भाग–१ (महर्षि महेश योगी)

—:o:—

वेदार्थ-प्रक्रिया

डा० निगम शर्मा
रीडर-अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग गु०कां०वि०विद्यालय

आसादितलोक हृदयाः प्रत्यक्षहेतुप्रसादा:वेदाः । पापमूलवासनागर्भगृहान् लब्धकैवल्य निचयान् प्रवीणान् मानवान् जीवयन्ति । वेदगृहे निवास एव स्वर्गे वास इति तेषाममृतमुर्चा वचांसि। कण्टक सदृशा जनास्ततोऽन्यान् दूरी कुर्वन्ति अत एव वेदमार्गे प्रवृत्तानां महत् काठिन्यमापतति । बहुदेवताकः पुरूषों ब्रह्म तेजो हृदि निधाय व्यूढोरस्क स्तेजसाः चेतसा चान्तर्हितार्थी सुवर्णपुष्पां वाचं गन्ध्याढ्यामासादयति ।

देवा 'अग्निजिह्वाः ऋ० ६-५२-१३ इत्युच्यन्ते, यथाऽङ्गेषु जिह्वा प्रधानतां भजते तथैव देवेष्वग्निः । अग्निप्रधाना देवाः हि 'अग्नि जिह्वाः' इत्युच्यन्ते। यजमाना एव यजाः' कथ्यन्ते । तेषां त्रातारः खलु यजत्राः' इति ज्ञाप्यन्ते । स्वः शब्दः सर्वपर्यायः, तर्हि 'स्वर्दृशम्' इत्यस्याभिप्रायः सर्वस्य शुभाशुभस्य द्रष्टारम्। गौः प्राणिषु श्रेष्ठत्वात् किलैका विभूतिः, तर्हि 'गव्यन्तः' ७-३२-२३इति शब्दस्य कोऽर्थः ? गांच कामयमानाः, महतीं विभूति मिच्छन्तः । ३-४७-२ मंत्रे सम्यक् च प्रतिपादितं यल्लोकपालानां व्रतमेतत् किमिति, दुष्टनिग्रहः शिष्ट परिपालनम्। सूर्याकारो मित्रोऽपि मात्वा = निर्माय निर्माय स्वोदयेन जगत् त्रायते ।

'अग्नं वृक्षस्य रोहतः' अत्र वृक्षस्य वृक्षावयवस्य खट्वा फलकस्य यजु० २३-२४; सानसि-सूर्यमण्डलम्, श्रवः—पालयिता ऋ० ३-५९-६, श्रवः—तेजोऽन्नम्, यशः ज्ञानं वा श्रूयते वेदशिरसि, आश्रीयते च योगिभिः, किमु वाऽङ्ग तत् ? एतदेवादित्यमण्डलम् । द्युम्नम्– अन्नम्, उपायः, यशो वा । चर्षणयो हि मनुष्याः, ते चायन्ति = पश्यन्ति, अथ च ऋषन्ति = गच्छन्ति, पश्यन्ति ते सर्वमप्यागमेन गच्छन्ति च ते पदुसाध्यमुपायेन । उर्वशी—विद्युत् भवति, अश्नुऽन्तरिक्षं प्रभया । पुरूरवाश्च मेघः, पुरु रौति ।

एवं मंत्र व्याख्यानपरम्परायां तत्र भवन्त आचार्या ऋषयः षड्विधत्वं

बहुविधत्वंचकथयन्ति । भरतो मुनिश्च नाट्य शास्त्रेऽलङ्काराणां षट् त्रिंशद्विधत्वं प्राह (१६-४) स्कन्दस्वामी च ऋग्भाष्योपोद्घाते प्रैषाः, करणाः, क्रियमाणानुवादिनः शास्त्राभिष्टवनादिगताः, जपानुवचनाश्चेति कृत्वा मंत्राणां पंचविधत्वं बोधयति । बृहद्देवतायां च १-३५-३९ षट्त्रिंशद्विधत्वं कथितम् । हरि स्वामी च शतपथ विवरणेऽवान्तरभेदानपि पंच चत्वारिंशद्गणयति । उव्वटश्च यजुर्वेदभाष्यभूमिकायां मंत्रां स्त्रयोदश विधान् प्राह ।

तत्र मंत्रा बहुप्रकाराः सन्ति, तद्यथा स्तुतिरूपाः—इन्द्रं को वीर्या परः १-८०-१५, हस्तयो र्वज्रमायसम् १-८१-४ ऋचीषमाय १-६१-१, सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व ४-१८-११ निन्दा प्रकारा अपि—केवलाघो भवति केवलादी १०-११७-६ किमेता वाचा कृणवा तवाहम् १०-९५-२, अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ७-८६-३ पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् १-८४-८ । आख्यानपरा वाक् च—इन्द्रो दधीचो अस्थभिः १-८४-१३ ओ चित्सखायम् १०-१०-१ शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् १०-३४-२ किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानट् १०-१०८-१ क्वचिच्च वस्तुमाहात्म्यम्—त्वमस्माकं तव स्मसि ८-९२-३२ स्वादिष्ठया मदिष्ठया ९-१-१, यो विश्वा दयते वसु ८-१०३-६ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु १०-१४-१२, मम पुत्राः शत्रुहणः १०-१५९-३, राजानो न प्रशस्तिभिः ९-१०-३, स्वरूपनिर्धारणमपि देवानामभीष्टम्—८-२९ मंत्रेषु देवं देवं प्रति वैशिष्ट्यं वैविध्यं स्वरूपानुविधायित्वं च लक्ष्यते । आयुध—वेष--आहार--क्रियायोगाच्च प्रमुखं देवं देवानां द्रष्टुं प्रष्टुं च शक्यते ।

क्वापि च प्रैषरूपा वाचः—देवेभिर्याहि यक्षि च १-१४-१, सोमं पिब ऋतुना १-१५-१ स वेद स चिकित्वान् १-१४५-१, श्रुधी हवमिन्द्र २ ११.१ इन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत ३-५१-१, आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदः ३-५३-१४, महे नो अद्य बोधय ५-७९-१ ।

परिपालनरूपाः खल्वपि भगवतो वाचः समीक्षाविषयतामेवावतरन्ति 'यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव—तमाहरामि—निर्ऋतेरूपस्थात् १०-१६१-२ । प्रलय देवताया उत्सङ्गस्थानादपि क्षितायोरानयनमत्र शरणागतवत्सलस्य देवस्य प्रतिवचनम् । एव मेव, तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे' १०-५७-२ धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चित् ७-८८-७ । आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः; १०-१४२-८ ।

प्रवह्लिकारूपाश्च वाचः, यत्र गूढोऽर्थः प्रश्नार्थरूपेण अथवा रहस्य रूपेण प्रतिपाद्यते–'न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे, अथर्व २०-१३३-१ चक्षोः सूर्यो अजायत १०-९०-१३, छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् १०-९०-९ 'त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरम्' अथर्व २०-९५-१ 'क ईं वेद सूते सचा, अथर्व २०-५३-१ क्वचित्परिवादरूपेण च कृत्याकृत्य ज्ञापनंक्रियते–किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः ऋ० ३-५३-१४ अन्येन मदाहनो याहि तूयम्' १०-१०-८, न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनम्, १०-१०-४, किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः १०-४८-७ क्वचिदाचिख्यासा–'अहं रुद्रेभि र्वसुभिश्चरामि १०-१२५-१ कामस्तदग्रे समवर्तताधि–१०-१२९-४, इमे वयन्ति पितरोत्य आ ययु १०-१३०-१, वभ्रु रेको विषुणः सूनरो युवा ८-२९-१नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः ८-३०-१ क्वापि परिदेवना–अधा शयीत निर्ऋते रुपस्थे १०-९५-१४, अमीत्वा जहति पुत्र देवाः ४-१८-११, मा गामनागा मदितिं वधिष्ट, ८-१०१-१५, कदा न्वन्त र्वरुणे भुवानि ७-८६-२, कुत्रचिद् याचना–सं माग्ने वर्चसा सृज १-२३-२४, विद्वाँ अदब्धो विमुमोक्तु पाशान् १-२४ १३, वोचेम ब्रह्म सानसि १-७५-२, इन्द्रायेन्दो परिस्रव ९-११३-१ मुमुग्ध्यस्मान् निधयेव बद्धान् १०-७३-११ आह्वानरूपा च क्वापि-वायवायाहि १-२-१, शविष्ठ धृष्णवागहि, १-८४-१ उपयाहि सोमम् ३-२९-१६, इन्द्रायेन्दो परिस्रव ९-११२-१ कृषिमित्कृषस्व १०-३४-१३ मरुद्भिरग्न आगहि १-१९-१।

क्वापि व्याकरणाय प्राण प्रतिष्ठा—अभित्वा देव १-२४-३ अत्र ईमहे याच्ञाकर्मा, द्विकर्मकोऽत्र याचिः, त्वाम् आयु र्याचामहे। सुमङ्गलीरियं वधूः १०-८५-३३ 'छन्दसी वनिपौ च वक्तव्यौ' ५-२-१०९ वार्तिकम्। मत्वर्थे ईप्रत्ययः, अतः सो र्लोपाभावः। नमो महद्भ्यः १-२७-१३ नमो योगाऽत्र चतुर्थी। प्रिया प्रियासु ६-६१-१० नर्धारणे सप्तमी, प्रियाणां सर्वासां देवतानां मध्ये इयमेवैका प्रियतमा। उद्वयं तमसस्परि १-५०-१०, तमसः अन्धकारस्य परिर्वजनार्थः। तमः पङ्कं विदार्य पद्ममिवोत्थितम्। दृशे १-५०-१ 'दृशे विख्ये च' द्रष्टुम्। विश्वाय—षष्ठीस्थाने चतुर्थी। एक वचनं बहुवचनस्य स्थाने सर्वेषां भूतानां दर्शनाय। त्वामवस्यु राचके १-२५-१९, आयु र्याचे त्वामित्र प्रकरणान्वितं कर्मपदमध्याहार्यम्। अथवा तनु विस्तारे क्वता, 'उदितोवा ७-२-५६ इतीड् विकल्पः। तत्त्वा–तनित्वा परिचर्यंगा याचे। पारिचर्यया चाभीष्टा देवता प्रसन्नीभूयाभिलषितं ददाति। अपो याचामि भेषजम् १०-९-५ द्विकर्मकत्वं याचेः। व्याप्त्या दीप्त्या चोक्तं पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धा

१-१६४-१६, निरुपमं तेजो जगत्कारणम्, इति जगतो व्यापारकारणम्। तद्रूपाश्रयाणां धातूना मर्थस्य विद्यमानत्वात्। अर्थनित्यः परीक्षेत। यश्चायं पुरुषे यश्चादित्ये स एकः। अस्य ज्ञातारः पण्डिताः परिपक्वज्ञानाः, विद्यारूपेण चक्षुषा ते पश्यन्ति। अतएव ते बन्धनान्मुच्यन्ते। शब्दानामर्थावगाहनं च— अदितये स्याम १-२४-१५, अक्षीयमाणाय स्याम। पृथिव्यै चिरं जीवेम। उद्वयम् १-५०-१०, आदित्याख्यं च ज्योतिर्द्विधा—बाह्यम्, आभ्यन्तरं च। उद् इत्युपसर्गः, अन्तर्भूतक्रियावचनः। उदितमित्यर्थः। पश्यन्त. प्रणमन्तः। श्रद्धापुरःसरमाराधयन्तः। उत्तरम्—सुप्तानां मृतकल्पानामुत्तारणहेतुम्। शुक्रम् ७-६६-१६, शुक् दीप्तिः, मत्वर्थीयो रः, मधुरमिति यथा। पिशङ्गरातेः ५-३१-२, पिशङ्गा रातिर्यस्य। पिशङ्गवर्णस्य स्वर्णादिः। धनं ह्यभिजनमापादयति। मा विवेनः वेनतिरत्र लम्बनार्थः मा विलम्बिष्ठाः। कान्तिकर्मा वा, विगतकामो विगतेच्छः मा भूः। नवो नवो भवति १०-८५-१९, नवशब्दोऽत्र प्रियवचनः। प्रियतमः। आभित्वा शूर ७-३२-२२, शूरः शवते गतिकर्मणः शवति गच्छति गच्छति शत्रून् इति शूरः। अदितिः १-८९-१० प्रकृतिरप्यदितिः। मित्रः ३-५९-६, मेदयतेः, उदकेन सर्वं स्नेहयति। मित्र एव वृष्टिप्रदानादिना दाधार धारयति। रजः शब्देन उदकं गृह्यते। सारभूतं वस्तु रजः शब्देन कथ्यते।

एवं वस्तु माहात्म्या द्दष्ट्या गुणख्यापन मेव मंत्राणामिष्टः एवं वस्तु सौन्दर्यं वा गुणान् वा सूक्ष्मनिरीक्षणेन प्रकाशनं क्रियते। एतदपीष्टं नः, वस्तुवैभवं ब्रह्मण एव विभुत्वप्रख्यापनम्। सुरेश्वराचार्योऽपि प्रचारयति वररुचिरपि प्रबोधयति—एतद् अस्ति-भाति-प्रीणातिरूप यद् वस्तुतत्त्वं सर्वं तद् ब्रह्मैव। तस्यैवैतत्सर्वम् अनुव्याख्यानं नूनमस्यैव १--४-१ इति।

कः प्रजापतिः सुखरूप त्वात्। अमृतानां देवानां निधारणे षष्ठी। मनामहे—याचामहे = प्रजापतिमायुर्याचामहे अदितये अक्षीणायै पृथिव्यै = पुनर्दात्—स्थापयतु। स्थिरं दृढं यशस्विनं मां तेजसे यशसे स्थापयतु।

एवं यो ब्राह्मणः परिचर्यया श्रद्धयाऽऽश्रितः सन् देवं जलं प्रकृतिं पृथिवीं सूर्यं वायुं मित्रमुषसं वाऽवगाहते तेन रसेन पयस्वान् मनस्वान् मनीषया निगमागमतीर्थसतापसः कपूरजल-शीतलं वायुमाचमन् ब्राह्मणतेजसा दीप्तो भवति

कं देवमसावाश्रयति, नास्ति प्रश्नः एकस्यैव देवस्य वैभवमेतत्. यदा-

श्रयणीयं तदेव हृदि निधाय [illegible] सादरं निपीय मंत्रार्थदृक् शान्तःप्रसन्नः क्रियार्थवित् वेदरत आत्मरतः स्वभानान् विजित्य साधु-कारी कुशलः पूर्णमायुः सेव मान आनन्दैकरसो भवति अत एवोक्तम्—'सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति य एवेदमिति ब्रवत् । ६.५४.१ ॥

अञ्जसाऽनुशासति, अत्रानायासेनैव वस्तुतत्त्व प्रकाशनं द्योतमते विषयज्ञान परिपक्वता च, अनुशासति,इति कथनेन ज्ञानगरिमाणं समीक्ष्य चारु तर्क वितर्क-रूपेण रुचिकरं ज्ञानावगाहनपूर्वकं सम्पादनं च विवेचनाविषयताऽऽविष्क्रियते, इदमिति कथनेन इदमित्थमेव याथातथ्यं विधिनिषेधरूपं वास्तवमस्ति वस्तु-तत्त्वम् ।

❀ ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्; न्यायकार, सर्वशक्ति-मान्; न्यायकारो, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर. अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसकी उपासना करने योग्य है।

❀ प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए। किन्तु सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

गुरुकुल पत्रिका

गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालयस्य मासिकी पत्रिका

२७
रा २०४१, जौलाई १९८६
: ६, पूर्णाङ्क : ३६०

सम्पादक :
डा० जयदेव

❀ विषय-सूची ❀

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालस्य मासिकी-पत्रिका]

श्रावण : २०४१ | जुलाई : १९८६ — वर्ष : ३७ — अङ्क : ९ | पूर्णाङ्क : ३८०

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्त गाणपत्यं भयोभूरेहि ।
उर्वन्तरिक्षंवीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह ॥

यजु० १५।११ अ०

पदार्थ—हे राजन् (स्वतिगव्यूतिः) सुख के साथ जिसका मार्ग है ऐसे आप (सयुजा) एक साथ युक्त करने वाली (पूष्णा) बल पुष्टि से युक्त अपनो सेना के (सहः) साथ (अशस्तीः) निन्दित शत्रुओं की सेनाओं को [प्रतूर्वन्] मारते हुए (एहि) प्राप्त हूजिये। शत्रुओं के देशों का उल्लघन करते हुए (एहि) हमें प्राप्त हो (भयोभूः) सुख को उत्पन्न करते हुए आप (रुद्रस्य) शत्रुओं को रुलाने हारे सेनापति के(गणपत्याम्)सेना समूहके स्वामीपन को प्राप्त होकर(अभयानि) अपने राज्यमें सब प्राणियों को भयरहित[कृण्वन्]करते हुए [अन्तरिक्षम्] परिपूर्ण आकाश को [वीहि] विविध प्रकार से प्राप्त कराओ।

भावार्थ – राजा को उचित है कि अपनी सेना को सदैव अच्छी शिक्षा हर्ष उत्साह और पोषण से युक्त रक्खें। जब शत्रुओं के साथ युद्ध करना हो तब राजा अपने राज्य को उपद्रव रहितकर युक्ति तथा बल से शत्रुओं को मारे और सज्जनों को रक्षा करके अपने यश को फैलावें।

— महर्षि दयानन्द

सम्पादकीय—

जीवात्मा और ब्रह्म में भेद

उपनिषदों की यथार्थवादी व्याख्या के अनुसार जीव और ब्रह्म दोनों ही यथार्थरूप में अपनी सत्ता रखते हैं। प्रत्ययवादी दार्शनिक जीव की सत्ता को यथार्थरूप में स्वीकार नहीं करते हैं। गौडपादाचार्य तो जन्म, मृत्यु, मोक्ष आदि सबको भ्रम मानते हैं। आचार्य शंकर के मत से अज्ञान दूर हो जाने पर ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है वस्तुतः ब्रह्म ही अज्ञान के कारण जीव बनता है। इस दार्शनिकवाद-विवाद को प्रस्तुत करने से पूर्व उपनिषदों का मत प्रमाणरूप में क्या है ? यह अवलोकन करना चाहिये। ऋग्वेद और मुण्डक उपनिषद में एक ही मन्त्र दोनों जगह मिलता है। स्पष्टरूप में कहा है कि दो सहवासी सखा जीवात्मा और परमात्मा अपने समान अनादि प्रकृतिरूपी वृक्ष पर बैठे हुये हैं उनमें से एक वृक्ष के स्वादु फलों का भोग करता है दूसरा उन फलों का उपभोग नहीं करता अपितु अपने सखा का साक्षी मात्र है। जो सखा फलों को खाता है वही उसके परिणामों को भोगता है दूसरा जो साक्षी वह कभी भी किसी भी प्रकार के बन्धन में नहीं आता है। इससे अगले मन्त्र में ही मुण्डक उपनिषद् में और स्पष्टरूप में कहा है कि इस प्रकृतिरूपी वृक्ष पर भोक्ता जीवात्मा निमग्न है। प्रकृति की नानाप्रकार की मोहात्मक शक्ति से से मोह अर्थात् रोग को प्राप्त हो रहा है। जो वीतराग योगी अपने आत्मा को निर्मल कर परमात्मा को अपने से भिन्न साक्षात्कार करता है। तब वह जीवात्मा शोकरहित हो जाता है[२]। नचिकेता को यमाचार्य उपदेश देते हैं कि मानव शरीर के परमोत्कृष्ट निवास स्थान हृदयाकाश में प्रविष्ट हुए जीवात्मा और परमात्मा छाया और धूप की भांति वर्तमान रहते हुए सत्य ज्ञान का पान कर रहे हैं[३]। इनमें एक ज्ञाता है दूसरा ज्ञेय है। बृहदारण्यक उपनिषद में

१. द्वासुपर्णा सयुजा सखाया..........(ऋग्वेद १।६४।२० मुण्ड० उ० ३ १।१।
२. समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नो... ......(मु० उ० ३।१।२।
३. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहाम्प्रविष्टौ.........छायातपो (कठ० १।३।१)

जीव और ब्रह्म को भेद स्हष्ट करते हैं, कहा है कि जो आदित्य (सूर्य) में और जो दायें नेत्र में पुरुष है वह एक दूसरे में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म सर्वत्र व्यापक होने से सूर्य में भी और अर्थात् जीवात्मा में भी और ये दोनों एक दूसरे में स्थित हैं[1]।

श्वेताश्वेतरोपनिषद् में स्पष्ट रूप से व्याख्यान किया है कि ईश्वर और जीव क्रमशः सर्वज्ञ और अल्पज्ञ हैं, अर्थात् ईश और अनीश हैं ये दोनों ही अजन्मा है अर्थात् किसी से विवृत्त होकर होकर उत्पन्न नहीं हुये हैं। इन दोनों से भी पृथक् एक अजा अर्थात् प्रकृति ही पुरुष के उपभोग का साधन बनती है। यहां स्पष्ट रूप में ज्ञाज्ञौ द्विवचनम् पद देकर जीव और ईश्वर मे भेद प्रतिपादन किया है।

उपनिषदों में जीव तथा ब्रह्म का 'सन्त्र हमें अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर प्राप्त होता हैं। अनेकों स्थानों पर जीवात्मा को ब्रह्म के दर्शन करने के लिए उपासना करने का कथन है उपासना तभी संभव है जबकि जीवात्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न हो। हां उपनिषदों में यह अवश्य वर्णन उपलब्ध होता है कि जीवात्मा परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त कर वह भी महान् हो जाता है, महान ही नहीं अपितु महत्तर भी हो जाता है परन्तु महत्तम नहीं होता इसी को मुण्डक उपनिषद् में इस प्रकार कहा है कि परम ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म महान हो जाता है। परन्तु सूक्ष्मता से पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होता है कि यहां भी जीव और ब्रह्म में भेद ही प्रतिपादित किया है अभेद नहीं। यदि अभेद प्रतिपादन करने का उद्देश्य हो तो परम 'ब्रह्मवेद परम ब्रह्मैवभवति' पद होना चाहिए था। क्योंकि आचार्य शंकर ब्रह्म शब्द का अर्थ स्वयं महान् करते हैं (जैसाकि पूर्व अध्याय में देख चुके हैं) जीव महान् तो हो जाता है परन्तु परम महान् नहीं। जो परमात्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है। जिसका मूढ जीवात्मा नहीं बनाता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है जैसे शरीर में जीवात्मा रहता है ऐसे वैसे ही परमेश्वर जीवात्मा से सूक्ष्म होकर इसमें रहता है[3]। ऋषि दयानन्द के मन्तव्य

१. तद् यतत् समत्यमसौ आदित्यो य एष। एतस्मिन् मंडले पुरुषोपश्चार्यं दक्षिणे व्रक्षन् पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठतौ। (बृ० उ० ५।५।२)॥

२. ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थ युक्ता। श्वेता० १।६)॥

३. स० प्र० समु० ७ पर द्रष्टव्य–य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोअन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। आत्मनोअन्तरो यमनाति स त आत्मान्तर्याम्यभृतः। (माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण १४।६।७।३२)॥

के अनुसार उक्त विवेचना यह सिद्ध करती है कि जीव और ब्रह्म में भेद औपाधिक नहीं है अपितु यथार्थ रूप में है ।

आचार्य शंकर उपनिषदों का और वेदान्त दर्शन का भाष्य करते हुए जीव और ब्रह्म में अभेद सिद्ध करने का पूरा प्रयास करते हैं परन्तु पूर्वापर देखने से वे पूर्णरूप में सफल नहीं हो पाये हैं । वेदान्त दर्शन के उनके शांकर भाष्य में वे उद्धरण द्रष्टव्य हैं जो जीव और ब्रह्म में अभेद सिद्ध करने का प्रयास है ।

१—ब्रह्म के दो रूप हैं, एक तो नाम रूप विकार भेद की उपाधि वाला दूसरा इसके विपरीत सब प्रकार की उपाधियों से छूटा हुआ ।

२—वहां अविद्या की अवस्था ब्रह्म के उपास्य और उपासक आदि लक्षण वाले सब व्यवहार होते हैं । ये सब इनमें उपाधिके भेद से भेद होता है ।

३—परमात्मा ही देह, मन, बुद्धि की उपाधियों से परिछिन्न होकर मूर्खों के लिए शरीर अर्थात् जीव कहलाता है ।

४—जीव और ब्रह्म का भेद अविद्या के कारण है । पारमार्थिक रूप में नहीं है । आत्मा एक ही है दो नहीं हो सकते हैं ।

५—कुछ अन्य मतावलम्बी जीव के रूप को पारमार्थिक ही मानते हैं । हममें से भी कुछ लोग इस मत के हैं । हमने शारीरिक आरम्भ उन्हीं के भ्रम को दूर करने के लिए किया है । जिससे स्पष्ट परमेश्वर को जो ज्ञान से जाना जा सकता है जो माया के द्वारा जादूगर की तरह अनेकों प्रकार का दिखाई पड़ता है ।

यहां आचार्य शंकर ने अस्मदीया कह कर यह प्रगट कर दिया है कि कुछ वेदान्ती विद्वान् ऐसे थे जो जीव को ब्रह्म से भिन्न पारमार्थिक रूप में मानते थे । उपाधि कृत नहीं ।

अन्य और भी अनेकों स्थलों पर आचार्य शंकर ने जीव और ब्रह्म में अभेद स्थापित करने का प्रयास किया है । परन्तु आचार्य शंकर स्वयं कुछ सूत्रों पर भाष्य करते हुए भटक गये हैं । जितना प्रयास उन्होंने अभेद सिद्ध

---

१. पर एवात्मा·········परिच्छिद्यमानो बाले शरीर इत्युपचर्य्यंते । (श० १।२।६) ॥

२. अविद्या प्रत्युपस्थापित कार्यकरणोपाधि निमित्तोऽयं ·· ····· न पारमार्थिकः एकोहि प्रत्यगात्मा भवति न द्वो प्रत्यमात्मानो सभवतः । (शां० भा० १।२।२०) ॥

३ अपरेतु वादिन·······अस्मीदयाश्च केचित्·········(शां० भा० १·३।१९) ॥

करने में किया है वैसा ही प्रयास उन्होंने भेद बतलाने में किया प्रतीत होता हैं। वे उद्धरण भी उन्हीं के शब्दों क्रमशः समीक्षा के लिए प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

१—आनन्दमय परमात्मा ही है जीव नहीं। इतर का अर्थ है ईश्वर भिन्न संसारी या जीव। जीव के लिए आनन्दमय शब्द नहीं लाते क्योंकि उपपत्ति नहीं बैठती है।[1]

२—यहां भी आनन्दमय जीव नहीं क्योंकि आनन्दमय अधिकार से उपनिषद् (तै० २ २७) में कहा है कि ब्रह्म रस है। यह रस को पाकर ही आनन्दी होता है। यहां स्पष्ट रूप में जीव और ब्रह्म में भेद आनन्द द्वारा बतलाया है।[2]

३—भेद तो विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा में ही होता है। कठोपनिषद् में आत्मा को रथी और शरीर को रथ बतलाया है। इस रूप में विदित होता है कि यहां तात्पर्य विज्ञानात्मा अर्थात् जीव है जो संसार रूपी यात्रा मोक्ष प्राप्ति के लिए कर रहा है। उसी उपनिषद् में कहा है कि वह मार्ग से पार जाकर विष्णु के परमपद को पाता है यहां परमात्मा से तात्पर्य है। कठोपनिषद् में इससे पहले कहा गया था कि वीर पुरुष अध्यात्म योग द्वारा हृदय के भीतर छिपे हुये देव को जानकर हर्ष और शोक के द्वन्दों से छूट जाता है। यहां जीव और ब्रह्म का स्पष्ट भेद है। यहां पर आचार्य शंकर अनेक उपनिषदों के प्रमाणों द्वारा इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए जीव और ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करते है। जिन उपनिषदों के प्रमाणों को हमने भेद सिद्धि में प्रस्तुत किया है, उनमें से कुछ प्रमाणों को यहां इस सूत्र की व्याख्या में उन्होंने प्रयुक्त किया है। यद्यपि सूत्र में ही भेद का प्रतिपादन स्पष्ट था परन्तु आचार्य ने अन्य उद्धरण और युक्तियों में उसकी व्याख्या कर सोने में सुहागे का कार्य किया है।[3]

१—इतश्चानन्दमयः परः एवात्मा। नेतरः। ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः–
शां०भा०१।१।१६।।

२—इतश्च नानान्दमयः संसारी……जीवानन्दमयौ भेदेन व्ययादिनति (श०भा०१।१ १७)।

३—विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव भवति…… जीवात्म-परमात्मानो…एष एव न्यायः…… (शं० भा० १।२।१२)।।

४—आगे पुनः लिखते हैं यद्यपि ब्रह्म सबके हृदय में विद्यमान से तथापि उसे दुःख, सुख तथा संभाग नहीं मिलता है। क्योंकि जीव और ब्रह्म में विशेषता (भेद) है। जीव कर्त्ता भोक्तादि गुणों से युक्त है। ब्रह्म पापादि से मुक्त है, इसलिए भोग जीव को लिए है ब्रह्म के लिए नहीं हैं।[1]

५—सुषुप्ति और उत्क्रान्ति दोनों में जीव और परमेश्वर का भेद बताया है। सुषुप्ति का उदाहरण–यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से मिलकर न बाहर का कुछ देखता है भीतर का यहां जीव और और परमेश्वर का भेद बताया गया है। यहां पुरुष का अर्थ जीव है। क्योंकि जानने क्रिया अर्थात् वह न बाहर की बात जानता और न भीतर की।[2]

ये उपरोक्त उद्धरण भेद रूप में शांकर भाष्य में आये हैं। अतः आचार्य शंकर ने जो अभेद सिद्ध करने का प्रयास किया है, वह एक प्रकार से असफल प्रतीत होता रहा है। क्योंकि वेदान्त दर्शन में भेद प्रतिपादक सूत्रों का अर्थ आचार्य शंकर भी अभेद प्रतिपादन करने में सफल हुए प्रतीत नहीं होते हैं। स्वयं भेद का प्रतिपादन करने पर भी आचार्य शंकर एक ही औषधि द्वारा उपचार करने का प्रयास करते है कि व्याख्यान व्यवहार काल का है या अभेद प्रतिपादक श्रुतियों का क्या होगा? परतु प्रश्न यह है कि वेदान्त दर्शन और उपनिषदों की मूल भाषा में कहीं पर भी व्यवहार काल और पारमार्थिकाल का संकेत मात्र भी उपलब्ध नहीं होता है। वेदान्त दर्शन में ऐसे बहुत से सूत्र अवश्य आये हैं जिसका अद्वैत परक व्याख्या करना संभव प्रतीत नहीं होता। उन सूत्रों की व्याख्या इस प्रकार है. यह व्याख्या कुछ के अन्तर के साथ सभी आचार्यों को मान्य है।

१—ब्रह्म से अन्य जीवात्मा आनन्दयुक्त नहीं है। क्योंकि उपपत्ति मुक्ति द्वारा इसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है।[3]

२—भेद का कथन होने से जीवात्मा और ब्रह्म में भेद यह कहकर बतलाया गया है कि जीवात्मा आनन्दमय नहीं है।[4]

१—न तावत् सर्वप्राणिहृदय सम्बन्धाचशरीरवद्——एतस्माद् अनयोर्विशेष्दैकस्यभोगेन इतस्य (शा० भा० १।२।८)।

२—सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शारीराद् भेदेन् परमेश्वरस्य व्यपदेशात् (शां०भा० १।३।४२)॥

३—नेतरो अनपुयतेः (वे० द० १।१।१६)॥

४—भेदव्यपदेशाच्च (१।१।१७)॥

युगों से चली आ रही शिक्षा : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

प्राचीन शिक्षा के प्रतिमान

[नोट—यह शोध पत्र डॉ० हर्षनारायण ने हमारे विश्वविद्यालय की राष्ट्रीय संगोष्ठ में वाचन किया था। सम्पादक]

डा० हर्षनारायण

वैदिक जीवन-दृष्टि के अनुसार मनुष्य के तीन जन्म होते हैं, तीन प्रकार के जन्म, जिन्हें **शतपथ ब्राह्मण**' में इस प्रकार निरूपित किया गया है—त्रिह वै पुरुषों जायते। एतद् नु एव मातुश् चाधि पितुश् चाग्रे जायते, अथ यं यज्ञ उपनयति स यद् यजते तद् द्वितीयं जायते, अथ तत्र म्रियते तत्रैनामग्नावभ्याद-धति स यत् ततस् सम्भवति तत् तृतीयं जायते।' अर्थात् प्रथम जन्म माता-पिता के प्रति माता के गर्भ से होता है। यह जन्म सर्वसाधारण है, सभी मनुष्यों का होता है। द्वितीय जन्म यज्ञ द्वारा होता है और तृतीय जन्म पुन-र्जन्म है जो मरने और अग्नि को समर्पित होने के बाद मनुष्य को प्राप्त होता है। बृहन्नारदीय-पुरान में तीन जन्म किंचिद् भेद के साथ कथित हैं :—

'ब्राह्मणः, क्षत्रियो, वैश्यो द्विजाः प्रास्तास् त्रिजास् तथा'
'मात्रतश्, चौपनयाद्, दीक्षाया जन्म वै क्रमात्।'[1] क

यह तीसरा जन्म भी सर्वसाधारण हैं। इनमें से तृतीय जन्म वाच्यार्थतः जन्मान्तर है, इस जीवन के बाद घटित होने वाला है, अतः प्रथम दो जन्म इस जीवन में महत्वपूर्ण हो जाते हैं, । जिनके ये दोनों जन्म सिद्ध हो जाते हैं वे द्विज अथवा द्विजाति कहे जाते हैं और शेष एक जाति। शास्त्रानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाद्विजाति हैं, जबकि शूद्र एकजा एकजाति—

ब्राह्मणः, क्षत्रिया, वैश्यास् त्रयो वर्णा द्विजातयः'
'चतुर्थ एकजातिस् तु शूद्रोः, नास्ति तु पंचमः।'[2]

प्रथम जन्म तो सभी प्राणियों का होता है, द्वितीय जन्म ही मनुष्य-कारक है, वास्तविक है, स्थायी महत्व का है—

'आचार्यस् त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः'
'उत्पादयति सावित्र्या सा सत्यां सा जरा-मरा।'[3]

इस द्वितीय जन्म के विषय में **अथर्ववेद** की काव्यमयी उक्ति है—

'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'
'तं रात्रीस् तिस्त्र उदरे विभर्ति, तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः'।[4]

अर्थात् आचार्य ब्रह्मचारी (छात्र) को, उसका उपनयन-संस्कार करते हुए तीन रात अपने गर्भ में धारण करता है और इस प्रकार से उत्पन्न ब्रह्मचारी को देखने के लिए देवता भी दौड़ पड़ते हैं।

द्वितीय जन्म की तुलना में प्रथम जन्म का कितना कम महत्व है, यह **'शतपथ ब्राह्मण'** के अधोलिखित वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है—

'मनद्धेव वा अस्यातःपुरा जानं भवति। इदंह्याहुः रक्षांसि योषितमनुसचन्ते, तदुत रक्षास्येव रेत आदधतीति। अथात्राद्धा जायते यो ब्रह्मणो यो यज्ञात्। तस्मादपि राजन्यं वा वैश्या वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्, ब्राह्मणं हि जायते याँ यज्ञाज् जायते।[5]

अर्थात् उपनयन अथवा दीक्षान्त के पूर्व जो जन्म हुआ होता है वह वस्तुतः अविनिश्चित ही होता है। कहते हैं कि उस जन्म में राक्षसों के वीर्य का भी सम्मिश्रण रहता है। अतः वास्तविक जन्म वह है जो ब्रह्म (वेद) और यज्ञ द्वारा सम्पन्न होता है। और चूंकि ब्राह्मणक्षत्रिय और वैश्य, ब्रह्म और यज्ञ से भी उत्पन्न होते हैं, अतः क्षत्रिय और वैश्य को भी ब्राह्मण कह सकते हैं।

अस्तु छात्र की महिमा **अथर्ववेद** की उपर्युदाहृत इस उक्ति से भलीभांति प्रकट होती है कि उसे उपनीत होकर निकलते देखने के लिए देवता दौड़ पड़ते हैं। **भारद्वाज गृह्यसूत्र** में तो यहां तक कहा गया है कि समावर्तन-संस्कार के पूर्व ब्रह्मचारी प्रातःकाल एक कमरे में बन्द करा दिया जाता था, ताकि उसकी

ज्योति सूर्य की ज्योति को लज्जित न कर दे ।[६] वस्तुतः विद्यार्थी के मार्ग से राजा भी हट जाता था ।[७]

वस्तुतः प्रथम जन्म प्रकृति में होता है और द्वितीय जन्म संस्कृति में, प्रथम जन्म प्राकृतिक होता है और द्वितीय जन्म सांस्कृति और संस्कृति ही मनुष्य को अन्य प्राणियों से भिन्न करती है । वैदिक परम्परा के अनुसार मनुष्य का संस्कृति में जन्म उपनयन-संस्कार, यज्ञोपवीत-संस्कार से होता है । यह संस्कार संस्कृति शिक्षा, आचार्यकुल अथवा गुरुकुल के लिए प्रवेशपत्र है । यह प्रवेश-पत्र व्रतहीनों के लिए नहीं है, उनके लिए है जो संस्कृति के लिए व्रत लेने को तैयार हों, सस्कृति के प्रति प्रतिश्रुत और प्रतिबद्ध हों, अनृत से सत्य की और संक्रमण की निष्ठा रखते हों, जिसका संकेत अधोलिखित वेद-मन्त्र में पाया जाता है ।

'अग्ने (व्रतपते) व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं, तन् मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ।'[८]

व्रत से ही दीक्षा प्राप्त होती है, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य--

'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्'
'दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते ।'[९]

विद्या का व्रत प्राचीन काल में प्रायः 'द्विजो' (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों) के लिए प्रतिपादित था । वस्तुतः उक्त तीन वर्ण द्विज इसी लिए कहलाते थे कि उनका उपनयन, यज्ञोपवीत और व्रत द्वारा दूसरा जन्म सम्पन्न होता था । बोधायन-गृह्यसूत्र रथकार (बढ़ई) के लिए भी उपनयन का द्वार खोलता है ।[१०] (रथकार वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान का अभिधान है)। महाभारत से सूचना मिलती है कि अति प्राचीनकाल में चण्डालों को भी वेद-श्रवण (वेदाध्ययन) का अधिकार था ।

बौधायन गृह्यसूत्र—रथकार (बढ़ई) के लिए भी उपनयन का द्वार खोलता है[१०] । (रथकार वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान का अभिधान है) ।

महाभारत से सूचना मिलती है कि अति प्राचीनकाल में चण्डालों को भी वेद-श्रवण (वेदाध्ययन) का अधिकार था—

पुरा वेदान् ब्राह्मणा ग्राममध्ये घुष्टस्वरा वृषलान् श्रावयन्ति[११]।

महाभारत के अधोलिखित श्लोक से भी यही सिद्ध होता--

सर्वं वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मणाश् च सर्वं नित्यं व्याहरन्ते त ब्रह्म।
तत्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि, सर्वं विश्वं ब्रह्म चैतत् समस्तम्[१२]॥

अहिर्बुध्न्य-संहिता च रों वर्णों की वेदाध्ययन का अधिकार देती है—

ये हि ब्रह्ममुखादिभ्यां वर्णाश् चत्वार उद्गताः।
ते सम्यगधिकुर्वन्ति त्रय्यादीनां चतुष्टयम्[१३]॥

जैमिनि से प्राचीनतर मीमाँसूत्रकार बादरि वैदिक धर्म-कर्म में शूद्र का अधिकार मानते थे—'निमितार्थेन बादरिः, तस्मात् सर्वाधिकारं स्यात्[१४]।

भारद्वाज-श्रौतसूत्र के अनुसार किन्ही आचार्यों का मत है कि शूद्र भी तीनों वैदिक अग्नियां जला सकता है[१५]।

लघुविष्णुस्मृति पञ्चमहायज्ञ का अधिकार शूद्र को देती है—

पञ्चयज्ञविधानं तु सुद्रस्यापि विधीयते[१६]।

वृद्धहारीत-स्मृति शूद्र को भी मन्त्राधिकार देती है—

मन्त्राधिकारिणः सर्व, हननन्यशरणा यदि[१७]।

महाभारत में शूद्र-सहित चारों वर्णों के वेदाधिकार के सम्बन्ध में एक वाक्य भी प्राप्त होता है—

श्रावमेच् चतुरों वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।
वेदस्याध्ययनं ह दं, तच् च कार्यं महत् स्मृतम्[१८]॥

और यजुर्वेद में अत्यन्त सुस्पष्ट शब्दावली में मन्त्राधिकार शूद्र आदि सब को दिया गया है— 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानी जनेभ्यः। ब्रह्म-राजन्याभ्यां, शूद्राय, चार्याय च, स्वाय, चारणाय च[१९]।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि यद्यपि शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार सामान्यतः वर्जित, तथापि ऐसे आचार्य हो गये हैं, जिन्होंने वेदाध्ययन का द्वार शूद्र के लिए खोलने का उपक्रम किया।

स्वामी दयानन्द ने एक स्थान पर लिखा है, और जो कुलीन शुभ लक्षण युक्त शूद्र हो, तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे। शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन करे. परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्यों का है[20]। हमें उन आचार्यों का पता नहीं।

स्त्रियों के वेदाध्ययन आदि को लेकर भी प्राचीनों में मतभेद पाया जाता है। पुराण आदि में शूद्र के साथ-साथ स्त्री की भी वेदाध्ययन का निषेध किया गया है।

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्[21]॥

किन्तु अति प्राचीनकाल में स्त्री का यज्ञोपवीत भी होता था और उसे वेदाध्ययन तथा गायत्री का भी अधिकार था—

पुराकल्पेषु नारीणां मौन्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां, सावित्रीवचनं तथा[22]॥

अथर्ववेद में कन्या के लिए भी ब्रह्मचर्य के बाद विवाह का विधान है—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्[23]।

स्कन्दपुराण की अंगभूत सूत्रसंहिता के कण्वत: स्वीकार किया गया है कि वेदाभ्यास का अधिकार द्विज स्त्रियों को भी है—

द्विजस्त्रीणामपि श्रौतलानाभ्यासेऽधिकारिता[24]।

कहीं-कहीं यज्ञोपवीतनी कन्या का भी उल्लेख है,[25] और वह भी आता है कि पति के साथ पत्नी भी वेद पाठ करे[26]। और गौभिल-गृह्यसूत्र में यह बात साफ की गई है कि पत्नी बिना पढ़े हवन नहीं कर सकती, न ह श्रनघीत्य शक्नोति पत्नी होतुम[27]। सब सम्प्रदाय में अधोलिखित श्लोक प्रचलित है—

आहुरप्युतवस्त्रीणामधिकारं तु वैदिके।
यथावर्णोऽप्यमो चैव शज्ञायाज च तथापरा:[28]॥

हारीत-स्मृति दो प्रकार की स्त्रियां मानी गयी हैं—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू। ब्रह्मवादिनी को उपनयन, अग्नीबन्धा और स्वगृह में भिक्षाचर्या

का अधिकार है, जबकि सद्योवधू का उपनयन नहीं होती– द्विविधा हि स्त्रियः ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च च । तत्र ब्रह्मवादिनामप्युपनयनं, अग्निन्धनं, स्वगृहे भिक्षाचर्यं च । सद्योवधूनामुनयनम् कृत्वा विवाहः कार्यः[२६] ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शूद्रों और स्त्रियों के उपनयनाधिकार और वेदाध्ययाधिकार को लेकर प्राचीनकाल में दोनों परस्पर विरोधी मत प्रचलित थे ।

किन्तु यह मतभेद केवल वेदाध्ययन के सम्बन्ध में था, अध्ययन मात्र के सम्बन्ध में नहीं । अन्य प्रकार के अध्ययन में सैद्धान्तिक रूप से प्रायः सबको अधिकार था, यहां तक कि ब्रह्मविद्या में भी । जो शंकराचार्य शूद्र के लिए वेदाध्यन का बलपूर्वक निषेध करते हैं वेद-मन्त्र सुनने मात्र से शूद्र के कान लाख और सीसे से भर देने को **गौतम-धर्मसूत्र** में प्रतिपादित परम्परा का अनुमोदन उल्लेख करते हैं,[३०] वे ही विदुर, धर्मव्याध आदि को आत्मज्ञानी,[३१] तथा वाचक्नवी, रैक्व आदि को ब्रह्मज्ञानी[३२] मानते हैं, जबकि ये सब या तो शूद्र या शूद्रोत्पन्न हैं या अज्ञातजन्मा ।

एक बात और स्पष्ट है । सम्पूर्ण भारतीय निगमागम में सहशिक्षा की कोई कल्पना नहीं है । वस्तुतः केवल पुरुषों के आचार्यकुलों, गुरुकुलों की सूचना प्राप्त होती है । आचार्य से ही दो स्त्रीलिंग शब्द बनते हैं—आचार्यानी और आचार्या । आचार्यानी का अर्थ तो आचार्य-पत्नी है,[३३] किन्तु आचार्या को आचार्य के समकक्ष अवश्य माना जाता है । वस्तुतः वैयाकरण 'आचार्या' शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं, 'आचर्यस्य स्त्री आचार्यानी । आचार्या स्वयंव्याख्यात्री[३४] । और ऊपर टिप्पणी-२२ में जिस श्लोक का हवाला दिया गया है उसे उद्‌घृत करते हुये कहते हैं कि प्राचीनकाल में जो ब्रह्मवादिनी स्त्रियां हो गई हैं उन्हीं का लक्ष्य करके उपाध्यायो और आचार्य शब्द बनाये गये हैं[३५] । इससे स्पष्ट हो जाता है कि कभी स्त्रियां आचार्य भी हुआ करती थीं, और आचार्य की परिभाषा मनुस्मृति में इस प्रकार की गई है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्‌ द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते[३६] ।।

अर्थात् वेद का अध्यापक आचार्य कहलाता था, अतः वेद की अध्यापिका आचार्या कहीं जाती थी । तथापि उनको अध्यापन-संस्था अथवा अध्यापन-

प्रक्रिया आदि के विषय में, जहाँ तक हमें पता है, परम्परा मौन है। ऐसा नहीं सुना जाता कि अमुक कन्या यज्ञोपवीतनी अथवा उपनीत होकर किसी आचार्या के कुल में अध्ययनार्थ गयी हो।

यही दशा 'उपाध्यायी' शब्द की है। उपाध्यायानी उपाध्याय-पत्नी और उपाध्यायी स्वयं व्याख्यात्री। ऊपर टिप्पणी ३३ से ३५ तक दिये हुए सन्दर्भों में इस पर भी उसी प्रकार विचार हुआ। उपाध्याय को परिभाषा देते हुए मनु कहते हैं कि जो वेद का केवल एक अंश अथवा वेदान्त पढ़ाये और वह भी वृत्ति लेकर, उसे उपाध्याय कहते हैं--

एकदेशं तु वेदस्य वेदाँगान्यपि वा पुनः।
यो ध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते[३७] ॥

उपाध्यायी के विषय में वही प्रश्न उठता है जो आचार्या के प्रसंग में अभी उठाया गया है।

यह प्रसंगतः यह भी उल्लेखनीय है कि वृत्ति लेकर विद्या-दान को प्राचीन काल में निन्दनीय माना जाता था। शास्त्र-विक्रयी की निन्दा सर्वत्र है। कालिदास ज्ञान बेचने वाले को वणिक् घोषित करते हैं।

यस्यागमः केवल-जीविकायै तं ज्ञानपरायं वणिजं वदन्ति[३८]।

अस्तु, छात्र दो प्रकार के होते थे-- (१) अन्तेवासी, अथवा 'आचार्य-कुलवासी[४०] और (२) 'दण्डमाणव'[४१]-जैसे आजकल के छात्रावासी और दैनन्दिन विद्यार्थी।

प्राचीनकाल में पाठ्यक्रम तीन प्रकार का था-- (२) वेद-विद्या। वयो-विद्या, (२) धर्मशास्त्र-मोक्षशास्त्र और (३) लोकायत (सैक्युलर)। वेदाध्ययन चरणों में और शाखाओं में होता था। वेद के अनेक चरण, अनेक शाखाएं बन गये। प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध विशालकाय वांगमय बन गया-- अनुशाखा, ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, आरण्यक, निषद्, उपनिषद्, कल्प, अनुकल्प, शाखाध्यायिनी स्त्रियां भी होती थीं। कठशाखाध्यायिनी 'कठी' इत्यादि[४२] वेद-विद्या। त्रयो-विद्या का प्रचार-प्रसार मुख्यतः ब्राह्मणों में रहा। राजाओं के लिए भी इस विद्या का अध्ययन शास्त्रतः अनिवार्य था, यद्यपि व्यवहार में इस प्रकार का राजन्य-वर्ग के बीच घटता गया है। धर्मशास्त्र का प्रचार

ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों में था। मोक्षशास्त्र की शिक्षा-दीक्षा में क्षत्रिय एक समय, उपनिषत्काल में ब्राह्मणों से बाजी मार ले गये। **छान्दोग्योपनिषद्** में ब्रह्मविद्या विशेष के सम्बन्ध में राजा प्रवाहण जैवलि के मुख से ब्रह्मर्षि गौतम के प्रति कहलाया है, 'इयं न प्राक् त्वतः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति'[४३]। **बृहदारण्यकोपनिषद्** में भी कहा गया है. 'इयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिश्चन ब्राह्मण उवास'[४४]। **गीता** में कृष्ण का वक्तव्य है कि उनके द्वारा उपदिष्ट कर्मयोग राजर्षि परम्परा में ही प्रचार-प्रसार को प्राप्त हुआ[४५]। इस विद्या में आगे चलकर श्रमणों ने भी पर्याप्त योगदान किया। इसी में आन्वीक्षिकी, दर्शनशास्त्र अथवा तर्कशास्त्र का भी विकास हुआ हुआ, जिसे ब्राह्मण आरम्भ में शंका की दृष्टि से देखते थे। काश्यप के प्रति श्रृगालत्वापन्न इन्द्र की उक्ति **महाभारत** में इस प्रकार है--

> **अहमासं पण्डितको, हैतुको वेदनिन्दकः।**
> **आन्वीक्षिकों तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥**
> **हेतुवादान् प्रवदिता, वक्ता संसत्सु हेतुमत्।**
> **आक्रोष्टा, चाभिवक्ता च ब्रह्मवाक्येषु च द्विजान् ॥**
> **'नास्तिकः' सर्वशंकी च, मूर्खः, पण्डितमानिकः,**
> **'तस्येयं फलनिर्वृतिः श्रृगालत्वं मम द्विज।'[४६]**

लोकायत बाद में चलकर चार्वाक का पर्याय बन गया, परन्तु मूलतः वह लौकिक विद्यात्मक शास्त्रसम्भार के रूप में उद्भावित हुआ था। वैदिक ब्राह्मणों और धर्म दर्शनज्ञ ब्राह्मणों, क्षत्रियों और श्रमणों को समता में लोकायतिक ब्राह्मणों का भी एक वर्ग बन गया था। रामायण में राम, भरत से प्रजा का कुशल-मंगल पूछते हुए लोकायतिक ब्राह्मणों का भी कुशल-क्षेम पूछते हैं, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि उसी सन्दर्भ में उनके प्रति निन्दा का स्वर पीछे से मिला दिया गया है—

> **'कच्चिन् न लोकायतिकान् ब्राह्मणान् तात सेवसे ?**
> **'अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः।'[४७]**

जो विद्यायें पढ़ाई जाती थीं उनकी सूचियां प्राप्त होती हैं। राजन्य वर्ग के लिए आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्कशास्त्र, वेदत्रयी, वार्ता अर्थात् आनके शब्दों में अर्थशास्त्र, और दण्डनीति अर्थात् राजनीति—ये चार विद्याएं निर्धारित थीं।

विद्याओं की दो लम्बी सूचियां हैं, एक चौदह की और दूसरी अट्ठारह की। चौदह विद्याओं की गणना इस प्रकार की गई--

'पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्रांग-मिश्रिताः,
'वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।'[९]

अर्थात् पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र छह वेदाग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) और चार वेद-यही चौदह विद्याएं हैं। इनमें चार उपवेद जोड़ दें तो संख्या अट्ठारह हो जाती है--

'अंगानि वेदाश् चत्वारो, मीमांसा, न्यायविस्तरः,
पुराण, धर्मशास्त्रं च-विद्या ह्येताश् चतुर्दश।
'आयुर्वेदः, धनुर्वेदः, गान्धर्वश चैव ते त्रयः,
'अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु-विद्या ह्यष्टादशैव ताः।'[१०]

उपवेद और भी हैं जिनकी गणना नहीं की गई है। वे प्रायः सभी लौकिकविद्या विषयक हैं। हम समझते हैं कि लोकायत-परम्परा का मूल उपवेद ही हैं। इसी लिए इसके अध्येता पहले ब्राह्मण हुए, जिनकी संज्ञा लोकायतिक ब्राह्मण पड़ी। बाद में उन्होंने अन्यों को दीक्षा दी और लोकायत-परम्परा वर्णाश्रम-सांकर्य द्वारा अन्ततः चार्वाक के रूप में परिणत हो गयी। नारद ने जिन विद्याओं का अध्ययन किया था उनकी सूची इस प्रकार है-'ऋग्वेदं भगवो। प्रध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं निधिं, वाकोवाक्यमेकायनं, देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, नक्षत्र विद्यां, सर्पदेवजन-विद्याम्।'[११]

प्राचीन शिक्षा के विषय में एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कम से कम वेद-विद्या और धर्मशास्त्र-मोक्षशास्त्र की शिक्षा का उद्देश्य केवल बुद्धि का संस्कार नहीं था, पूरे व्यक्तित्व का संस्कार था। निरुक्त में उदाहृत संहितोपनिषद्ब्राह्मण तथा वसिष्ठ-स्मृति का वचन है--

विद्या हवै ब्रह्मणमाजगाम, गोपाय मा शेवधिष् टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयतताय न मा ब्रूया, वीर्यवती यथास्याम्।'[१२]

अर्थात् विद्या ब्राह्मण के पास आयी और बोली, मेरी रक्षा करो। तुम यदि मुझे हृष्ट-पुष्ट देखना चाहते हो तो मुझे ईर्ष्याद्वेष से आक्रान्त, बेईमान और असंयमी के पास न भेजना।

ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए आचार्य के आदेश पर वर्षों ब्रह्मचर्यवास करना पड़ता था, तपस्या और श्रम करना पड़ता, जैसा नचिकेता के उपाख्यान से ज्ञात होता है। वेदान्त आदि शास्त्र पढ़ने के लिए साधनाएं निर्धारित की जाती थीं। शंकराचार्य ने उनका समाहार साधन-चतुष्टय में किया है। षट्कसम्पत्ति (शम, दम उपरति वितिक्षा, समाधि और श्रद्धा), नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग और मुमुक्षुत्व।'[५३]

किन्तु यह एक प्रकार की धर्मशिक्षा है, जो उच्चतर शिक्षा को अनिवार्य पूर्वपीठिका थी। आज भी धर्मशिक्षा की बात उठती हैं. किन्हीं विश्वविद्यालयों में इसकी व्यवस्था भी यत्किंचित् है, किन्तु वैसे ही जैसे कि शराब में गंगाजल अकबर इलाहाबादी का शेर है—

> **नयी तालीम में भी मजहबी तालीम शामिल है,**
> **मगर यूंही कि जैसे आवेजम्जम में मैं दाखिल है।**

इसके अतिरिक्त धर्मशिक्षा का व्यावहारिक रूप तो आज सोचा भी नहीं जा रहा है।

किन्तु प्राचीन शिक्षा में, इसके कारण और अन्यथा भी अति गोपनीयता की प्रवृत्ति बढ़ गयी थी, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-सारा ज्ञान-विज्ञान आचार्यों अथवा उनके इने-गिने शिष्यों के साथ ही लुप्त हो गया।

वैदिक शिक्षा सदा मासिक हुआ करता थी। लिखित-पाठक की निन्दा की गयी है—

> **'गीती, शीघ्री, शिरस्कम्बी, तथा लिखित-पाठकः,**
> **'अनर्थज्ञो, ऽल्पकण्ठश् च—षडेते पाठकाधमाः।'[५४]**

नियम से मौखिक वेदाध्ययनाध्यापन का परिणाम यह हुआ कि वैदिक संहिताओं में पाठभेद, उच्चारणभेद, संस्करणभेद आदि अनेक भेद उत्पन्न हो गये और तीन-चार के स्थान पर ग्यारह सौ तीस इकत्तीस अथवा इससे भी अधिक संहिताएं अस्तित्व में आ गयीं। साथ ही साथ इनमें प्रायः प्रत्येक ने अपने-अपने स्वतन्त्र ब्राह्मण अनुब्राह्मण, आरण्यक, निषदें, उपनिषदें, कल्प और अनुकल्प उद्भावित कर लिए। वस्तुतः इस प्रकार इतना विशाल वैदिक वाङ्मय उपस्थित हो गया, जो अध्येताओं और अध्यापकों के नियन्त्रण से

बाहर हो गया, विशेषतः उनके मौखिक अध्ययनाध्यापद के आग्रह के कारण। फलतः अनेक शाखाओं की अध्येना-अध्यापयिता नहीं मिले, और अधिकतर उनका लोप हो गया। आज हमें केवल ग्यारह पूर्ण संहिताएं और एक अपूर्ण संहिता प्राप्त होती है। ब्राह्मण और आरण्यकं उससे भी कम मिलते हैं। कल्पसूत्रों की भी यही दशा है। उपनिषदें कुल लगभग सवा दो सौ प्राप्त होती हैं जिनमें से अधिक से अधिक बीस हो प्राचीन हैं।

वैदिक ग्रन्थ राशि कण्ठस्थ करते-करते अध्येताओं की आयु का बड़ा भाग व्यतीत हो गया था, और प्राचीन सन्दभ के अनुशोलन से पता चलता है कि यह भी प्रवाद प्रचलित हो चला था कि इससे बुद्धि पर भी कुप्रभाव पड़ता है। युधिष्ठिर के प्रति भीम कह जाते हैं—

'श्रोत्रियस्येव ते राजन्। मन्दकस्याविपश्चितः,
'अनुवाक हता बुद्धिर् नैषा तत्वार्थदर्शिनी।'[५५]

यहां युधिष्ठर के प्रति खीझ के कारण भीम उनकी बुद्धि की उपमा श्रोत्रिय की मन्द वेदवाक्यों से कुण्ठित बुद्धि से देते हैं। कालिदास पुरूरवा के मुख से उर्वशी के रूप लावण्य का वखान कराते-कराते यहां तक कहवा गये हैं कि ऐसा मनोहर रूप वेदाभ्यासः जड़ ब्रह्मा भला कैसे रच सकते हैं—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच् चन्द्रो नु कान्तिप्रदः।
श्रृंगारैकरसः स्वयं नु मदनः। मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यास–जड़ः कथं नु विषयव्यावृत्तकोतूहलः,
निर्मातुं प्रभवेन् मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।[५६]

कुछ ऐसो हो बात श्रीमद्भागवत के अधीलिखित श्लोक में भी कही गई है—

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनाऽयं,
देव्या विभोहितमतिर् बत। माययाऽलम्।

त्रययां जड़ोकृतमतिर मधुपुष्पितायां,
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः।'[५७]

इन परिस्थितियों, में, यदि वैदिक ज्ञान-विज्ञान के लोप की स्थिति आ पहुँचो हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र का अध्ययननाध्यापन भी अधिकतर मौखिक ही था। तदर्थ सूत्र बने, फिर उनपर भाष्य, वार्तिक, वृत्ति, टीका आदि व्याख्या ग्रन्थों की रचना हुई। स्मरण-सौन्दर्य के लिए काठिकाएं भी लिखीं गयीं। लिपिबद्ध करने का चलन कम होने के कारण अनेक ग्रन्थ उनके रचयिताओं-अध्येताओं के साथ ही कालकवलित हो गये। हमें तो अब केवल बची-खुची ग्रन्थराशि उपलब्ध है।

लोकायत, लौकिक विषयों से सम्बद्ध साहित्य की भी यही दशा है। उप-वेदों का तो अब केवल नाम ही रह गया है।

यहां यह उल्लेख्य है कि यहां कभी भूवदेव अपर नाम कर्णीसुत–करण्टक रचित स्तेयशास्त्र भी हुआ करता था।'[४८] इस प्रकार के अन्य ग्रन्थ भी थे। पता नहीं उनके अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था थी या नहीं।

बौद्धों के उत्कर्ष-युग में नालन्दा, विक्रमशिला और उदन्तपुरी जैसे विश्व-विद्यालयों की परम्परा का पता चलता है। नालन्दा में प्रवेश के लिए प्रखर पाण्डित्य की शर्त थी। प्रवेशार्थी का द्वार-पण्डितों से शास्त्रार्थ करके अपनी अर्हता सिद्ध करनी पड़ती थीं। वह आज की अपेक्षा अधिक सही अर्थों में उच्च-शिक्षा का केन्द्र था।

मानवीय मूल्य और समाज में अन्तः सम्बन्ध

के० गोपाल

समाजशास्त्र, विभाग मेरठ विश्वविद्यालय-मेरठ

सम्बन्धों के ताने-बाने के अतिरिक्त और समाज है ही क्या ? हम जिसे अपना समाज कहते है, वह एक सामान्यतया छोटी मानव-समूह है, जो हमारे व्यवहारों के प्रति चेतन है, जिसकी अपने प्रति सकारात्मक प्रतिक्रिया हम चाहते हैं और जिसकी नकारात्मक दृष्टि हमें झकझोर देती है। यह वही समूह है—जिससे हम अपने व्यवहार प्रतिमान की मान्यता की अपेक्षा करते हैं। वास्तव में इसी समूह का व्यवहार प्रतिमान हम अनौपचारिक-औपचारिक ढंग से सामाजीकरण द्वारा आत्मसात् कर लेते हैं। और यही व्यवहार प्रतिमान हमारा अपना हो जाता है।

व्यवहार के किसी प्रतिमान से मान्यता देना या नकारना किसी समाज की मूल्य व्यवस्था या मूल्य संरचना पर निर्भर है। किसी समाज की मूल्य संरचना उस समाज में व्यक्ति या मानव के प्रति समाज की प्रतिक्रिया पर निर्भर है। उस समाज में मनुष्य का स्थान क्या है ? मानव जीवन के प्रति वह समाज क्या विचार रखता है ? व्यक्ति की स्वतन्त्रता या समाज का अंकुश कौन अधिक महत्वपूर्ण है ? समाज प्रत्येक मनुष्य को समान समझता है या उसमें लिंग, आयु, सम्पदा, शिक्षा, वैभव आदि के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति में भेद किया जायेगा ? आदि मूल्यों पर आधारित मूल प्रश्न है जो किसी सामाजिक संरचना की छवि बनाते हैं। मूल्यों का ताना-बाना इसी छोटे समूह से चलकर वृहत् समूह तक पहुंचता है। परिवार से चलकर पड़ौस, मोहल्ला, नगर क्षेत्र राज्य होता हुआ राष्ट्र तक पहुंचता है। अतः यह एक निरन्तर क्रम है। परिवार के आंचल में सीखे हुवे मूल्य व्यक्तित्व के अभिन्न अङ्ग बनकर राष्ट्र और सम्पूर्ण मानव समाज पर लागू किये जाते है। वास्तव में वृहत् समाज के लिए हमारी तैयारी परिवार द्वारा ही होती है। अतः कुण्ठाग्रस्त मानव जाति या समाज कुण्ठाग्रस्त परिवार की परिणति है। तर्क को दूसरी

ओर से समझते हुये चित्र कुछ ऐसा होगा। विश्व मानव-समाज अपने मूल्य राष्ट्रों को देगा, वे राज्यों और नगरों के क्षेत्रों, मौहल्लों से होते हुये परिवार तक आ जायेंगे चक्र-परिवार की ओर से चले या ऊपर से चले या ऊपर से चले या ऊपर से अन्तिम व्याख्या में व्यक्ति और समाज प्रभावित होंगे।

किसी भी विषय पर उपयोगी चिन्तन के लिए विषय को सीमित दायरे में देखना अधिक समीचीन होता है अन्यथा अनावश्यक सामान्यी करण गहनता समाप्त हो जाती है। इसी उद्देश्य से मैं सम्पूर्ण मानवीय परिपेक्ष में न देखकर विषय को सीमित भारतीय परिपेक्ष में ही देखना चाहूंगा। यद्यपि यह भी काफी विशाल क्षेत्र है। जब कभी मानवीय मूल्यों की पृष्ठभूमि में मैं भारतीय समाज पर चिन्तन करने को विवश होता हूँ, तो अनुभव सुखद नहीं होता।

भारतीय-समाज एक मिलावट प्रधान (एडल्टेटिड) समाज है। इनमें दूध से दवा तक, विद्यार्थी से शिक्षक तक (छात्रावासों की तलाशी होने पर उनमें अपराधियों के अड्डों की तरह हथियार और बी० एड० में चयन होने के पश्चात् कितने ही भावी शिक्षकों को नकली अंक-तालिका देने पर, इनके प्रवेश रद्द किये गये। हर चीज में मिलावट मिलती है। गुरुद्वारे को सैनिक छावनी, मन्दिर को अपराधियों का शरण-स्थल, एक बहुधर्मी समाज में अल्पसंख्यक धर्मावलम्बी बहुसंख्यकों को सावजनिक वाहनों से उतारकर मौत के घाट उतार दे—यह सब भारत में ही सम्भव है, क्योंकि इस देश में अपराध एवं अनैतिकता के लिए पाचन-शक्ति अपूर्ण है। अपराध मात्र शब्दकोष की एक अवधारणा है। सामाजिक जीवन में अपराध एवं भ्रष्टाचार सामान्य व्यवहार प्रतिमान है। हाँ ! यदि कहीं इनके दर्शन न हों तो वह बात असामान्य लगती है। किसी एक समुदाय के लोग मात्र एक राजनैतिक दबाव बनाये रखने के लिए विमानों का अपहरण करें, निर्दोष सवारियों को घण्टों प्रतिपल मौत के भय में रखे कौन-सी मानवीय चेतना का प्रतीक है ? मैं नहीं समझ पाता।

वास्तविकता यह है कि सामान्य भारतीय समाज एक दुरंगा समाज है। जो एक प्रकार के मानवीय मूल्य बघारता है और उससे बिल्कुल प्रतिकूल मूल्य जीवन में व्यवहार में लाता है। यही कारण है कि गौतम और गाँधी के देश में सतीप्रथा, अस्पृश्यता, जातिप्रथा, दहेजप्रथा और सिद्धान्तहीन राजनीति वेहयाई के स्तर पर व्यवहार में लायी जाती है। उपमन्त्री विमान और विदेश

में महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार करके भी चुना जा सकता है (चाहे बाद में लीपा-पोती करके उसे हटाया जाए)। इस दुर्व्यवस्था का मेरा विश्लेषण निम्न है—

"किसी भी सामाजिक संरचना की आधारशिला उसका विवेक या मानस होता है, जिसका निर्माण शिक्षा द्वारा होता है। स्वतन्त्र भारत में अन्य क्षेत्रों की भांति संख्यात्मक विकास हुआ है। स्कूलों से विश्व विद्यालयों तक संख्या बढ़ी है, छात्र बढ़े हैं, अध्यापक बढ़े हैं, बी०ए०, एम०ए० व पी-एच०डी० की डिग्रियाँ बढ़ी हैं, लेकिन इन सबका गुणात्मक अवमूल्यन हुआ है। एक और उच्च शिक्षा के नाम पर "मैकाले" को कोसा गया लेकिन उसके बदले कोई प्रयास गम्भीरता से किया गया हो, ऐसा नजर नहीं आता। सेमेस्टर की एक भद्दी कॉपी करने की कोशिश की गई, लेकिन वह विफल रही। पिछले सैंतीस वर्षों में विश्वविद्यालयों की संख्या २० से बढ़कर १२० तो हो गई, लेकिन सभी में कुछ मिलाकर १२० ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व नहीं निकल पाये जो उनका संचालन कर सकें।

मैं अपने आपको सामान्यतया उच्च शिक्षा तक सीमित रखूंगा। स्वतन्त्र भारत में शिक्षा का व्यवसायीकरण किया गया। उसके मूल उद्देश्य को भुलाकर मात्र एक समय काटने का साधन बना दिया गया। उच्च शिक्षा-दर्शन एक दिशा विहीन है। उच्च शिक्षण संस्थाओं में लोग इसीलिए नहीं जाते क्योंकि उनकी रुचि उच्च शिक्षा में हैं। वरन् इसलिए जाना पड़ता है क्योंकि रोजगार न मिलने की स्थिति में क्या? अतः उच्च शिक्षा मात्र में बेरोजगारी के समय के काटने का एक साधन है। इस तरह के बेमानी लोग बोझिल वातावरण की सृष्टि करते हैं।

यदि स्वतन्त्र भारत का कोई जीवन दर्शन मान भी लिया जाये, जिसे सामाजिक मूल्य दर्शन कहा जाये तो हमारी उच्च शिक्षा उस जीवन-दर्शन से जुड़ी हुई नहीं है। स्वतन्त्र भारत ने अपना सामाजिक दर्शन अपने संविधान में व्यक्त किया है। जिसमें इस राष्ट्र को प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य कहा गया, जिसमें भेदभाव रहित स्वतन्त्रता हर नागरिक का अधिकार होगी। इस धर्म-निरपेक्ष राज्य में प्रत्येक व्यक्ति कानून के सम्मुख समान है। इसलिए पीढ़ियों से चली आ रही अस्पर्श्यता, जातीय भेदभाव, लैंगिक असमानता धर्म-स्थलों पर प्रवेश में भेदभाव, आदि को समाप्त करने का प्रयास संवैधानिक

ढंग से किया गया। सामाजिक कानूनों द्वारा समाज में समानता लाने का प्रयास किया गया। सदियों से पीड़ित निम्न वर्गों को आरक्षण प्रदान किया गया, ताकि उनका विकास हो सके, और तो और शोषण एवं उत्पीड़न की प्रतीक जमींदारी एवं रजवाड़ों की प्रथा को समाप्त कर दिया गया।

शिक्षा के क्षेत्र में क्या हुआ ? मात्र संस्थाओं के नाम बदल गये। बलवंत राजपूत कालिज–राजा बलवंतसिंह कालिज हो गया, और जाट वैदिक कालिज जनता वैदिक कालेज। संरचना वही है, लोग वही है, लोगों की मानसिकता वही है। विश्वविद्यालयों में बस मौका भर मिलना चाहिए। जिस जाति का कुलपति, उपकुलपति होगा उसी के शिक्षक नियुक्त होंगे। जमींदारी और रजवाडे समाप्त हो गये, लेकिन शैक्षिक मठाधीशी (विभागाध्यक्ष के रूप में आजीवन एक विषय के अध्यक्ष पद पर आसनारूढ़ होकर उसमें अपना सिक्का चलाना) को बनाए रखने का हर साजिश बरकरार है। बन्धुआ मजदूरों को मुक्त किया जा रहा है, लेकिन इन शैक्षिक बन्धुआ मजदूरों का क्या होगा? इन पंक्तियों का लेखक उत्तर-प्रदेश आवासीय विश्वविद्यालयों शिक्षक महासंघ का सचिव है, जिसके नेतृत्व में गत २ अगस्त १९८४ से १ सितम्बर १९८४ तक आवासीय विश्वविद्यालयों में राज्यव्यापी हड़ताल रही है। इसकी अन्य मांगों में एक मांग विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष-पद का चक्रानुक्रम भी था। विश्वविद्यालयों में शैक्षिक प्रजातान्त्रीकरण की इस मांग का जितना संगठन विरोध (विभागाध्यक्षों) मठाधीशों महन्तों और उनके चेलों (चमचों) द्वारा किया गया है, लगभग वैसा ही व्यवहार जमींदारों और उनके लठैतों द्वारा किया जाता है, यदि जमींदारी उन्मूलन जनता की मांग पर होता।

विश्वविद्यालय मात्र डिग्री प्रदत्त करने वाली फैक्ट्री नहीं है। इसका उद्देश्य एक विश्वव्यापी व्यक्तित्व का निर्माण है। यह एक ऐसा स्थान है, जहां पढ़कर वैचारिक व्यापकता आनी चाहिए। लेकिन आये कैसे ? चन्द सत्ताधारी ठेकेदारों की तिजोरी में बन्द ज्ञान विकास होने दे, तब तो। यही लोग यह तय करते हैं कि क्या पढ़ाया जाये ? शोध कौन करेगा ? किस विषय पर करेगा ? किसके साथ करेगा ? सच तो यह है कि यह तब निश्चित हो जाता है कि भावी शिक्षक कौन होगा ? इन विभागीय कूचों में प्रतिभा ढाली जाती है। वास्तविक प्रतिभा को कुण्ठित कर दिया जाता है। रूप, जाति, राजनैतिक-सम्पर्क, विरासत और अन्त में सेवा भाव (चमचागिरी)

प्रतिभा का निर्णय करते हैं । विश्वविद्यालयों में अध्यापक पद जन-जातियों में सेवा विवाह से कहीं दुष्कर है । ऐसी अव्यवस्था जनित शिक्षा अव्यवस्थित समाज को ही जन्म दे सकती है और वही हो रहा है ।

अत: पहले इस पर मतैक्य हो कि हम कैसा समाज चाहते हैं, फिर उस समाज निर्माण के लिए उपयुक्त व्यक्तित्व का सृजन करना होगा । जिसके लिए व्यक्तित्व स्वार्थों से ऊपर उठकर सोचना पड़ेगा । इस प्रक्रिया में कितनी ही परम्पराओं की बलि देनी होगी ।

यदि हम यह मान लें कि स्वतन्त्र भारत ने अपने संविधान के माध्यम से अपने भावी समाज की कल्पना को साकार किया है तो इस दिशा में उठाये गए पग न ही उपयुक्त है और न ही पर्याप्त । यदि समाज को पाश्चात्य ढंग पर विकसित करना है, तो पाश्चात्य मशीन के साथ पाश्चात्य मानसिकता भी अपनानी होगी ।

मूल्य कभी एकाकी नहीं होते । मूल्यों का एक सम्पूर्ण संकुल होता है । यदि एक मूल्य मानना है तो उसके संकुल के अन्य मूल्य भी मानने होंगे । जैसे प्रजातन्त्र मात्र सरकार का प्रकार नहीं है । कोई भी प्रजातान्त्रिक सरकार तब तक प्रभावशाली ढंग से कार्य नहीं कर सकती जब तक प्रजातन्त्र को जीवन मूल्य न बना लिया जाये । इसका अर्थ यह हुआ कि जिस समाज में वैयक्तिक स्वतन्त्रता, व्यक्ति को निर्णय का अधिकार वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार वैयक्तिकता पर बिल नहीं दिया जायेगा, वहां प्रजातन्त्र का विकास नहीं हो सकता स्वाभाविक है कि वे समाज जिनमें संयुक्त परिवार प्रथा हो, जहां परिवार का मुखिया ही सबके लिए निर्णय लेता हो, प्रजातान्त्रिक मूल्य विकसित नहीं कर सकते । यही कारण है कि भारतवर्ष में प्रजातन्त्र तो है लेकिन हर क्षेत्र में एक मुखिया की तलाश रहती है या उसकी ओर आंखें टिकी रहती हैं । नेहरू के जीवन काल में ही यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ था कि नेहरू के बाद कौन ? आज हर समस्या का हल या हर समस्या की उत्पत्ति इन्दिरा जी से होती है । यह कौन सा प्रजातन्त्र है, जिसमें निर्णय का केन्द्र स्वयं व्यक्ति नहीं हैं । उसके लिए कोई और निर्णय लेता है ? लगभग हर क्षेत्र में यही हो रहा है । इसका बिल्कुल विपरीत एकतन्त्र होता है, जिसमें व्यक्ति को कोई स्वतन्त्रता नहीं होती ।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मानवीय-मूल्य और समाज में गहरा अन्त: सम्बन्ध है। हम जैसे मानवीय-मूल्यों को अपनावेंगे वैसी ही उसके अनुरूप सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं परम्पराओं का विकास होगा। अत: वैसा ही समाज बनेगा। एक प्रकार के मूल्यों में आस्था रखते हुये, उसके विपरीत सामाजिक संरचना का निर्वाह एक धोखा है, जो समाज को छलता है और उसमें विकृति उत्पन्न करता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हम पहले अपने राष्ट्रीय सामाजिक मूल्यों का निर्धारण करके तदुपरांत उसी के अनुकुल शिक्षा व्यवस्था विकसित करें ताकि मूल्यों और प्रत्याशाओं में विरोध न हो और एक संगठित समाज की नींव पड़ सके।

पुस्तक-समीक्षा

डा० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता-दर्शन-विभाग, गु० कां० विश्वविद्यालय

पुस्तक का नाम—- धर्म-दर्शन, मनन और मूल्यांकन'
लेखक — श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, जैन नगर मेरठ।
प्रकाशक—श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर।
मूल्य—६०) रुपये
पृष्ठ संख्या—२५५

गुरुकुल कांगड़ी का पुस्तकालय सचमुच नव-नव पुस्तक रत्नों का आकर एवं शोध निबन्ध ग्रन्थों का आगार बनता जा रहा है। पुस्तकालय में पुस्तकान्वेषण करते हुए एक बहुत उपयोगी पुस्तक हाथ लग गई। शोधार्थियों और जिज्ञासुओं के लाभार्थ उसकी कतिपय विशेषताओं का उल्लेख कर रहा हूँ।

पुस्तक है—धर्म दर्शन, मनन और मूल्यांकन। यह एक तुलनात्मक शोध निबन्ध है जिसमें लेखक ने धर्म और दर्शन की गहराई से पृथक्-पृथक् विवेचन करके दोनों का भेद और समन्वय प्रस्तुत किया है विभिन्न शास्त्रों के उद्धरणों से परिपुष्ट धर्म और दशन की ऐसी विस्तृत और विशद परिभाषा मैंने अन्यत्र नहीं देखी। लेखक देवेन्द्र मुनि जी मूल रूप से बौद्ध और जैन धर्म से प्रभावित है। अतः धर्म और दर्शन की परिभाषा पर भी उसका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। फिर भी उनका विश्लेषण मापदण्ड केवल बौद्ध जैन धर्म तक ही सिमट कर रह गया है बल्कि विभिन्न ग्रन्थों के उद्धरणों से परिबृंहित होकर वह अधिक उपादेय बन गया है।

मानव मस्तिष्क में यह जिज्ञासा सहज रूप में उठती है कि धर्म और दर्शन की उत्पत्ति कब और किन परिस्थितियों में हुई? उसके उत्तर में लेखक ने

सारगर्भ रूप में यह कहा है कि मानव के मन और मस्तिष्क के साथ ही धर्म दर्शन का जन्म हुआ है।

वास्तव में यह एक सत्य है कि धर्म और दर्शन दोनों एक दूसरे को छोड़कर कभी नहीं रह सकते। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। मानव जीवन को सरस सुन्दर और मधुर बनाने के लिये धर्म और दर्शन दोनों अपेक्षित हैं।

धर्म और दर्शन की व्यापक परिभाषा से प्रारम्भ करके उसके परम लक्ष्य के विवेचन के साथ इस पुस्तक का समापन किया गया है। जो शोधार्थी बौद्ध एवं जैन धर्म के परिपेक्ष्य में धर्म और दर्शन को जानना चाहते हैं, उनके लिये यह पुस्तक विशेष कल्याण साधिका है। मेरी सम्मति है कि पाठक इसका अवश्य अनुशीलन करें।

★

भारत में गणतन्त्र की परम्परा

भारतभूषण शर्मा

यदि हम भारतीय गणतन्त्र के अतीत में झांकें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारें देश में गन्तन्त्र में प्रारम्भ से ही आम-जनता का विश्वास रहा है।

सिन्धु-घाटी की सभ्यता की शासन-प्रणाली क्या थी, यह अस्पष्ट है; किन्तु प्राचानतम उपलब्ध ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में लोकतन्त्र की झाँकी मिलती है। परवर्ती वैदिक साहित्य से राजा के कर्तव्य और अधिकारका पता चलता है। 'समिति' और "सभा" राजा के ऊपर पर्याप्त नियन्त्रण रखती थी, जिनके सदस्य आम जनता में से चुने जाते थे। धीरे-धीरे 'समिति' और 'सभा' का स्थान मन्त्री-मण्डल ने ले लिया, "दिव्यावदान" नामक बौद्ध ग्रन्थ में वर्णित 'मन्त्री-मण्डल' का महत्त्व इस बात से स्पष्ट हो जाता है। कि सम्राट् अशोक को मन्त्री-मण्डल ने बौद्ध संघ को दान देने पर रोक लगा दी थी। "ऐतरेय-ब्राह्मण" से पता चलता है कि पंजाब में कुरू आदि कई गण राज्यों की स्थापना हो गई थी।

बुद्धकालीन पूर्वी गणराज्य—गौतम बुद्ध के समय गणतन्त्र-व्यवस्था राजाओं द्वारा शासित राज्यों के साथ-साथ चल रही थी। स्वयं बुद्ध भी शाक्य गणराज्य में ही उत्पन्न हुए थे। उस समय उत्तरी भारत में प्रमुख गणराज्य ये थे :—(१) शाक्य (२) मेरिय (३) विदेह (४) लिच्छवी (५) कोलिय, (६) बग्ग, (७) बुलि तथा (८) कालाम। इनमें से अधिकांश राज्य वर्तमान तहसीलों के बराबर थे। इसी समय में आठ गणराज्यों ने मिलकर एक संघ बनाया। जिसका नाम वज्जिसंघ था।

उत्तरी पश्चिमी भारत के अनेक गणराज्यों के सम्बन्ध में यूनानी लेखकों से जानकारी प्राप्त होती हैं। ये लेखक सिकन्दर के साथ ही भारत आए थे। कर्टियस ने लिखा है कि योधेय, मालव, क्षुद्रक, कठ, अश्वकायन, अम्बष्ठ आदि अनेक शक्ति शाली गणराज्य पंजाब तथा हरियाणा क्षेत्र में थे। इन राज्यों के वीर सैनिकों ने सिकन्दर की सेना के दाँत खट्टे कर दिये थे। व्यास-नदी

के पार पूर्व में योधेय-गण का विस्तृत राज्य था। योधेयों तथा पूर्व के अन्य भारतीय राज्यों को शक्ति का पता जब सिकन्दर की सेना को लगा तो उसने व्यास-नदी को पार करने से इन्कार कर दिया। यदि इन सभी गणराज्यों ने मिलकर एक शक्तिशाली संघ बना लिया होता तो यूनानियों की विजय असम्भव थी। गणराज्यों की कमजोरी को चाणक्य ने समझ कर मौर्य-शासक चन्द्रगुप्त के द्वारा इन राज्यों को दबाकर एक शक्ति-शाली साम्राज्य की स्थापना कराई। तब से लेकर लगभग २०० वर्षों तक भारत में राजतन्त्र का ही प्राबल्य, रहा। अशोक के पश्चात् साम्राज्य के विघटन के साथ ही सीमावर्ती प्रदेशों में गणराज्य पुनः अपनी शक्ति बढ़ाने लगे, योधेय एवं मालव गण के अतिरिक्त वृष्णि, अर्जुनायन, कुणिन्द, शिवि, मद्र आदि गणराज्यों ने भी शक्ति संचित को। ये गणराज्य विदेशी शकों एवं कुषाणों से बराबर लोहा लेते रहे। योधेय गण के सिक्के एक बड़े भूभाग पर मिले हैं। कुछ सिक्कों पर 'योधेयगणस्य जयः' लिखा है, वृष्णि-गण का उल्लेख 'महाभारत' में भी पाया जाता है। महाभारत-युद्ध के बाद इस गण के नेता श्री कृष्ण हुये दूसरा समकालीन गण अन्धकों का था। 'महाभारत' के शान्तिपर्व में श्रीकृष्ण एवं देवर्षि नारद के बीच गणतन्त्र पर विस्तृत संवाद मिलता है।

गुप्त-साम्राज्य के उदय तक भारत के कई गणराज्यों की स्थिति अच्छी रही। चौथी शती के आरम्भ में योधेय, अर्जुनायन, मालव क्षुद्रक, आभीर, लिच्छवी आदि अनेक शक्तिशाली गणराज्य थे। गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त ने इन गणराज्यों को प्रभुत्व प्रदान कराया; किन्तु आन्तरिक शासन व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों एवं अपनी कमजोरियों के कारण ये गणराज्य विकसित न हो सके। गुप्तकाल के पतन के साथ-साथ से गणतन्त्रात्मक व्यवस्था का भी प्रायः अन्त हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश के अनेक भूभागों पर एक हजार वर्ष से भी अधिक समय तक गणराज्य-व्यवस्था कायम रही। इस दीर्घकालीन प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली ने भारत की धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था पर स्थायी प्रभाव डाला। महात्मा बुद्ध ने अपना धार्मिक संगठन इसी गणतन्त्र शैली पर स्थापित किया और संगठन का नाम 'संघ' रखा। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' एवं कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में गणराज्य के लिए 'संघ' नाम ही आया है। आर्थिक क्षेत्र में शिल्पियों और व्यापारियों के संघों श्रेणियों और निगमों के रूप में शताब्दियों तक गणतन्त्र की परम्परा जारी

रही। एक अन्य महत्त्व पूर्ण संस्था ग्राम-सभाओं की थी, जो प्रजातन्त्र-प्रणाली पर आकृत थी। दक्षिण-भारत में इन ग्राम सभाओं का विकसित एवं व्यवस्थित रूप दीर्घकाल तक मिलता है।

गणराज्यों की शासन व्यवस्था—भारतीय साहित्य एवं यूनानियों के विवरणों से विदित होता है कि गणराज्यों का शासन प्रजा के कुछ चुने हुए लोगों के द्वारा होता था। वयस्क मताधिकार के आधार पर सर्वसाधारण को को इन चुनावों में इस प्रकार का व्यापक अधिकार अन्य किसी देश में नहीं मिलता। प्राचीन यूनान एवं रोम के गणतन्त्रात्मक संगठन में इस प्रकार का मताधिकार केवल एक वर्गविशेष को प्राप्त था और उसी के हाथ में राजसत्ता थी। कारीगर, व्यापारी और दास लोग, जिनकी संख्या काफी बड़ी थी, मतदान से वञ्चित थे। भारत में कुछ गणों ने अपने सिक्कों पर अपने को "राजन्यगण" कहा है। लिच्छवी-गणतन्त्र में चौरासी हजार व्यक्ति मत दे सकते थे। उनके द्वारा चुने हुए सदस्यों की संख्या ७०७ थी, जो राजा कहलाते थे। ये सदस्य ही लोक-सभा के अङ्ग होते थे। योधेयों की सभा ये पाँच सहस्त्र सदस्य थे। प्राचीन भारत में उक्त सदस्य सख्या बड़ी नहीं कही जा सकती, क्योंकि एथेंस-गणराज्य की सभा में बयालीस हजार दस सदस्य थे। सम्भवत: इन सदस्यों की जिम्मदारियाँ अधिक नहीं थीं। राज्य संचालन का मुख्य कार्य अध्यक्ष तथा प्रबन्ध कारिणी समिति के जिम्मे था, जो अपनी सहायता के लिए विभिन्न उपसमितियों को नियुक्त करती थी। राज्य कोष तथा व्यय का भार भी प्रबन्ध समिति के सुपुर्द था। 'अर्थशास्त्र' में लिखा है। कि यदि अध्यक्ष या प्रबन्ध-समिति के सदस्य सार्वजनिक धन का दुरुपयोग करें या संघ-नियमों का उल्लंघन करें तो उन्हें पदच्युन एवं दण्डित किया जाए।

गणतन्त्रीय लोक-सभा की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में नियम बने हुए थे। बौद्ध संघ के जिन नियमों का वर्णन साहित्य में मिलता है उन्हीं के आधार पर तत्कालीन राजनीतिक कार्य-प्रणाली का अनुमान लगाया जा सकता है।

गणतन्त्र व्यवस्था के ह्रास के कारण—प्राचीन भारत में दीर्घ काल तक गणराज्यों का अस्तित्व रहा। इन्हीं गणराज्यों ने श्रीकृष्ण, बुद्ध, महावीर जैसी महान् विभूतियों को जन्म दिया। धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में स्वतन्त्र

चिन्तन को वे बराबर प्रोत्साहन देते रहे। अनेक गणराज्यों ने अपने सैनिक संगठनों द्वारा स्वतन्त्रता की रक्षा की और प्रबल विदेशी आक्रमण कारियों के छक्के छुड़ा दिए भारत में ये गणराज्य स्थायो रूप से कायम न रह सके। उसका प्रमुख कारण यह था कि विभिन्न गणराज्यों के बीच एकता का वह सूत्र न था जो उन्हें परस्पर सम्बद्ध कर बल प्रदान करता अधिकांश गण-राज्य अपनी-अपनी ढफली अपना-अपना राग अलापते थे अन्धक तथा वृष्णि, मालव तथा क्षुद्रक और लिच्छवी तथा विदेह आदि गण आपस में समझौता कर एक हो भी गये थे; किन्तु यह एकता अल्पकाल तक ही रहो। अपनी वंश परम्परा, जातिका अभिमान आदि को लेकर वे शीघ्र एक-दूसरे से अलग हो जाते थे। कभी-कभी पड़ोसी गणराज्यों में भीषण शत्रुता चलती थो। यदि आपसी मतभेद भुलाकर सभी गणराज्य मिलाकर स्थायी शक्तिशाली प्रजातन्त्र का निर्माण कर लेते तो भारत का इतिहास ही बदल गया होता; परन्तु दुर्भाग्य से ऐसा न हो सका। जब तक गणराज्यों में अध्यक्ष तथा अन्य मुख्य सदस्यों का प्रभाव रहता था तब तव स्थिति ठीक रहती थी अन्यथा गुट-बन्दियाँ शुरु हों जाती थीं, जिनके मूल में स्वार्थ, व्यक्तिगत शत्रुता तथा अधिकार–लिप्सा होती थो। अनेक प्रकार के षड्यन्त्र रचे जाते और इस प्रकार गणराज्यों के पतन का द्वार खुल जाता था। गुप्त-काल में राजतन्त्र की शक्ति बहुत प्रबल हो गई और राजा में देवत्व की भावना बढ़ने लगी। अब गणराज्यों के अध्यक्ष एवम् अन्य अधिकारी भी उपाधियों एवं परम्परागत पदलिप्सा का लोभ संवरण न कर सके। जनता ने भी अब गणतन्त्र की अपेक्षा एक शक्तिशाली राजतन्त्र को, जो विदेशियों के हमलों से रक्षा कर सके तथा देश में शान्ति स्थापित कर सके, अधिक अच्छा माना। इस प्रकार उक्तकारणों से प्राचीन भारत में गणतन्त्र का अन्त हो गया।

अब परिस्थितयाँ बदल चुकी हैं। इस विशाल देश में एक छोर से दूसरे छोर तक वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त पर एक शक्तिशाली जनतन्त्र की स्थापना हुई है। अच्छा हो यदि हम अपनी गणतन्त्रात्मक परम्परा का अध्ययन करें और उसकी अच्छाइयों-बुराइयों से सबक सीखें। भारतीय लोकतन्त्र को सबल और सम्पन्न बनाने के लिए 'महाभारत' में वर्णित भीष्मपितामह के ये शब्द महत्वपूर्ण हैं जो उन्होंने महाराज युधिष्ठिर से कहे थे—लोभ और द्वेष ये गणराज्यों में शत्रुता के दो मूल कारण हैं। आपस में भेद होने पर

गणतन्त्र नहीं टिक सकता। बड़ों का हमेशा आदर और उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये जहाँ स्त्री और पुरुष अच्छे आचार-व्यवहार वाले हैं; जहां न्याय और दण्ड की उचित व्यवस्था है, बड़ों की सीख पर ध्यान दिया जाता है, शासन के ठीक सिद्धान्त हैं; सम्पन्न कोष है और जहाँ ईमानदार, बुद्धिमान् और वीर अधिकारी हैं, ऐसा गणराज्य कभी नष्ट नहीं होता। यदि गणराज्य की आन्तरिक व्यवस्था ठीक है तो बाह्य आक्रमण का कोई भय नहीं। जब तक गणराज्य में एकता और सहयोग की भावना होती है तब तक वह सुरक्षित रहता है।

महाभारतस्य वैशिष्ट्यम्

डा० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता : दर्शन-विभाग गु० कां० विश्वविद्यालय

अस्ति महाभारतं अस्माकं महान् राष्ट्रीयः इतिहास ग्रन्थः, यस्मिन् भारतीयायाः संस्कृतेः भव्यं रूपं प्रकृष्ट तया प्रफुल्लतां गतमवलोक्यते । अस्य ग्रन्थस्योद्देश्यं केवलं कौरव पाण्डवयोः युद्धस्य वर्णनमेव नास्ति, अपितु भारतीयस्य धर्मस्य सविस्तरं चित्रणमपि तस्य प्रमुखं लक्ष्यं विद्यते । अयं महान् ग्रन्थः जीवनस्य समस्यानां समाधाने मनोयोग पूर्वकं संलग्नों पर्वते तस्मात् अस्माकं भारतीयानां कृते अयं ग्रथराजः धर्मशास्त्रस्यापि कार्यं साधु साधयति । केषुचित् स्थलेषु तु पाठकः काव्यस्य रसं साक्षादनुभवति । तदेवं ग्रन्थोऽयं सुन्दर इतिहास ग्रन्थः, रुचिरं धर्मशास्त्रं रमणीयं च काव्यं वर्तते ।

महाभारतस्य प्रणेता श्री वेदव्यासः संस्कृतकवीनां उपजीव्यो वर्तते। अस्य उपख्यानानि समादायैव संस्कृतकवयः काव्य नाटक चम्पू कथादिमयं विपुलं साहित्यं सृष्टवन्तः । केवलं अस्मद्देशस्यैव न, अपितु यव सुमात्रादीनां द्वीपानां ग्रन्थकाराः अपि स्वस्वकृतीनां निर्माणाय एतस्मात् ग्रन्थात् महतीं सहायतामविन्दन् । अविरामं परिश्रमं कृत्वा महर्षि व्यासः इमं ग्रन्थम् त्रिभिर्वर्षैः समाप्ति नीतवान् । एतत् तथ्यं आदि पर्वणि स्थितेन श्लोकेन प्रकाशमायाति—

त्रिभिवर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
महाभारतमाख्यानं कृत्वानिदमुत्तमम् ॥

अस्य ग्रन्थस्य महिमानं प्रतिपादमन् कथयति कविः —

धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥

अनेन सिध्यति यद् महाभारतं धर्मस्य अर्थस्य कामस्य मोक्षस्य च प्राप्त्यै विपुलं ज्ञानं प्रददाति ।

धर्मस्योपदेशः —

धर्म एव भारतीय संस्कृतेर्जीवनम् इति अवगमयितुं महर्षि व्यासः सुन्दराणि आख्यानानि अस्मिन् ग्रन्थे निदधौ। अधर्मेण राष्ट्रस्य विनाशो धर्मेण च तस्योत्थानं भवति। 'को धर्मः इति जिज्ञासायां भणति व्यासः--

सर्वेषाँ यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥
धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारण संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

इत्थम् धर्मस्य स्वरूपं प्रतिपादयन् स तमेव पुरुषं धर्मात्मनं मन्यते यो हि वेदबोधिताचारं सम्यक् संरक्षति। 'आचारः परमो धर्मः' इति यदुक्तं तत्राह व्यासः —

आचाराज्जाजले प्राज्ञः क्षिप्रंधर्ममवाप्नुयात्।
एवं यः साधुभिर्दान्तश्चरेदद्रोह चेतसा॥

अर्थकामांभ्यां धर्म एव ज्यायान्, यत् धर्मेणैव उपार्जितौ अर्थकामौ सुखस्य हेतु भवितुमर्हतः। अधर्मो दुःखस्य हेतुः। अत एवोक्तम्।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
यस्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

इत्थं धर्मस्य निरूपकत्वात् महाभारतं भारतीयानां जनानां धर्मशास्त्रम् पञ्चमो वेदो वा विद्यते।

अर्थस्य महात्म्यम्—

संसारे अर्थस्य किं महत्त्वं किं चोपादेयत्वमिति सर्वेषां सुविदितमेव। अर्थं विना संसारे मानवस्य जीवनं क्षणमपि स्थातुं न शक्नोति। अर्थमन्तरेण ऐहलोकिकम् पारलौकिकम् किमपि न सम्पन्नम् भवति। अर्थविहीनो जनो जगति क्वापि न प्रतिष्ठां प्राप्नोति नाप्युन्नतिः कृषिः वाणिज्यं शिल्पम् सैन्यम् शिक्षा स्वास्थ्यम् जनरक्षादीनि सर्वविधानि सुखानि च अर्थमपेक्षन्ते। अर्थस्य महत्त्वं महाभारते इत्थम् प्रतिपादितम्——

कर्मभूमिरियं राजन् इह वार्ता प्रशस्यते ।
कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च ॥
अर्थं इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः ।
न ऋतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः ॥

इत्थम् महाभारतम् अर्थशास्त्रस्यापि कार्यं साधयति । अर्थोपार्जनस्य विषये महाभारतं विपुलं प्रकाशमुत्सृजति ।

काम शास्त्रम्

न केवलमर्थ शास्त्र मपितु महाभारतं कामशास्त्र स्यापि कार्यं करोति। अयं ग्रन्थः कामस्यापि महत्त्वं तदीयं च ग्राह्यत्वं युक्ति पूर्वकं साधु प्रतिपादयति। कामं विना कोऽपि प्राणी धार्मिको सामाजिके आर्थिके आध्यात्मिके वा कस्मिन्नपि कार्ये रुचिं उत्साहं वा निदधाति । कामस्य विचित्रं प्रभावं विलोक्यैव महाभारतं कथयति—

नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति ।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात् कामोविशिष्यते ॥

मोक्ष प्राप्ति

मानव जीवनस्य अन्तिमं लक्ष्यमस्ति मोक्षः । यावदसौ मानवः मोक्षं न लभते तावत् स कदापि दुःखेभ्यः जरा जन्म मरण कष्टेभ्यश्च मुक्तो भवितुं नार्हति । पुत्रकलत्रादीनि यान्यापि सांसारिक सुखानि सन्ति तानि सकलान्यपि दुःखकराण्येव सन्ति । भौतिक्यः सम्पदोऽपि एवमेव दुःख प्रदाः सन्ति । सम्पदां अर्जने रक्षणे च प्राणी महत्कष्ट मनुभवति । स्वर्गलोकोऽपि वस्तुतो न सुख प्रदः । सत्कर्मणां अवसाने सोऽपि हस्तात् भ्रंशते । इदमेव सर्वं विचार्य सुधियो मोक्ष मभिलषन्ति । इमं मोक्षमुद्दिश्य महाभारतं मानवान् पुनः पुनः मधुरं शास्ति—

मर्त्य लोकाद् विमुच्यन्ते विद्या ससक्त चेतसः ।
ब्रह्म भूता विरजसस्ततो यान्ति परां गतिम् ॥
भगवन्तमजं दिव्यं विष्णु-मव्यक्त संज्ञितम् ।
भावेन यान्ति शुद्धा ये ज्ञान तृप्ता निराशीषः ॥

कर्मयोगः

महाभारतं कर्मण्यनुरज्यति । कर्म एवं मनुष्यस्य पारमार्थिक लक्षणमिति तस्य द्रढीयान् विश्वासः कर्म पराङ्मुखा जनो मानवतातः स्रंसते । अस्मिन्

संसारे सततं कठोरता पूर्वकं कर्म कुर्वाणा एव जनाः हितं गच्छन्तः प्रायेण वीक्ष्यन्ते। मानव जगत् प्रति महाभारतं एवमुपदिशति—

प्रायशो हि कृतं कर्म नाफलं दृश्यते भुवि।
अकृत्वा च पुन दुःखं कर्म पश्येन्महाफलम्॥

राज धर्मः

यदि राजधर्मे जिज्ञासा वर्तते तर्हि महाभारतं पठ्यताम्। राजधर्म विषयः तत्र सविस्तरं वर्णितः। महाभारतं बिना न कोऽपि मानवः कदापि पूर्णतया राजनीति विचक्षणो भवितुमर्हति। एतद् ग्रन्थस्य विलोकनेन ज्ञातं संजायते यत् अस्माकं पूर्वजा नूनं राजनीत्यामपि परां विज्ञतां गता आसन्। पश्यन्तु केन प्रकारेण अयं दुरूहो विषयः साधिकारं वर्णितः—

मृदुर्हि राजा सततं लंघ्यो भवति सर्वशः।
तीक्ष्णाच्चोद् विजते लोकस्तस्मादुभयमाश्रय॥
अवमन्यन्ति भर्तारं संघर्षादुप जीविनः।
स्वस्थाने च न तिष्ठन्ति लङ्घयन्ति च तद्वचः॥

उपसंहारः

इत्थं महाभारतस्य रमणीयतायाः वर्णनं केन प्रकारेण कर्तुं शक्यम्। तत्तु कमनीयताया एव वस्तुतः उद्गममही भूत्वा विभाति। क्वचित् तत्र अहिंसायाः शोभा, क्वचित् दयाया आभा, क्वचित् तपसः प्रभा, क्वचित् दानस्य बन्धुरता, क्वचिद् विद्याया मञ्जुलता, क्वचित् त्यागस्य पेशलता, क्वचिच्च व्रतानां उपवासानां च छटा पूर्ण तारुण्येन परिस्फुरन्ती दृश्यन्ते। इदमेव महाभारतं तत्पावनं जगत् यत्र गीतागङ्गाऽपि प्रवहमाना प्राणिमात्रस्य त्रिविधं तापं हरति।
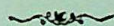
गुरुकुल समाचार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का अध्ययन सत्र १६ जुलाई १९८६ को प्रारम्भ हुआ। उस समय आषाढ़ के बादल घिर-घिर कर ऐसे आ रहे थे मानों हाथियों के झुण्ड आ रहे हों मानों निदाघ कालके ताप मे संतप्त प्राणियों को प्रसन्न कर रहे हों। अपने जल से धरा के ज्वर का हरण कर नूतन शस्य के लिए प्रेरित कर रहे हों अथवा वरुण देवता प्रसन्न होकर सत्र के प्रारम्भ की बधाई दे रहे हैं।

नये विद्यार्थी प्रवेश लेने के लिए बड़े हर्षोल्लास से आ रहे हैं। प्रथम ही दिन यहां के शान्त वातावरण से प्रभावित हो अपने आप को धन्य समझ रहे हैं। प्राचीन विद्यार्थी भी अपने परीक्षा परिणाम जानने के लिये हंसते हुए मन्द गति से विश्वविद्यालय परिसर में भ्रमण करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं। एक-दूसरे से गले मिल रहे हैं। एक-दूसरे का समाचार पूछ रहे हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालय वेद की इस सूक्ति को "यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्" चरितार्थ कर रहा है।

२६ जून से १० जुलाई तक मनोविज्ञान विभाग में भारतीय मनोविज्ञान की परम्परा' विषय पर एक गोष्ठी का आयोजन किया। १५ दिन तक अनेक मनोविज्ञाननिक विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये। एवं १५ प्रोफेसरों से अधिक विद्वानों ने इस प्रशिक्षण शिविर में भाग ग्रहण किया। अपने शोध प्रबन्ध पढ़े, बहुत से नये विचारों का आदान-प्रदान हुआ। जिनके नूतन सुझावों से हर कोई व्यक्ति लाभान्वित हो सकेगा।

—छात्र सम्पादक

—:o:—

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

सम्पादक

डा० जयदेव वेदालङ्कार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य मासिकी-पत्रिका

सम्पादक-मण्डल

प्रधान संरक्षक :
प्रो० आर० सी० शर्मा
कुलपति

संरक्षक :
प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
उपकुलपति

परामर्शदाता :
डॉ० विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग

सह-सम्पादक :
डॉ० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता, दर्शन-विभाग

छात्र-सम्पादक :
श्री दुधपुरी गोस्वामी
एम० ए० द्वितीय वर्ष
दर्शन-विभाग

प्रकाशक :
डा० वीरेन्द्र अरोड़ा
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक :
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी मुद्रणालय, हरिद्वार ।

मूल्य :
२५.०० रुपये वार्षिक

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालस्य मासिकी-पत्रिका]

सम्पादक

डॉ० जयदेव वेदालंकार
न्यायाचार्य, पी-एच०डी०, डी० लिट्०
रीडर-अध्यक्ष, दर्शन-विभाग

प्रकाशक

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भाद्रपद, २०४३	वर्ष : ३७	अङ्क : १०
अगस्त, १९८६		पूर्णाङ्क : ३८१

[मूल्य : ५.०० रुपये

❀ विषय-सूची ❀

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालस्य मासिकी-पत्रिका]

भाद्रपद : २०४३ | अगस्त : १९८६ | वर्ष : ३७ | अङ्क : १० | पूर्णाङ्क : ३८१

श्रुति सुधा

वेदों में क्या है ?

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदाः विभजतु ।
ऋतस्य पथाप्रेत चन्द्रदक्षिणावि स्वःपश्य व्यन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः ॥

यजुर्वेदभाष्य–ऋषि दयानन्द
(मं. अ.७, म. ४-५)

पदार्थ—हे सेना और प्रजाजनों ! जैसे मैं (रूपेण) अपने दृष्टि-गोचर आकार से (वः) (तुम्हारे) (रूपम्) स्वरूप को (अभि) (आ) (अगाम्) प्राप्त होता हूं। वैसे (विश्ववेदाः) सबको जानने वाले परमात्मा के समान सभापति (वः) तुम लोगों को (वि) (भजतु) पृथक्-पृथक् अपने-अपने अधिकार में नियत करे। हे सभापते ! (तुथः) सबसे अधिक ज्ञान वाले प्रतिष्ठित आप (स्वः) प्रताप को प्राप्त हुये सूर्य के समान (ऋतस्य) सत्य के (पथा) मार्ग से अन्तरिक्षम्) अविनाशी राजनीति वा ब्रह्मविज्ञान को (वि) अनेक प्रकार से (पश्य) देखो और सभा के बीच में (सदस्यैः) सभासदों के साथ सन्मार्ग से (प्र) (यतस्व) विशेष विशेष-यत्न करो तथा हे (चन्द्रदक्षिणाः) सुवर्ण

के दान करने वाले राजपुरुषों ! तुम लोग धर्म को (वीत) विशेषता प्राप्त होओ ।

भावार्थ—सभापति राजा को चाहिए कि अपने पुत्रों के तुल्य प्रजा-सेना के पुरुषों को प्रसन्न रखे और परमेश्वर के तुल्य पक्षपात छोड़कर न्याय करें। धार्मिक सभ्यजनों की तीन सभा होनी चाहिए। उनमें से एक राजसभा जिसके अधीन राज्य के सब कार्य चलें। सभी उपद्रव निवृत्त रहे दूसरी विद्यासभा जिससे विद्या का प्रचार अनेक विधि से किया जाये और अविद्या का नाश होता रहे। तीसरी धर्मसभा, जिससे धर्म की उन्नति और अधर्म की हानि निरन्तर की जाये। सब लोगों को उचित है कि अपने आत्मा और परमात्मा को देखकर अन्याय मार्ग से अलग हो, धर्म का सेवन और सभासदों के साथ समयानुकूल अनेक प्रकार से विचार करके सत्य और असत्य के निर्णय करने में प्रयत्न किया करें।

❀ न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है, क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया है।

❀ दण्ड देने का प्रायोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्ध होकर दुःखों को प्राप्त न हो।

—महर्षि दयानन्द

सम्पादकीय :

योगेश्वर कृष्ण और शान्ति का मार्ग

प्रतिवर्ष कृष्ण जन्माष्टमी का पर्व सम्पूर्ण भारत में बड़ी धूम-धाम के साथ मनाया जाता है। कृष्ण के भक्त यह गीत गा-गा कर थक जाते हैं कि 'कृष्ण प्यारे आ जा। बांसुरी की तान सुना जा।।' वास्तव में घोरे-घने अन्धकार में जैसे कृष्ण ने जन्म लिया था और अपने पुण्य पुरुषार्थ, कर्मयोग और तप से उस गहन अन्धकार से चन्द्र की किरण प्रफुल्लित की थी। वह किरण थी, गीता। आज का कृष्ण का भक्त, कृष्ण को बुलाता तो है, परन्तु उस दिये हुए ज्ञान का अपने जीवन में उपयोग नहीं करता।

आज के इस भोगवादी युग में मनुष्य मर्यादाओं को तोड़, स्वच्छन्द और धर्मविहीन परिवेश में दौड़ लगा रहा है। उसका परिणाम उसके सम्मुख आ चुका है। समस्त संसार में विश्वास का अकाल पड़ता जा रहा है। पति का पत्नी पर विश्वास नहीं, भाई का भाई पर विश्वास नहीं। यह अविश्वास का तारतम्य परिवार से लेकर समस्त संसार और राज्यों में व्याप्त रूप धारण कर चुका है। आज का मानव अशान्त और तनावपूर्ण पर्यावरण में जीवन यापन कर रहा है। अर्धविक्षिप्त मनुष्यों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। वायु के प्रदूषण को दूर करने के लिए वह आक्सीजन के सैलेण्डर बनाने की सोच रहा है, परन्तु इस अशान्ति के प्रदूषण से बचने के लिए ड्रग्स खा-खा कर खुली सड़क पर भटक रहा है।

आज से पांच हजार वर्ष पूर्व प्रदूषण से बचने के कृष्ण ने एक ड्रग्स का आविष्कार किया था। जब तक हम उस ड्रग्स का सेवन नहीं करेंगे तब तक मनुष्य विनाश के बालू के पर्वत पर चलता रहेगा और कब अपना विनाश अपने हाथों ही कर डालें, उसे कोई नहीं बचा सकता है।

कृष्ण ने गीता में अशान्त मनुष्यों को शान्ति का मार्ग बताया है कि हमें बुराइयों और दोषों को दूर करने के लिये संघर्ष करना होगा। आज समस्त

अशान्ति और दोषों का कारण विलासिता और दम्भ है। बिना परिश्रम किये आज का मनुष्य गगन चुम्बी अट्टालिका में रहना चाहता है। उसके लिए वह सभी अवैध तरीके अपनाता है। जो उसके मार्ग में आता है उस विज्ञान द्वारा सहज प्रदत्त मशीनगन और गोली का आश्रय लेकर उसे समाप्त कर देता है। दूसरी ओर जो व्यक्ति साधन सम्पन्न है वे भी आज सबसे अधिक अशान्त रहते। आज विश्व में श्रेष्ठ गुणों का अकाल पड़ गया है। इस सबका कारण क्या है? इसका उत्तर आज से पांच हजार वर्ष पूर्व योगेश्वर कृष्ण ने इस प्रकार दिया है—

काममाश्रित्यदुष्पुरं दम्भमानमदान्विता।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥

इदमद्यमयालब्धमिमं प्राप्स्येमनोरथम्।
इदस्तीमपि मे भविष्यांतिपुनर्धनम्॥

असौ मयाहतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहंबलवान् सुखी॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्तिसदृशोमया।
यक्षये दास्यामिमोदिष्यइत्यज्ञानविमोहिताः॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

आत्मसंभाविताःस्तब्धाधनमानमदान्विता।
यजन्तेनामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥

अहंकारंबलंदर्पं कामक्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

(गीता १६ अ० १०–१८ श्लोक)

जो मनुष्य दम्भ, मान और मद के वशीभूत होकर मिथ्या सिद्धान्तों को

मान्यता देते हैं वे अनन्त चिन्ताओं के जकड़े और अशान्ति से परिपूर्ण मानव मोह को प्राप्त होके पापमय कर्मों को निरन्तर करते रहते हैं। भोगों को भोगने में ही आनन्द है, ऐसी गलत धारणा रखते हैं। कभी न पूरी होनी कामनाओं की पूर्ति के लिये भ्रष्ट आचरण करते हैं। वे आशारूप सैकड़ों फाँसियों में जकड़े हुए, काम क्रोध के वशीभूत होकर भोगों की पूर्ति के लिए, अन्यायपूर्वक धन तथा अन्य पदार्थों के संग्रह करने में लगे रहते हैं। वे यही सोचते रहते हैं कि आज मेरे पास हजार है, कल दस हजार रुपये होंगे यही क्रम लाखों-करोड़ों तक की संख्या में पहुंच जाता है। इस अत्याधिक धन प्राप्त करने की भावना उससे अत्याचार, अन्याय हत्यायें आदि सभी कुछ पाप करवाती है। इसका परिणाम बड़ा भयंकर होता जाता है। वह व्यक्ति जिसके साथ अन्याय होता, वह निर्दोष सताया जाता है तो वह नियम और कानून को हाथ में लेकर आतंक फैलाना प्रारम्भ कर देता है। यह नरसंहार तथा जुल्मों का सिलसिला जातियों और देशों की सभ्यता, परम्परा और इतिहास आदि के नाश का हेतु बन जाता है। इस मद और अहंकार से अशान्ति का साम्राज्य पनपने लगता है।

इन उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए कृष्ण कहते हैं, हमें इस मार्ग का परित्याग करना होगा।

अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मदिव ह्रीश्चापलम्॥ १६।२॥

अर्थात् मन + वाणी और शरीर से किसी को कष्ट न देना तथा यथार्थ और प्रिय वचन बोला, अपना अपकार करने वाले पर भी क्षमा भाव रखना।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टास्यकर्मसु।
युक्तस्वप्नायबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
प्रशान्तमनसंह्येनं योगिनंसुखमुत्तमम्।
उपैति शान्त रजसं ब्रह्मभूतमकल्पषम्॥

समन्वित आहार का सेवन, समन्वित व्यवहार करना कर्त्तव्य कर्म का पालन करना तथा सभी अवस्थाओं युक्त कर्मों को करना अपेक्षित है। निद्रा तथा सभी नित्य क्रियायें युक्त रूप में उचित हैं।

इस प्रकार के कर्मों से मन प्रशान्त हो जाता है तथा मनुष्य सुख की अनुभूति करता है। वह शान्ति को प्राप्त करके ब्रह्मसहोदर सुख की प्राप्ति कर लेता है।

विहाय कामान्य सर्वानपुमांश्चरतिनिस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ २।७१ ॥

जो मनुष्य शान्ति को भंग करने वाली कामनाओं को त्याग कर ममता रहित और अहंकार रहित कर्म करता है वह सच्ची शान्ति को प्राप्त करता है।

विचारार्थ

गुरुकुल को नया मोड़ देना आवश्यक है

प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार,
परिद्रष्टा, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

गुरुकुल-संस्था की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसके जो कर्त्ता-धर्ता हैं, जो चींख-चींख कर "गुरुकुल"-"गुरुकुल" चिल्लाते हैं, जो गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के कर्णधार हैं, वे अपने बच्चों को गुरुकुल में दाखिल नहीं करते। महात्मा मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द) तथा प्रो० रामदेव जी को छोड़ दिया जाय, तो दो-एक को छोड़कर न गुरुकुल की स्वामिनी सभा के अधिकारियों ने, न गुरुकुल कांगड़ी के स्नातकों ने अपने बच्चे गुरुकुल में दाखिल किये। स्थापना काल से अब तक गुरुकुल की स्वामिनी सभा के सैकड़ों सदस्य हो चुके हैं, स्नातकों की संख्या भी हजारों तक पहुँच चुकी है, गुरुकुल का नाम तो सब लेते हैं, परन्तु अपने बच्चों को गुरुकुल में भर्ती करने के बजाय स्कूलों और कालेजों में भर्ती कराते हैं। मैं दूसरों की बात क्या कहूं, मैं भी उनमें शामिल हूं। महाशय कृष्ण जी तथा पंडित विश्वम्भरनाथ जी ने अपने बच्चे कुछ साल तक गुरुकुल में पढ़ाये थे, परन्तु उन्होंने भी कुछ साल बाद वे उठा लिए। यह तो मुझे समझ आता है कि गुरुकुल की स्वामिनी सभा के सदस्यों ने इससे आगे वे अपने बच्चे गुरुकुल में नहीं पढ़ाये क्योंकि वे संस्था के सिर्फ प्रबन्धक मात्र थे, इससे आगे वे अपने बच्चों को गुरुकुल पर न्यौछावर करने के लिए तैयार न थे, परन्तु वह समझ नहीं आता कि गुरुकुल के स्नातक जिन्होंने चौदह वर्ष गुरुकुल में रहकर ही शिक्षा प्राप्त की, जो गुरुकुल को अपनी माता कहकर पुकारते हैं, वे अपने वच्चों को गुरुकुल में क्यों नहीं भर्ती करते रहें। सब से पुराने स्नातक हरिशचन्द्र जी और इन्द्रचन्द्र जी थे। दोनों ने अपने बच्चों को गुरुकुल में नहीं पढ़ाया। उनके बाद विश्वनाथ जी हैं, चन्द्रमणि जी थे। किसी ने भी तो अपने वच्चों को गुरुकुल में नहीं पढ़ाया। अपने विषय में मैं पहले ही कह चुका हूँ,

मैंने भी नहीं पढ़ाया। परिणाम यह निकलता है कि न गुरुकुल के पुराने तथा नवीन संचालक; न गुरुकुल के स्नातक अपने बच्चों को गुरुकुल में पढ़ाने के लिए तैयार हैं, दूसरों पर पिछले अस्सी साल से परीक्षण कर रहे हैं, आन्तरिक-भावना यह है कि अगर चूल्हे-भाड़ में जायें तो दूसरों के बच्चे जायें, हमारे अपने बच्चे बली का बकरा क्यों बनें?

क्या मैं जो कुछ कह रहा हूं गलत कह रहा हूं, या इसमें कोई सच्चाई है? मूर्ख-से-मूर्ख भी स्थिति को देखकर कह उठेगा कि मेरे कथन में सोलहों आने सच्चाई है। दो शब्दों में कहूं, तो कह सकता हूं कि न गुरुकुल के संचालक, न गुरुकुल के स्नातक गुरुकुल से सन्तुष्ट हैं और इसीलिए अपने बच्चों को गुरुकुल में भर्ती नहीं करते। क्यों सन्तुष्ट नहीं हैं?

गुरुकुल को अपने जीवन के इतिहास में दो कालों में से गुजरना पड़ा। पहला था—स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले के काल में गुरुकुल का उद्देश्य ऐसे नागरिक उत्पन्न करना था जो त्याग तथा तपस्या के जीवन में से गुजर कर समाज तथा देश की सेवा कर सकें। उनका ज्ञान चौमुखा हो, विशेषकर पूर्व तथा पश्चिम के ज्ञान से पूर्णतया अवगत होकर वे दोनों के पण्डित हों, नौकरी करके पेट भरना मात्र ही जिनके जीवन का लक्ष्य न हो। जनता भी उस समय दो लक्ष्यों को लेकर चली थी। कुछ ऐसे थे जो शिक्षा का लक्ष्य जीविकोपार्जन करना ही मुख्य रूप से समझते थे। ऐसे लोग ही समाज में अधिक संख्या में होते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो अपने बच्चों को समाज तथा देश की सेवा में भेंट चढ़ा देना चाहते हैं। गुरुकुल का जो लोग संचालन कर रहे थे वे कहने को आदर्शवादी थे, कहते थे कि गुरुकुल से देश-सेवक तथा समाज-सेवक तैयार करेंगे, किन्तु जहां तक अपने बच्चों का प्रश्न था वे उन्हें मुख्यतौर पर कमाऊ बेटा बनाना चाहते थे। ऐसी हालत में वे अपने बच्चों को गुरुकुल में क्यों भर्ती करते। जिन्होंने भर्ती किया भी, कुछ साल रखकर उन्हें वहां से उठा लिया। नेताओं को बख्श दिया जाये, तो साधारण जनता के जो लोग निरे आदर्शवादी थे वे अन्तः तक डटे रहे और उन्हीं के बच्चे पूरे चौदह साल गुरुकुल में शिक्षा समाप्तकर स्नातक बने। पर वे भी जब स्नातक बनकर दुनियां में पहुंचे, तो कुछ तो पं० युधिष्ठिर, पं० बुद्धदेव, पं० देवशर्मा जैसे मस्त-मौला बने, बाकी भौतिक-जगत् की ठोकरें खाकर यह समझ गये कि हमारे माता-पिता ने हमारे साथ जो किया सो किया, किन्तु हम अपने बच्चों को गुरुकुल में नहीं भेजेंगे।

यही कारण है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व कुछ स्नातक आदर्शवाद में ओत-प्रोत हुए निकले, उन्होंने समाज की, देश की सब तरह से सेवा की, परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो सारा नक्शा ही बदल गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उनके सामने न तो देश की आजादी का प्रश्न रहा क्योंकि वह मिल चुकी थी, न विदेशी शिक्षा से मुक्त होकर संस्कृत-शिक्षा के लिए तन-निछावर कर देना उद्देश्य रहा क्योंकि शिक्षा का प्रश्न अपने हाथ में आ गया था। स्नातकों के सामने वही प्रश्न उग्र रूप धारण कर उठ खड़ा हुआ जो हर-एक युवक के सामने रहता है। आदर्शवाद तभी एक व्यक्ति को खींचता है जब तक उसके सामने कुछ आदर्श वस्तु पानी होती है। स्वतन्त्रता पानी थी-सब-कुछ त्याग दिया, किसी आदर्श के लिए खास लगन थी-संसार छोड़ दिया। स्वतन्त्रता पाने के बाद तो आदर्श रूप में कुछ पाने को न रहा। सब-कोई पैसे या पद के पीछे भाग रहे हैं, जिस किसी तरह हो पैसा आना चाहिये या पद मिलना चाहिए। राजनैतिक पार्टियों के नेताओं के पास कहते हैं करोड़ों रुपया है, बे-अन्त, साथ ही उनके पास पद है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किसी के सामने कोई आदर्श नहीं रहा, राजनीति ही एक धन्धा हो गया। इसने मानो व्यापार का रूप धारण कर लिया।

इस बदली हुई परिस्थिति में गुरुकुल के संचालकों तथा गुरुकुल के स्नातकों का कर्तव्य है कि गुरुकुल को शिक्षा को कुछ नया मोड़ दें, वे ऐसा मोड़ दें जिससे प्रत्येक व्यक्ति-संस्था के संचालक तथा गुरुकुल के स्नातक अपने बच्चों को गुरुकुल में भर्ती करने के लिये उत्सुक हो जायें, सिर्फ दूसरों के बच्चों पर ही परीक्षण न करते रहें। इस समय तो बाहर से भी छुट-पुट ही बच्चे आते हैं, गुरुकुल शिक्षा को ऐसा मोड़ देना होगा जिससे अन्दर से तथा बाहर से भर्ती होने वाले बच्चों की बाढ़-सी आ जाये। यह मोड़ क्या हो—यह सोचने की बात है।

किसी शिक्षा-संस्था में बच्चे भर्ती होने के लिये क्यों उत्सुक होते है? वे इसलिये भर्ती होने के लिए उत्सुक होते हैं क्योंकि वहां से उत्तीर्ण युवकों की समाज में मांग है। गुरुकुल में जो शिक्षा दी जा रही है, उसकी देश में मांग नहीं है, इसलिए उसके संचालक तथा वहां से निकले हुए स्नातक अपने बच्चों को वहाँ भर्ती नहीं करते। यह सीधी-सादी बात है, इसमें ननु-नच करना अपने को धोखा देना है। तो क्या गुरुकुल बन्द कर दिया जाये? नहीं गुरुकुल की अपनी विशेषताएं हैं जिनके लिए गुरुकुल-शिक्षा पद्धति का रहना

आवश्यक है। वे विशेषताएं क्या हैं ? सादा रहन-सहन, सादा खाना-पीना, गुरु-शिष्य का दिन-रात का सान्निध्य, तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, वैदिक-संस्कृति तथा संस्कृत का ज्ञान तथा अध्ययन—ये सब गुरुकुल शिक्षा-पद्धति की अपनी विशेषताएं हैं। क्या कोई माता-पिता या शिक्षाविज्ञ ऐसे हैं जो अपने बच्चों में इन विशेषताओं को क्रिया में परिणत होकर देखना नहीं चाहते। सब चाहते हैं, परन्तु इसके साथ वे यह भी चाहते हैं कि उनके बच्चों की शिक्षा आधुनिकता के रंग में रंगी हो। अगर वे संस्कृत में काशी के पंडितों की तरह बोल सकें, तो अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, जापानी को भी अंग्रेजो, फ्रांसीसियों, जर्मनों तथा जापानियों की तरह बोल सकें। पूर्व तथा पश्चिम दोनों दिशाओं में उनकी निवाध गति हो। जब वे शिक्षा समाप्त करें, तब समाज के हर क्षेत्र में उनकी मांग हो। वे इस योग्य हो जायें कि हर सरकारी पद के लिये उनकी मांग हो, आई.ए.एस., आई. पी. एस –किसी भी पद के लिये उनकी शिक्षा, ने उन्हें योग्य बना दिया हो, व्यापारिक-जगत् में वे ऊंचे-से ऊंचे एग्ज़ैक्टिव पद के लिए अपने को योग्य पायें। अगर गुरुकुल की शिक्षा में यह मोड़ दे दिया जाये, तो कोई भी व्यक्ति अपने बच्चों को, चाहे वे सभा के अधिकारी हों, चाहे गुरुकुल के स्नातक हों, गुरुकुल में भर्ती करने के लिए क्यों उत्सुक नहीं होंगे। लोग अपने बच्चों को पब्लिक स्कूलों में इसलिये भर्ती नहीं करते ताकि वे कोट-पतलून पहनना या टाई लगाना सीखें वे उन्हें उन स्कूलों में इसलिए भेजते हैं क्योंकि उस शिक्षा की मांग है, वे सही या गलत यह समझते हैं कि उससे युवकों की आजीविका का प्रश्न हल होता है। गुरुकुल की शिक्षा को हमें वह मोड़ दे देना होगा जिससे गुरुकुल के आधारभूत मूल-तत्वों के साथ-साथ हमारा गुरुकुल वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के स्कूलों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर खड़ा हो सके। क्या जरूरत है कि हम अपनी पाठविधि अलग से बनायें। जो पाठविधि सैन्ट्रल स्कूलों में चलती है उसी को हम क्यों न चलायें, अपनी परीक्षाएं अलग-से लेने के स्थान में उन्हीं की हम क्यों न परीक्षाएं दिलवाएं, क्यों न उन परीक्षाओं में मुकाबिले में हम अपने बच्चों को तैयार करें ? अगर हम ऐसा करेंगे तब हम देखेंगे कि हमारे बच्चे जो दिन-रात हमारे अध्यापकों के सम्पर्क में रहेंगे अन्य स्कूलों के बच्चों से हर क्षेत्र में आगे निकलेंगे और इसके साथ-साथ उन्हें गुरुकुलीय जीवन का भी लाभ होगा। आज जगह-जगह "पब्लिक-स्कूल" इस नाम का उपयोग किया जा रहा है। ये नाम मात्र के "पब्लिक-स्कूल" हैं, असली "पब्लिक-स्कूल" तो "गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति" है जिसमें गुरू-शिष्य का दिन-रात का पारस्परिक सम्बन्ध रहता है।

यह शंका की जा सकती है कि अगर हम अपने को प्रचलित पाठ्यप्रणाली में विलीन कर दें तो विद्यार्थी उन विषयों को क्यों पढ़ेंगे जो हम पढ़ाना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि उन्हें संस्कृत का भी ज्ञान हो, उन्हें संस्कृत के श्लोक याद हों, वेद-मन्त्र याद हों, वे अंग्रेजी के साथ संस्कृत में सभाषण कर सकें, उन्हें वैदिक संस्कृति का ज्ञान हो, वे योगासन करें। यह शंका व्यर्थ है। आज के बच्चे अधिकांश समय रेडियों, टेलीविजन आदि व्यर्थ की बातों में बिताते हैं। गुरुकुलवास में उनके पास समय बहुत होगा क्योंकि अनाप-शनाप बातों में उनका समय नष्ट नहीं होगा। अगर सब बच्चे हमारी लाइन पर नहीं चलेंगे तो कुछ तो चलेंगे। सब एक-से हों-ऐसा होता भी नहीं। संस्था का काम बच्चों को उत्तम परिस्थिति से घेर देना है। उस परिस्थिति से जो लाभ उठा लेवे वे जीवन में उस ऊंचाई पर पहुंच जायेंगे जिससे जहां उनका कल्याण होगा, वहां वे समाज के कल्याण में भी सहायक होंगे। अंगुलियों पर गिने जाने वाले ऐसे युवक पर गुरुकुल की छाप होगी वे सैकड़ों उपदेशकों से बढ़कर आर्य-समाज का अपने जीवन से प्रचार कर सकेंगे।

कमी इस बात की है कि हम अभी तक अपने का देश की शिक्षा-धारा से काटे हुए हैं, अगर देश की शिक्षा-धारा के साथ हम एकात्मता स्थापित कर लें, और जो शिक्षक रखें वे उच्चतम कोटि के हों, ऐसे शिक्षक जिन्हें हम ३-४हजार रुपया मासिक दे सकें, तो हमारा केम्पस ऐसा है कि हर कोई अपने बच्चों को हमारी संस्था में भरती करने को उत्सुक हो जायेगा और यह शिकायत नहीं रहेगी कि गुरुकुल के अधिकारी और स्नातक अपने बच्चों को गुरुकुल में भर्ती नहीं करते। इस स्वप्न को चरितार्थ करने के लिये हमें केन्द्रीय सरकार से सहायता लेनी चाहिए, या किसी उद्योगपति को इस काम के लिए तैयार किया जाना चाहिए।

—:०:—

प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों की दार्शनिक पीठिका

डा० जयशंकर मिश्र
रीडर : इतिहास-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्राचीन भारतीय समाज में शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त ज्ञानपरक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था, जिसमें व्यक्ति के लौकिक और परलौकिक जीवन के उत्थान के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। भौतिक और आध्यात्मिक जीवन निर्माण तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों को निष्पन्न करने के लिये शिक्षा की नितान्त आवश्यकता थी। वस्तुतः मनुष्य और समाज का आध्यात्मिक और बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के ही माध्यम से सम्भव माना जाता रहा है। शिक्षा से मनुष्य का जीवन प्रज्ञासम्पन्न, परिष्कृत और समुन्नत ही नहीं होता, बल्कि समाज भी सात्विक और नैतिक निर्देशों का पालन करता हुआ सन्मार्ग पर चलकर विकसित होता है। मनुष्य का जीवन शिक्षा और ज्ञान से ही धर्मप्रवण नैतिक मूल्यों से युक्त उच्च आदर्शों से संवलित और बहुमुखी व्यक्तित्व से युक्त होता है। विद्यार्जन से व्यक्ति आत्मनिर्भरता तो प्राप्त करता ही है, साथ ही परिवार और समाज के निर्माण में योग प्रदान करता है। मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थान, उसके चरित्र का उत्थान उसके व्यक्तित्व का उत्थान, उसके सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादन और उसके सांस्कृतिक जीवन का उत्थान शिक्षा के प्रधान उद्देश्य हैं। शिक्षा के माध्यम से मनुष्य अपने इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में लगा रहता है अथर्ववेद में विद्या अथवा शिक्षा के उद्देश्य और उसके परिणाम का उल्लेख किया गया है, जिसमें श्रद्धा, मेधा, प्रजा, धन, आयु अमृत्व को सन्निहित किया गया है[1]। यह हम प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों की दार्शनिक पीठिका का विश्लेषण करते हैं।

---

१. अथर्ववेद ११।३।१५ ॥

(१) मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थान—

मनुष्य के जीवन में धार्मिक वृत्तियों का उदात्त और गरिमामय स्थान है, जिसमे मनुष्य का जीवन भक्ति-प्रवण और धर्म प्रवण होता है। इस प्रकार की भावना भारतीय समाज में प्राचीनकाल से रही है। विद्यार्थियों के जीवन में भक्ति, धर्म, शुद्धता और पवित्रता की भावना का आरोपण शिक्षा के माध्यम से होता रहा है। ब्रह्मचारी द्वारा दैनिक क्रिया, सन्ध्योपासना, व्रतों का अनुपालन, धर्मसमन्वित उत्सव आदि का अनुगमन उसकी धार्मिक वृत्तियों के उत्थान में योग देते रहे हैं। जीवन के उत्थान और विकास के लिये आत्म-विश्वास, आत्मवल और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो धार्मिक भावना से और सवल होती है। व्रतों के पालन से संयमी मनुष्य को निश्चय ही अपने उस गूढ़ स्वरूप का मान होता है जो उसके आत्मविश्वास का कारण होता है[२]। गुरुकुल में रहते हुए अग्नि परिचर्या के नित्य नियम का पालन ही ब्रह्मचारी का धार्मिक व्रत था और अनुशासन का एक अंग भी[३]। मनु के अनुसार शौच, पवित्रता, आचार, स्नान-प्रिया आदि अग्निकार्य और संध्यो-पासन ब्रह्मचारी का धर्म था। इसके साथ ही उसे धर्म के पालन में प्रसाद न करने का निर्देश दिया गया था जिससे उसका धर्मनिष्ठ व्यवहार बना रहे[४]।

गुरुकुल अथवा गुरु के सान्निध्य में रहने वाला ब्रह्मचारी निष्ठापूर्वक धार्मिक निर्देशों का पालन करता था। अगर उसे किसी बात पर शंका होती थी, तो गुरु उसका निवारण करता था। तैत्तिरीय उपनिषद् में ऐसे पृच्छा करने वाले ब्रह्मचारी के लिये कहा गया है, यदि तुम्हें कभी अपने कर्त्तव्य अथवा सदाचार के विशय में सन्देह उपस्थित हो तो जो विचारशील तपस्वी, कर्त्तव्यपरायण, कोमल स्वभाव के धर्मात्मा ब्राह्मण विद्वान ही उनकी सेवा में उपस्थित होकर अपना समाधान करो और उनके आचरण और उपदेश का

---

२. रश्मिमाला, १०।२, व्रतानां पालनेनैव तद्गूढ़मात्मदर्शनम्।
जायते यंमिनां नूनमात्मविश्वासकारणम्॥

३. छां० उ०, ४।१०।१, उपकौशलो ह्यै कामलायनः सत्यकामे बाबले ब्रह्मचर्यमुपास। तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिचचार।

४. मनु० २।६९, उपनीय गुरूः शिष्यं शिक्षायेच्छौचमादितः। माचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च, त० उ०, १।११'''धर्मं चर''''''धर्मान्ति न-प्रमदित्तव्यम्।

पालन करो। इसी प्रकार उन व्यक्तियों के प्रति, जिन पर रोष और आरोप किया जाता हो, अपने व्यवहार का ही अनुसरण करना चाहिए[५]।

सामान्त: विद्यार्थी के लिए संध्या-वादन, पूजा-पाठ, स्नान, सच्चरित्रता आदि धर्म के अन्तर्गत गृहीत किये गये हैं। सत्य भाषण भी प्रमुख माना गया था और यह कहा गया था कि सत्य बोलने से सभी धर्मों का क्षय हो जाता है[६]। शिक्षार्थी के विभिन्न नियम धर्ममूलक प्रवृत्तियों के विकास में सहायक होते थे। इन्हीं नियमों के आधार पर विद्यार्थी लौकिक और पारलौकिक जीवन को उद्धात बनाने और विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने में सक्षम होता था। वह आध्यात्मिक जगत् के विषय में जानने का प्रयास करता था तथा उसके निमित्त सात्विक जीवन को और तप:शील करता था। अत: मनुष्य के जीवन में तप, दान, आर्जय (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन अनिवार्य माने गये[७]। क्योंकि धर्ममूलक प्रवृत्तियां इन्हीं तत्त्वों से प्रेरित होती थीं तथा व्यक्ति उन पर आचरण करता था।

छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्ध अथवा आधार स्तम्भ बताये गये हैं। यज्ञ, अध्ययन और दान पहला स्कन्ध है। तप अर्थात् कष्ट संहिष्णुता ही दूसरा स्कन्ध है। आचार्य-कुल (गुरुकुल) में रहते हुए अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर देना तीसरा स्कन्ध है। इनका अनुगमन करने वाले पुण्यलोक को प्राप्त करते हैं[८]।

(२) मनुष्य के चरित्र का उत्थान–

मनुष्य के चरित्र का उत्थान शिक्षा का दूसरा उद्देश्य माना जा सकता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति नैतिक क्रियायें सम्पन्न करता हुआ सन्मार्ग का

---

५. तै० उ०, १।११, अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनी युक्ता आयुक्ता आलूक्षा धर्मकायाः स्यु यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः।

६. अमृतमन्थन, १५।४, सर्वे धर्माः क्षयं यान्ति यदि सत्यं न विद्यते।

७. छां०उ०, ३।१७।४, अथ यत्तयो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।

८. छां०उ०, २।२३।१, त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः। तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति।

अनुसरण करता था। चरित्र और आचरण का इतना बड़ा महत्व था कि समस्त वेदों का ज्ञाता विद्वान सच्चरित्रता और सदाचार के अभाव में माननीय नहीं था, किन्तु केवल गायत्री मन्त्र का ज्ञाता पण्डित अपनी सच्चरित्रता के कारण माननीय और पूजनीय था। वस्तुतः सच्चरित्रता मनुष्य का भूषण मानी गयी है। आचार-सम्पन्न और चरित्रवान व्यक्ति अभिनन्दनीय था आचरणहीन और चरित्रहीन व्यक्ति निन्दनीय। सत्कर्मों से ही चरित्र का उत्थान माना गया था। ये सत्कर्म नैतिक मूल्यों से ही संचालित होते थे। शिक्षा अवधि में ही मनुष्य के आचरण और चरित्र को उन्नत करने का प्रयास किया जाता था। समाज के अन्य लोगों के साथ उसके सद्व्यवहार की प्रवृत्ति उसके चरित्रोत्थान में सहायक तत्त्व थी। सहिष्णुता और सौहार्द, सत्यनिष्ठा और नैतिकता तथा सदाचरण और आदर्श मनुष्य के चरित्रोत्थान के प्रधान कारणभूत तत्त्व थे। अतः धर्म का जिसमें वर्धन था, वही पण्डित था[९]। शिक्षा के माध्यम से अपनी तामसी और पाशविक प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखता था तथा सत्-असत् का भेद कर सकने में समर्थ होता था। जब मनुष्य को सत् का पूर्ण ज्ञान हो जाता था और अपने चरित्र एवं आचरण को वह तदनुकूल बना लेता था, तब उसके चरित्र का उत्थान प्रारम्भ होता था। विद्यार्थी काल में ही शिक्षा की यथोचित प्राप्ति होती थी तथा चरित्र को तद्नुरूप संघटित करने का अवसर मिलता था, इसलिए चरित्र का विकास और भावी जीवन के विस्तार का वह सर्वोत्तम काल था। अपने इस काल में शिक्षार्थी विभिन्न नियमों और निर्देशों का पालन सुगमता पूर्वक कर सकता था तथा व्यवहार, सदाचार और शील का अर्थ समझ सकता था।

ब्रह्मचारी का जीवन सत्य, तप और नियम का जीवन था। इसलिए कहा गया था कि ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म (ज्ञान) को धारण करता था और उसमें समस्त देवता अधिवास करते थे[१०]। समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतों का पालन करते हुये ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को समुन्नत करता था[११]। ब्रह्मचारी का तप और आचरण इतना शक्तिशाली था कि सभी उसके सम्मुख नत होते थे। यह माना गया था कि

---

९. महाभारत, अनुशासनपर्व, १२।३२।७८॥

१०. अथर्ववेद, ११।५।२४, ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति। तस्मिन् देवाऽधि विश्वे निषेदुः।

११. वही, ११।५।४, ब्रह्मचारी समिधा मेखलया। श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥

ब्रह्मचर्य के तप से राजा राष्ट्र को रक्षा में समर्थ होता था। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों को यथोचित रूप में शिक्षित करने की योग्यता अपने में सम्पादित कर पाता था[12]। चरित्र और आचरण के उत्थान में ब्रह्मचारी का व्रत अनिवार्य था, इसीलिये शिक्षार्थी को ब्रह्मचर्य-व्रती का गया था। ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक इन्द्रिय-निग्रह और व्रत पालन का विचार भी प्रारम्भ से ही इसके साथ संयुक्त हो गया था[13]। वस्तुतः चरित्र के उत्थान में ब्रह्मचर्य का मौलिक अभिप्राय अर्थात् वेद, अथवा दूसरे शब्दों में ज्ञान को प्राप्त करना था[14]। जो शाश्वत और दिव्य था। तप तो ब्रह्मचर्य जीवन का आवश्यक महिमामय अंग ही था[15]। शौच पवित्रता, आचार, स्नानक्रिया, अग्निकार्य और संध्योपासन ब्रह्मचारी के चरित्र के आधार तत्त्व थे, जिससे उसके चरित्र का उत्थान होता था[16]।

(३) मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्थान—

शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष होता था। विभिन्न प्रकार के निर्देशों, संयमो और नियमों से मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता था, जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता था। शिक्षा प्राप्ति मे ही व्यक्ति विभिन्न कर्त्तव्यों का पालन कर सकने में सफल होता था। इससे उसके भीतर आत्मसंयम, आत्मचिन्तन, आत्मविश्वास, आत्मविश्लेषण, विवेक-भावना न्याय-प्रवृत्ति और आध्यात्मिक वृत्ति का उदय होता था।

आत्मबिश्वास की भावना से ही व्यक्तित्व का विकास समुचित रूप मे होता है। प्राचीन भारत में यह माना गया कि शिक्षार्थी में आत्मविश्वास का होना उसके व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास का कारण था। अपने कर्मों और उत्तरदायित्वों को आत्म-विश्वास पर ही सही ढंग से निष्पन्न किया जा सकता था। इसीलिए ब्रह्मचारी में यह आत्म-विश्वास जागृत कराया जाता था कि

---

१२. वही, ११।५।१७, ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

१३. गोपथ ब्राह्मण, १।२, १-७।

१४. अमृत मन्थन, १।१ ४५-४६ सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम्। कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत् ॥ तदेततदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते। तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते।

१५. प्रश्नो०, ५।०, स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति।

वह भावी जीवन को भयंकर कठिनाइयों में भी स्थिर-मति रह सके। इसी विश्वास के साथ वह गुरु के सान्निध्य में रह कर विभिन्न नियमों का पालन करता था और अपने अद्भुत साहस का परिचय देता था। भविष्य के संकट-मय जीवन को अनुकूल बनानें में उसका आत्म-विश्वास ही उसका एकमात्र सहायक होता था। शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व जब उपनयन संस्कार होता था उसी समय उसका आत्म-विश्वास जगाया जाता था अग्नि से यह अर्चना की जाती थी कि वह छात्र पर अपनी दयादृष्टि रखे और उसी बुद्धि, मेधा और शक्ति में वृद्धि करे[17]। जिसमे अग्नि-शिखा की तरह उसकी विद्या और शक्ति कीर्ति सभी दिशाओं में प्रसारित हों। अनेक देवताओं के पूजन के साथ उसमें वह भावना दृढ़ की जाती थी कि ये देवतागण उसकी रक्षा करेंगे। ब्रह्मचारी की चोट और मृत्यु के समय सविता देवता उसकी रक्षा करता था[18]।

ब्रह्मचारी के लिए आत्मसंयम की अपेक्षा की जाती थी। आत्मसंयम का अभिप्राय आत्मनियन्त्रण से था। अपने कर्त्तव्यों का पालन करने की दृष्टि से इन्द्रियों और मन की उच्छश्रृंखल प्रवृत्तियों को नियन्त्रित और व्यवस्थित रखना आत्मसंयम था। इससे व्यक्तित्व का उत्कर्ष स्वाभाविक गति से होता था। गीता में कहा गया है कि संयमयुक्त योग के ही दुःखों को दूर करता है जो यथायोग्य सोने वाला और जानने होता है[19]। इस तरह व्रतों, नियमित और व्यवस्थित आचरण आत्मसंयम का महत्वपूर्ण आधार था। इससे विवेक भावना और न्याय-प्रवृत्ति का उदय होता था जिससे धार्मिकता और आध्या-त्मिकत की अभिवृद्धि होती थी। अतः व्यक्तित्व के उत्थान में सभी तत्वों का सक्रिय योग रहा है।

(४) सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादन :—

शिक्षित होने के कारण व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निष्ठा-पूर्वक निष्पादन करता था। स्नातक के रूप में वह अपने ही हिता का ध्यान नहीं रखता था बल्कि वह अन्याय जिज्ञासु विद्यार्थियों को निःशुल्क विद्या भी प्रदान करता था। वह अपने कर्म करते हुये अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा दृढ़

---

१६. मा० गृ० सू० १।५, अयं ते इद्धं आत्मा जात वेदः तेन वर्द्धस्व चेघि वर्द्धय चास्मान्।
१७. आश्व० गु० सू०, १।२०।६, देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी स मामृत।
१८. गीता ६।१७, युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्र कर्मसु।
युक्तास्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा॥

रखता था। पुत्र, पति और पिता के रूप में वह अपने विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करता था। विद्यार्थी के समावर्तन समारोह के उपदेश में उसके लिए तैत्तिरीय उपनिषद में इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया था; सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय में प्रमाद न करना। आचार्य की दक्षिणा दे लेने पर सन्तति-उत्पादन की परम्परा विच्छिन्न न करना। सत्य से न चूकना पठन-पाठन के कर्त्तव्य में प्रमाद न करना। देवता और पितरों के कार्य (यज्ञ और श्राद्ध आदि) से आलस्य न करना। माता को देवी समझना। पिता को देवता समझना। आचार्य को देवता समझना। अतिथि को देवता समझना अन्यान्य दोषरहित कार्यों को करना।[१९] इस कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के अनेकानेक उत्तरादायित्व थे, जिन्हें वह शिक्षा-प्राप्ति के बाद सोत्साह मनोनिवेशपूर्वक निष्पन्न करता था।

सभी वर्णों और जातियों के अपने पृथक्-पृथक् कर्म थे, जिनको सम्पादित करना उनका परमधर्म था। सबके अपने व्यसाय थे, जिनके अनुसार वे अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते थे।

शिक्षा और ज्ञान के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों को निष्पन्न करता था तथा अपने उद्देश्यों को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाता था। कार्य-विभाजन के अनुसार सभी वर्णों और जातिओं के भिन्न-भिन्न कर्म थे। जिनका अनुपालन करता सभी लोगों का अपना कर्त्तव्य था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अपने विपिन्न कर्म थे, जिन्हें वे निष्ठापूर्वक सम्पादित करते थे यद्यपि ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब इन वर्णों के कतिपय सदस्यों ने आपत्तिकाल में अपने वर्णगत कार्य का त्याग करके दूसरे वर्णों के कर्म अपना लिए, जिससे वे अपने परिवार और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर सकें।

(५) सांस्कृतिक जीवन का उत्थान :—

शिक्षा और विद्या के माध्यम से मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन का भी उत्कर्ष होता है। शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीती है तथा

१९—तै० उ०, १।११, सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायमान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तु मां व्यवच्छेत्सीः सत्यान्न प्रमुदितव्यम्। धर्मान्त प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदिततव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि।

पहले से चली आती हुई परम्परायें जीवन्त हो उठीं हैं। अतः अपनी सन्तति को शिक्षा द्वारा ही शिक्षित करना और प्राचीन संस्कृति की ओर प्रवृत्त करना इसका प्रधान लक्ष्य था। वैदिक साहित्य तथा अन्यान्य विषयों का ज्ञान और उसका प्रसार शिक्षा का प्रधान आधार था वेदों को कण्ठस्थ करना कर्त्तव्य था, साथ ही आर्य संस्कृति का प्रधान उद्देश्य भी।

सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन के लिए ऋण से मुक्ति की अनिवार्यता मानी गयी[20]। प्रत्येक द्विज परिवार में इन तीनों ऋणों की सम्यक्रूपेण पूर्ति करना प्रधान कर्त्तव्य था। वस्तुत ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन कर व्यक्ति ऋषिऋण से तथा सन्तान (प्रजनन) द्वारा पितृऋण से। देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण ये तीन ऋण थे, जिनसे मनुष्य को मुक्त होना अवश्यंभावी था। देव-ऋण से तब मुक्ति मिलती थी, जब परिवार समाज में यज्ञ सम्पन्न किये जाते। ऋषि ऋण से छुटकारा ग्रन्थों का सांगोपांग अध्ययन करने से मिलता था। पितृ-ऋण सन्तान उत्पन्न करने से उतरता था। इस प्रकार मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन का विकास होता था।

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्य अत्यन्त उदात्त और गरिमामय थे, जिनकी दार्शनिक पीठिका अत्यन्त दृढ़ और सशक्त थी। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति एक सुनियोजित और सुव्यवस्थित मार्ग से अग्रसर हुई शिक्षा के विभिन्न आयामों को पराकाष्ठा तक पहुंचाई।

---

२० - श० ब्रा०, १।५।५ ॥

* गीत *

ये शिवालिक : वे शिवालिक

—मुरारीलाल शर्मा
केन्द्रीय विद्यालय-१ बी०एच०ई०एल० रानीपुर

सो रहे हैं
पाँव फैलाए
ये शिवालिक—सो रहे हैं ।
घाटियों से
जंगलों से
उठ रहा है शोर
आज मौसम
फिर अचानक
हो गया मुंहजोर
खो रहे हैं
पर्वतों का सुख
वे शिवालिक—खो रहे हैं ।
नदी-निर्झर और नाले
हो गए हैं—
लाल
फिर अचानक
भेड़ियों ने
बदल ली है चाल
ढो रहे हैं
लाश अपनी ही
वे शिवालिक—ढो रहे हैं
ये शिवालिक—सो रहे हैं ।।

❀❀❀

कवियों की कुछ रमणीय विवशतायें !

डा० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता : दर्शन विभाग गु० कां० विश्वविद्यालय

असामर्थ्य, या अशक्ति जीवन के अन्य क्षेत्रों मे भले ही हीनता की द्योतक हो, काव्य के क्षेत्र में तो कहीं-कहीं वह बड़ी रमणीय और स्पृहणीय बन गई हैं। कविता के मार्ग में कभी-कभी कुशल कवि भी विषय-वस्तु के कथन में स्वयं को असमर्थ कहने लगता है, किन्तु उसके उस असामर्थ्य प्रकाशन मे सहृदय पाठकों का हृदय अनायास आनन्द मे मग्न हो जाता है। आपने तुलसी का 'रामचरित मानस' तो पढ़ा ही होगा। चित्रकूट में राम और भरत के मिलन को पढ़कर सरस व्यक्ति तो क्या नीरस पाठकों का चित्त भी आनन्द सन्दोह में प्रवाहित हुए बिना नहीं रहता। किन्तु तुलसी कहते हैं कि 'मैं राम और भरत के मध्य उस प्रेम को शब्दों के द्वारा वर्णित करने में नितान्त असमर्थ हूं'। उनके शब्द हैं—

अगम सनेह भरत रघुबर को।
जँह न जाइ मन विधि हरि हर को॥
सो मैं कुमति कहौं किहि भाँति।
बाज सुराग को गाडर तांती॥

अर्थात् 'भरत और राम का पारस्परिक स्नेह दूसरों के लिये नितान्त अगम्य है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव का मन भी स्नेह की उस गहराई तक नहीं पहुंच सकता। उसको मैं कुबुद्धि तुलसीदास कैसे कह सकता हूं। भला कहीं भेड़ की तांत से बनी वीणा से सुन्दर राग बज सकता है ?

ऐसे ही असामर्थ्य का अनुभव तुलसी ने राम और लक्ष्मण की मनोहर जोड़ी का वर्णन करते हुए किया है। राम के अनुपम रूप का स्वाद अनेक चकोरों और भक्त जनों ने किया है, बहुतों ने उनके सौन्दर्य की ज्योत्सना में स्नान किया है, किन्तु उस प्रियतम के रूप का अविकल चित्रण कोई नहीं कर

पाया। तुलसी जैसा कवि भी रूप माधुरों के बखान में कितनी स्पृहणीय विवशता प्रकट कर रहा है—

स्याम गौर किमी जाद्र बरवानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

वाणी को नेत्र मिले होते और नेत्रों को वाणी मिली हो तो शायद उस उस अपरूप लावण्य को अभिव्यक्ति दी जा सकती थी किन्तु वाणी कह सकती है, रूप का अनुभव नहीं कर सकती। नेत्र रूप का अनुभव कर सकते हैं, किन्तु कह नहीं सकते। उस अरूपी के रूप का समग्र अभिव्यञ्जन करें तो कैसे ?

जयशंकर प्रसाद ने तो—

चंचल स्नान कर आवे।
चन्द्रिका पर्व में जैसी॥
उस पावन तन की शोभा।
आलोक मधुर थी ऐसी॥

यह कहकर अपने प्रिय के रूप को शब्दों में बांधने का प्रयास किया है किन्तु बिहारी की दृष्टि में सभी कबि रूपी चित्रकार राम और श्याम के रूपांकंन में क्रूर बन कर रह गये है—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भय न केते जगत् के चतुर चितेरे कूर॥

वस्तुतः जो सब रूपधारियों का रूप है, चितेरों का भी चित्रकार है दृष्टियों का भी द्रष्टा है तथा अनुभविताओं का भी अनुमान है, जो प्रकाशों का भी प्रकाश है, भला उस अरूप अनाम तत्त्व का रूपांकन और नामांकन कौन कर सकता है। हृदय जिसके छोड़ने को तैयार नहीं वह बात होठ के द्वारा बाहर निकले तो कैसे ? वह तो गूंगे का गुड़ है, अन्धे का रूप है।

कवियों की ये विवशतायें कई रूपों में देखने को मिलती है। यह विवशता स्वयम् कवि के लिए भले ही आत्मतोष में बाधा उत्पन्न करती हो किन्तु सहृदय पाठकों के लिए तो वही आह्लादिका हो जाती है।

कवि श्रेष्ठ भर्तृहरि जब मनुष्यों के प्रकार खोजने लगे तो चार प्रकार के मनुष्य मिले। तीन प्रकार के मनुष्यों को तो उन्होंने नाम दे दिया। किन्तु चौथे प्रकार के मनुष्यों को क्या नाम दिया जाये, यह वे भी न समझ पाये। इसी का चित्रण निम्न श्लोक में देखिये—

> एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये।
> सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्था विरोधने ये॥
> तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
> ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

एक प्रकार के मनुष्य तो वे होते हैं जो अपने प्रयोजन को छोड़कर दूसरे का हित सम्पादन करते हैं। उन्हें सत्पुरुष कहा जाता है। दूसरे प्रकार के मनुष्य वे हैं जो दूसरों का हित उसी सीमा तक करते हैं जहां तक अपने स्वार्थ पर चोट नहीं आती। उन्हें सामान्य पुरुष कहा जाता है। तीसरे प्रकार के ऐसे निकृष्ट पुरुष होते हैं जो अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों के हित का गला घोंट देते हैं। उन्हें मानुष रक्षक (मनुष्यों में राक्षस तुल्य) कहते हैं। किन्तु एक चौथे प्रकार के मनुष्य भी हैं जो बिना किसो प्रयोजन के ही दूसरों की हानि किया करते हैं। उन्हें क्या नाम दिया जाये? भतृहरि कहते हैं कि इस विषय में, मैं भो असमर्थ हूं।

हिन्दो साहित्य में मैं एक उत्कृष्ट कवि हो चुके हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जो सरस काव्य के निर्माण में निष्णात हैं। सरस काव्य की धुन में उन्होंने भी एक रसाप्लावित विवशता प्रकट की हैं।

प्रसंग इस प्रकार का है कि किसी मुग्धा नायिका का प्रियतम परदेश जाने को उद्यत है। ऐसे समय में प्रियतमा को मनोदशा बड़ी विचित्र है। एक तरफ वियोग जनित भावी दुःख की कल्पना करके उसका हृदय बैठा जा रहा है। दूसरी ओर वह प्रियतम से कुछ कहना चाहती है, किन्तु क्या कहे, यह निर्णय नहीं कर पा रहो है। इसो प्रसंग को तो उन्होंने इसप्रकार वर्णित किया है—

> रोकहि जौ तो अमंगल होय,
> औ प्रेम नसै जो कहै पिय जाइये।
> जो कहै जाहु न, तो प्रभुता,
> जो कछू न कहै तो सनेह न साइयै॥

जो हरिश्चन्द्र कहै तुम्हरे बिन,
जीहैं न तो यह क्यों पतियाइये।
तासों पयान समै तुम्हरे हम,
का कहैं प्यारे हमैं समुझाइये।।

यदि नायिका परदेश-गमन के लिए उद्यत पति को जाने से रोकती है तो अमंगल होता है। क्योंकि लोक में जाते हुए टोकना अपशकुन माना जाता है। यदि वह स्पष्ट कह देती है कि 'प्रियतम ! यदि तुम जा रहे हो तो जाओ' तो ऐसा कहने से प्रेम नष्ट होता है। पति सोचेगा यह कैसी निष्ठुर है कि एक बार रुकने के लिए भी न कहकर स्पष्ट कह रही है कि चले जाओ।

यदि कहती है कि पत जाओं तो प्रभुत्व प्रकट होता है। एक स्वामी को ही यह अधिकार होता है कि वह सेवक को जाने या जाने का आदेश दे। यदि कुछ भी न कह कर चुप रहती है तो प्रेम नष्ट होता है। प्रियतम सोचेगा कि बड़ी कठोर है। चलते समय भी कुछ नहीं बोली। यदि कहती है कि तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रहूँगी; तो इस बात पर कौन विश्वास करेगा।

अन्त में कोई निर्णय न करके वह प्रियतम से ही पूछती है कि प्रियतम! अब आप ही बताइये कि आपके प्रस्थान करते समय हम क्या कहें।

कवि ने अपनी वाक्याचातुरी से उस कठिन समय को भी सहृदयों के लिए कितना सरस बना दिया है। समस्त रस जैसे 'हम का कहैं प्यारे हमें समुझाइये' में सिमट कर रह गया है।

ऐसी ही विवशता का प्रकाशन कभी-२ भक्त कवि अविगत गति भगवान की गति का वर्णन करते समय भी करते हैं। जैसे कबीर के शब्दों में—

हलका कहूँ तो बहु डरूं, भारी कहूँ तो झूठ।
मैं का जानों राम को, ननन कभी न दीठि।।

इसीलिए कविजन उसे गूंगे के गुड़ से तुलित करके स्वयं को कृतकृत्य मान लेते हैं।

कवियों की तथाकथित विवशतायें मुझे तो अवर्णनीय रसास्वाद कराती हैं। स्वान्तः सुखाय लिखा गया यह लघु लेख यदि पाठकों का भी मन बहलावे तो यह उनकी ही महत्ता होगी।

प्राचीन भारत में ताँबा

विनोद कुमार शर्मा, एम.ए.
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व

भारतवर्ष का सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्र, ज्ञान की विद्याओं के सभी क्षेत्रों में सम्पन्न, अपने अतीत की छवि, स्वयं दर्शाता है। आवश्यकता तो केवल उसे ध्यान पूर्वक देखने मात्र की है। भारतवर्ष की यह धरती-माता अपना अतीत, अपने वक्ष तथा गर्भ में समेटे हुए हैं। पुरातत्त्ववेत्ता, पृथ्वी के वक्ष तथा गर्भ का ऑपरेशन (सर्वेक्षण व उत्खनन), करता है, जिसके द्वारा वह उसकी आत्मा (संस्कृति सभ्यता) को जीवित रखता है। वह, प्राप्त सामग्री का संयोजक व संकलन, अपनी ज्ञानाभिवृद्धि व सभ्यता-निर्माण के लिए करता है। इसी पूर्ति हेतु वह ज्ञान के विभिन्न विषयों की विभिन्न शाखाओं की सहायता भी प्राप्त करता है। किसी विद्वान पुरातत्त्ववेता का सम्पूर्ण जीवन उस एक ईंट के बराबर कहा जा सकता है, जो प्राचीन संस्कृति व सभ्यता रूपी भवन के निर्माण में प्रयुक्त हुई हो। इससे यह अनुमान सहज-ही लगाया जा सकता है कि पुरातत्त्व-विज्ञान, एक विषय के रूप में कितना व्यापक एवं महत्वपूर्ण है।

पुरातत्त्व-विज्ञान, का आधार भूत उद्देश्य उन प्राचीन चिह्नों का अध्ययन व अन्वेषण है जो क्रमशः ज्ञात व अज्ञात है। जिससे कि मानव अपने अतीत से प्रेरणा लेकर अपने भविष्य के निर्माण पर विचार कर सकें। इन प्राचीन चिह्नों में स्मारक, भवनों के अवशेष, मूर्तियां, सिक्के, लिपियां (लेख), जीव एवं वनस्पति अवशेष, अस्त्र-शस्त्र पात्र आभूषण, नाना प्रकार के उपकरण, चित्र, साहित्य स्मृतियां एवं अनुश्रुतियां, धातु, अधातु व मिश्र धातु निर्मित वस्तुएं तथा अन्य सब प्राचीन सामग्री आती है। प्राचीन वस्तु के महत्व का निर्णय उसकी प्रचीनता से नहीं अपितु उसकी उपयोगिता। प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता के इतिहास निर्माण के सन्दर्भ में) से निर्धारित होता है। मानव के पृथ्वी पर उपस्थित होने के पश्चात् सर्वप्रथम, उनके द्वारा पत्थर का प्रयोग प्रमाणित हैं। तदुपरान्त उसने धातुओं का प्रयोग प्रारम्भ किया। जिनमें

लोहा, ताँबा, चांदी, सोना, जस्ता व टिन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सर्वाधिक उपयोग लोहे का किया गया। धातुओं के ज्ञान के पश्चात् मिश्रधातुओं का निर्माण हुआ।

२. प्राचीन भारत में ताम्र प्रयोग का ऐतिहासिक सर्वेक्षण—

प्राचीन भारत में धातुओं के क्षेत्र में ताँबे(ताम्र) के प्रयोग का एक सतत इतिहास प्राप्त होता हैं। ताम्र के प्रयोग का प्रारम्भ, स्पष्टतः नूतन-पाषाण-काल (४०००ई०पू०-२०००ई०पू०)में हो गया था। ताँबे के प्रयोग के कारण ही यह काल, चाकोलिथिक-पीरियड़ भी कहलाया। इस काल के ४०० ताम्र उपकरण म० प्र० के गुंजेरियां नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं नियोलिथिक पीरियड काल के पश्चात् हड़प्पा संस्कृति (३०००ई०पू०-२००० ई०पू०) में भी ताम्र-धातु का प्रयोग मानव ने किया। हड़प्पा-संस्कृति की ताम्र-निर्मित छोटी-छोटी छड़ें (सम्भवतः सिक्के या नापनी) व काँस्य (ताँबे की मिश्रधातु) की बनी नृतकी की मूर्ति उल्लेखनीय है। इसके पश्चात् के काल अर्थात् ऋग्वैदिक-काल में ताम्र-प्रयोग पर प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है। क्योंकि ऋग्वेद (२००० ई०पू०-१५००ई०पू० में कहीं भी ताँबे का उल्लेख नहीं मिलता है। तत्पश्चात् उत्तरवैदिककाल (१५०००ई०पू०-१०००ई०पू०) में ताँबे से मानव परिचित था। यजुर्वेद में ताम्र को 'लोहा' तथा अथर्वेद में लोहित कहकर सम्बोधित किया गया है। ब्राह्मण-युग (१०००ई०पू०-६००ई० पू०) में ताँबे का प्रयोग व्यापक रूप से होता था। ब्राह्मण-साहित्य के सभी ग्रन्थों में सन्दर्भ-वश ताम्र उल्लेख प्राप्त है। तैत्तिरिय व मैत्रेयी संहिताओं तथा शतपथ-ब्राह्मण में ताँबे का उल्लेख लाल-धातु के रूप में किया गया है। छान्दोग्य व जैमिनी-उपनिषदों में भी तांबे का उल्लेख मिलता है।

बौद्ध व जैन युग (६००ई०पू०-३००ई०पू०) में ताम्र-प्रयोग के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। यहीं काल, महाकाव्य-काल (५०० ई०पू०-२००ई०पू०) माना जा सकता हैं। ताम्र निर्मित बौद्ध-मूर्तियों का उल्लेख ह्वेनसांग ने भी किया है। इसी काल के आयुर्वेदाचार्यो चरक व सुश्रुत आदि ने ताँबे के साथ-साथ इसकी मिश्र धातुओं जैसे काँस्य व पीतल आदि का भी उल्लेख है। मनु ने भी ताम्र धातु का वर्णन किया है।

मोर्य-काल (३२३ ई०पू०-१८७ ई०पू०) में भी ताँबे का प्रचुर-मात्रा में

प्रचलन था। कौटिल्य ने ताम्र-धातु, उसके अयस्कों व मिश्रधातुओं का अपने अर्थशास्त्र में व्यापक रूप से वर्णन किया है। ग्रीक-राजदूत मेगस्थनीज, जो चन्द्रगुप्तमौर्य के शासन काल में भारत आया था, ने भी ताँबे के भारत वर्ष में प्रचलन का उल्लेख किया है। नेपाल-भारत सीमा पर स्थित, अशोक के एक स्तम्भ में, एक बड़े कॉपर-बोल्ट(ताँबे का पेंच) का होना, उस समय की ताम्र-प्रयोगिता का अकाट्य प्रमाण है। मौर्य-काल के पश्चात का काल (१८७ई० पू०-३००ई०) भारत में राजनीतिक-विछिन्नता का काल रहा। सम्पूर्ण भारत में अनेक राज्य सत्ताएं स्थापित हुई जिन्हें मुख्यत तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) उत्तरी-पश्चिमी भारत में शुंग, कण्व व विदेशी शासक (इन्डो-ग्रीक शक और पल्लव, कुषाण तथा क्षत्रप आदि)।

(२) मध्यभारत में वाकाटक।

(३) दक्षिणी भारत में आन्ध्र, चोल, खाखेल, चेर व पांड्य आदि।

इन सभी राजनीतिक सत्ताओं के काल में ताम्र-प्रयोग का बाहुल्य था। ताँबे के आभूषण, मूर्तियां व सिक्के आदि बनाये जाते थे। इस काल के शासक कनिष्क तथा अन्य शासकों के ताम्र-निर्मित सिक्कें प्रचुरता मात्रामें प्राप्त हुए है।

गुप्त-काल (३००ई०-५५०ई०) के शासकों ने ताँबे का प्रयोग मूर्तियां व मुद्राओं के निर्माण में किया। गुप्त कालीन ताम्र निर्मित बुद्ध प्रतिमा जो सुल्तानगंज से प्राप्त हुई थी, उल्लेखनीय है। गुप्तकाल के कलात्तक-गौरव को बढ़ाने में ताँबे के प्रयोग का भी योगदान रहा है। इस समय तक ताँबे का प्रयोग, आम व्यवहार में आत्यधिक हो गया था। गुप्तो के पश्चात(५५०ई०-१२००ई०) ताँबे का प्रयोग उत्तरी व दक्षिणी भारत में सामान्य बना रहा।

३. प्राचीन-भारत में ताम्र-खनन—

यद्यपि सहस्त्रों वर्षों के बाद, आज यह स्पष्टतः बताना एक दुष्कर कार्य है कि प्राचीन भारतवर्ष में ताम्र खनि कर्म किन-किन स्थानों पर होता था। फिर भी उपलब्ध राक्ष्यों के आधार पर इस विषय पर एक विहंगम दृष्टि डाली जा सकती है।

ह्वेनसाँग ने अपने यात्रा विवरण में व्यास नदी की ऊपरी घाटी के कुल्लू जिले में अन्यधातुओं के साथ-साथ ताँबे की उपस्थिति का उल्लेख किया है। गढ़वाल व कुमाँयू के बारे में भी ह्वेनसांग ने लिखा है कि इन क्षेत्रों में शुद्ध ताँबा पाया जाता है। आधुनिक अनुसंधानों से इन क्षेत्रों में कुछ वर्षों पूर्व ही ताँबे की प्राचीन खानों का पता लगाया गया है। ये ताम्र-खानें थानपुर, धोबरी, अगोरसेरा और पोकरी नामक स्थानों पर पायी गयी है। इनके सम्बन्ध में भूगर्भवेत्ता बारेट ने महत्वपूर्ण एव उल्लेखनीय कार्य किया है।

नेपाल भी प्राचीन काल में अपनी शुद्ध ताँबे की खानों के कारण प्रसिद्ध था नेपाल में कुछ वर्षो पूर्व तक पुरानी पद्धति के अनुसार ही खनन कार्य होता रहा। प्राचीन भारत में नेपाल व सिक्किम का ताँबा औषधि-निर्माण में प्रयुक्त होता था। सुश्रुत व चरक आदि ने नेपाल व सिक्किम के ताँबे की शुद्धता व श्रेष्ठता का वर्णन किया है। आसाम के कामरूप जिले में भी प्रानीन ताम्र खानों के संकेत मिले है।

राजपूताना की ताँबे की खानों के सन्दर्भ में प्रसिद्ध भूगर्भवेत्ता बाल ने अलवर, भरतपुर, जयपुर, उदयपुर, बुन्डी और बीकानेर में पुरा-ताम्र-खानों के होने का वर्णन किया है इनमें से कुछ में आज भी ताम्र खनन् कार्य हो रहा है। ऐसा ही विवरण विद्वान् भूगर्भवेत्ता होकेट ने भी दिया है। कर्नल टॉड ने, राज-स्थान में, प्राचीन काल में ताम्र-खनन का उल्लेख किया है।

मध्य-भारत में गुंजेरियां से प्राप्त पुरा ताम्र उपकरण यह संकेत देते हैं कि यहां पर भी ताम्रखनिकर्म होता था। सुलतानगंज से प्राप्त, बुद्धि की प्राचीन ताम्र-प्रतिमा भी मध्य-भारत में ताम्र खनन की उपस्थिति का प्रमाण मानी जा सकती है।

भूगर्भीय व साहित्यिक साक्ष्य बताते हैं कि ताम्र खनन, पिघलाई व ढलाई का कार्य छोटा नागपुर के सिंहभूमि तथा हजारीबाग नामक स्थानों पर व्यापक पैमाने पर होता था। सिंहभूमि, मसान बनी, आसाबनी, बदिय तथा रूगा आदि स्थानों पर कुछ ब्रिटिश-कम्पनियों ने पुराताम्रावशेषों को ही आधार व निर्देशक मानकर ताँबे की खोज व खनन का कार्य किया था। यह कार्य डॉ० स्टोहर के निर्देशन में हुआ था। डॉ० स्टोहर का कथन है कि उपर्युक्त स्थानों पर असंख्य पुराताम्र टुकड़ों का संचय तथा खानों के चिह्न

स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं । जो सम्भवतः २००० वर्षों पुराने हो सकते हैं । हजार बाग जिले मे बारागुण्डा नामक स्थान पर ४८ ऐसे स्थलों का पता लगाया गया है जहाँ पर पुराताम्रखानों के स्पष्ट संकेत हैं ।

दक्षिणी भारत में यद्यपि प्राचीन ताम्र खनन के स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते हैं परन्तु काँस्य व पीतल की बनी अनेक दक्षिणी भारतीय मूर्तियां यह संकेत देती है कि प्राचीन समय में दक्षिण भारत में ताम्र खनन होता था। भूगर्भवेत्ता व यात्री हेन ने दक्षिणी भारत के कैलास्ट्री, वेंकेटचेरी तथा नेल्लोर जिलों में जो तमिलनाडु राज्य के भाग है, पुराताम्रखानों के होने का वर्णन किया है !

यद्यपि प्राचीन भारत में ताम्र खनन का एक क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत नहीं किया जा सका है । फिर भी उपरोक्त विवरण से इतना तो अवश्य स्पष्ट हो गया है कि प्राचीन काल में सम्पूर्ण भारत में ताम्रखनन का कार्य न्यूनाधिक मात्रा में होता था ।

४. प्राचीन भारत में ताम्र अयस्क एवं धातु कर्म—

अब प्राचीन भारत में ताँबे के अयस्को पर दृष्टि डाली जाय । अयस्क, वह पदार्थ होता है, जो खानों से निकाला जाता है और जिसमें अभीष्ट वस्तु अन्य अशुद्धियों के साथ विद्यमान होती है । इसे पिघलाकर शुद्ध धातु प्राप्त की जाती है । प्राचीन साहित्य के रासायनिक-उल्लेखों में ताँबे के दो अयस्कों माक्षिका (पायराइट) व विमला (कॉपर-ग्लास) का प्रमुख रूप से उल्लेख मिलता हैं । इन अयस्को से ही प्राचीन काल में ताम्र उत्पादन होता था ।

तृतीय शती ई० पू० आयुर्वेदाचार्य सुश्रुत ने माक्षिका की दो श्रेणियों का वर्णन किया था । एक बार रंग स्वर्णिम तथा दूसरे का श्वेत होता था । स्वर्णिम अयस्क, हेम-माक्षिका (गोल्डन-पायराइट) में ताँबे के साथ-साथ स्वर्ण भी विद्यमान होता था । यह अयस्क तापी नदी (आधुनिक ताप्ती-नदी) के आस-पास बहुतायत में और कन्नौज, चीन तथा यवनों व किरातों के राज्यों में भी न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता था । तापी-नदी के पास पाये जाने के कारण यह अयस्क 'ताप्य' भी कहलाता था । श्वेत अयस्क, तारा-माक्षिका (सिल्बरी-पायराइट) में ताँबे के साथ लौह पाया जाता था । माक्षिका अयस्का

का उल्लेख तेरहवीं शती ई० ग्रन्थों-रसरत्नाकर, रसार्णव व रसरत्न समुच्चय आदि में मिलता है।

तांबे के दूसरे प्रकार के अयस्क विमला (कॉपर-ग्लास) का वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। कौटिल्य ने लाल व हरे रंग के ताम्र-अयस्कों का उल्लेख किया है। इस अयस्क को सुहागा व अन्य रासायनिक पदार्थों के साथ गर्म करके तांबा प्राप्त करना उल्लिखित है। प्राचीन रासायनिक विवरणों में कहीं-कहीं विमला-अयस्क की तीन श्रेणियां—स्वर्णाभ, श्वेत व काँस्य-सदृश बताई गई है। सौलहवीं शती ई० के ग्रन्थ भाव-प्रकाश में ताम्र-धातु के अयस्क का प्रर्याप्त उल्लेख प्राप्त है।

प्राचीन भारत में तांबे का विभिन्न रूपों में प्रयोग यह सोचने पर बाध्य करता है कि उस काल में तांबा तैयार कैसे किया जाता था? क्योंकि तांबा पृथ्वी पर विशुद्ध रूप में नहीं मिलता है। तांबा, ताम्र-अयस्कों से, रायायनिक विधियों का प्रयोग करके, प्राप्त किया जाता है। इस प्रक्रिया को धातु कर्म कहा जाता है। प्राचीनकाल में भारतवर्ष में ताम्रधातुकर्म की प्रक्रिया का क्या स्वरूप था? यह एक जटिल व उलझी हुई समस्या है। इसके बारे में डा० पी० सी० राय ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ हिन्दू कैमिस्ट्री' में पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्राचीन भारतीय साहित्य व पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना एक दुरुह कार्य है। क्योंकि उनकी संख्या सीमित हैं। फिर भी उपलब्ध साक्ष्यों व अन्य सूत्रों के आधार पर निम्नांकित संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है—

रसरत्न-समुच्चय नामक ग्रन्थ में ताम्रास्क माक्षिक से तांबा तैयार करने की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार से दी गई है— 'पहले माक्षिक को शहद, एक विशेष प्रकार की वनस्पति बीजों का तैल, गौ-मूत्र, शुद्ध मक्खन और एक विशेष प्रकार की घास के जड़ के साथ बार-बार भिगोकर तर किया जाता था। फिर उसे एक ढक्कनदार कठोर-पात्र (रासायनिक भाषा में जिसे क्रूसिबिल कहा जाता है) में खूब गरम किया जाता था। इस प्रकार बाद में जो सार-स्वरूप बचता था, वह ताम्र धातु होती थी।

रसरत्नाकर, रसार्णव व रसरत्न-समुच्चय में ताम्रास्क विमला से तांबा प्राप्त करने की बिधि निम्नानुसार उल्लिखित है—विमला को फिटकरी हरा

कसीस, सुहागा व कुछ वनस्पतियों के साथ मिलाकर पीसा जाता था। तत्पश्चात एक विशेष प्रकार की वनस्पति की राख के साथ मिलाकर एक ढके हुए पात्र (क्रुसिबिल) में खूब गरम किया जाता था। इस प्रकार बाद में स्वर्ण की आभायुक्त तांबा प्राप्त होता था। इसीप्रकार की एक और विधि रसरत्न-समुच्चय में बताई गई है।

उपर्युक्त विधियों का यदि रासायनिक विवेचन किया जाये तो पता चलता है कि जो वनस्पतियां व राख प्रयोग की जाती थी, वह गर्म होने के पश्चात कार्बन में परिवर्तित हो जाती थी। फिर यह कार्बन, सुहागा, कसीस व अन्य प्रतिकारकों के साथ मिलकर, अयस्क को ताम्र धातु में परिवर्तित करने के होने वाली रासायनिक प्रक्रिया को, प्रतिक्रिया कारक उपलब्ध करादी थी। इस क्षेत्र में अभी और अधिक अनुसंधान अपेक्षित है।

धातुकर्म की उपर्युक्त विधियों द्वारा, प्राचीन भारत में तांबे का उत्पादन व्यापक रूप से ही होता होगा, यह तो कहना कठिन। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि इन बिधियों का प्राचीन काल में भारतवर्ष में प्रयोग था। चाहे वह प्रयोगशाला तक ही सीमित रहा हो। प्राचीन भारत में ताम्रधातुकर्म के व्यापक पैमाने पर प्रयोग होने के बारे में कुछ साक्ष्य स्पष्ट संकेत देते हैं। लेकिन इस क्षेत्र अनुसंधान की अति-अल्पता के कारण यह पूर्णतः प्रमाणित नहीं हो पाया है। अनुसंधान की अल्पता का कारण सम्भवतः यह है कि रसायज्ञों का का ध्यान वर्तमान समय में विषय के विकास की ओर अधिक है। वे इसके प्राचीन स्वरूप की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देते हैं। दूसरी ओर प्राचीन सस्कृति के अध्येता का ध्यान साहित्यिक एवं कला पक्ष पर अधिक तथा वैज्ञानिक पक्ष पर कम रहता है।

प्राचीन भारत में ताम्रधातु की मिश्रधातुयें—

ताम्रधातु के ज्ञान के पश्चात मानव ने उसका तरह तरह से उपयोग किया। प्राचीनकाल में अनेक धातुओं का ज्ञान न होने कारण मानव ने विदित धातुएं ही आपस में मिलाकर अन्य धातुएं बनानी प्रारम्भ कर दी। दो या दो से अधिक धातुओं को किसी निश्चित अनुपात में मिलाने से प्राप्त धातु ही मिश्रधातु ही कहलाती है। सर्वप्रथम मिश्रधातु का उद्‌भव व प्रयोग कहाँ प्रारम्भ हुआ ? इस पर विद्वान एक मत नहीं है। कुछ विद्वान यूरोप का पक्ष लेते हैं तो कुछ भारतीय उप-महाद्वीप का तथा कुछ अन्य स्थलों के पक्षधर

हैं। लेकिन कुछ साक्ष्य ऐसा संकेत देते हैं कि भारतवर्ष में मिश्रधातु का प्रयोग यूरोप से पूर्व हो चुका था। धातुओं के उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है।

ताम्रधातु कठोर न होने के कारण कई क्षेत्रों (अस्त्र-शस्त्र व यन्त्र आदि प्रयोग के लिए अधिक उपयुक्त न थी। इसको कठोर स्वरूप देने के लिए, इसके साथ अन्य धातुओं का मिश्रण करके, ताँबे की मिश्रधातुएं बनायी गयी। यह एक नरम धातु होने के कारण, मिश्रधातु बनाने के लिए सर्वथा उपयुक्त थी। प्राचीन भारत में ताँबे की मिश्रधातुओं में काँस्य, पीतल व घंटी-धातु आदि प्रमुख रूप से बनायी जाती थी और प्रयोग की जाती थी। मनु, कौटिल्य सुश्रुत, चरक, अमरकोष रचियता, नागार्जुन व तारानाथ आदि पुराचार्यों ने मिश्रधातु को मिश्रलोहा, उपधातु व मिश्रधातु आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है। ताँबे की मिश्रधातुओं से निर्मित प्राचीन उपकरण, हथियार आदि भारत के अनेक स्थानों से प्राप्त हुये हैं। ताँबे की मिश्रधातुओं में काँस्य व पीतल प्रमुख रुप से प्रचलित थो।

काँस्य नामक मिश्रधातु के निर्माण में ८५-६५ प्रतिशत ताँबा व ५-१५ प्रतिशत राँगा (टिन) का प्रयोग होता था। काँस्य निर्मित प्राचीन वस्तुओं में बरछियां, भाले व तलवारें आदि प्राप्त हुई हैं जो जबलपुर (म० प्र०) व इटावा (उ० प्र०) आदि स्थानों से मिली है। इसके अतिरिक्त काँस्य निर्मित प्राचीनकाल के पात्र, आभूषण, सिक्के व मूर्तियां आदि भी बंगाल, बिहार, उत्तर-प्रदेश, नेपाल व दक्षिणी भारत से हुये हैं।

प्राचीन भारत में काँस्य के अतिरिक्त पीतल का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता था। पीतल भी ताम्रधातुयुक्त एक कठोर मिश्रधातु होती है। इसके निर्माण में साधारणतया ८० प्रतिशत ताँबा व २० प्रतिशत जस्ता धातु का प्रयोग होता था। इससे निर्मित वस्तुओं में सर्वप्रमुख सिक्के हैं, जो विभिन्न शासकों द्वारा चलाये गये। बर्मा में विद्यमान एक बहुत बड़ी प्राचीन घण्टी थी पीतल की बनी हुई है। काबुल के आस-पास भी पीतल निर्मित कुछ प्राचीन छोटे-छोटे सन्दूक, जिनमें ताम्र निर्मित मुद्राएं भरी थी, खुदाई में प्राप्त हुए हैं।

तांबे की मिश्रधातु बनाने की प्रक्रिया का प्राचीनकाल में रासायनिक स्वरूप कैसा था ? इसके बारे में विस्तृत जानकारी नहीं हैं। सम्भवतः धातुओं को एक निश्चित अनुपात में मिलाकर साधारण रूप से पिघलाया जाता था।

तथा अशुद्धियों (मैल इत्यादि) को निकालकर, अभिष्ट मिश्रधातु प्राप्त कर ली जाती थी। ऐसा ही संकेत प्राचीन साहित्य में मिलता है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्टतः प्रमाणित हो जाता है कि प्राचीन भारत में ताँबे को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ताँबे के उपयोग से मानव ने अपने जीवन की रिक्तता की पूर्ति की, जो किसी अन्य धातु के प्रयोग से सम्भव न थी। ताम्र प्रयोग का सतत् इतिहास भी ताम्र धातु के महत्व की पुष्टि करता है। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि इस क्षेत्र की पूर्ण जानकारी अभी तक बिद्वानों को नहीं हो पाई है। इस क्षेत्र के बारे में वर्तमान अनुसंधान कार्य भी सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि वह अपूर्ण है वर्तमान युग में ताँबे का व्यापक रूप से प्रयोग होता है, विद्युत के उच्चकोटि के यन्त्रों की, ताँबे के अभाव में कल्पना भी नहीं की जा सकती। ज्यों-ज्यों विज्ञान का विकास हो रहा है, त्यों-त्यों ताँबे के प्रयोग के क्षेत्र का विस्तार हो रहा है। इसलिए आवश्यक है कि ताँबे से सम्बन्धित प्राचीन जानकारी की पूर्णतया खोज की जाए। जिससे कि इसके प्रयोग एवं उपयोग की सम्भावनाओं में वृद्धि करने में सहायता मिल सके।

धर्मो रक्षति रक्षितः

डा० महावीर, एम०ए०
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

धारणार्थकाद् धृञ् धातोः निष्पन्नोऽयं धर्मः मानवलोक परित्रायकः, समुन्नतिसाधकः, अवनतिनिरोधकः, ज्ञान-विज्ञान शौर्यादिगुणसंपादकः, आस्तिक्य-भावना प्रवर्त्तकः, विश्वबन्धुत्वभावना प्रचारकश्च वर्तते ।

निखिलेऽपि संसारे सर्वेषां पदार्थानाँ संयोगेन, एकत्र धारणेन च जीवनस्य निर्वाहः संभवति, एतदर्थमेव धर्मस्योद्भवः वर्तते । शशि-दिवाकरौ, तारामंडलं, पृथिव्यादीनि च मिथः उपकारकोपकार्य भावेनैव विधृतानि सन्ति क्षमन्ते च जगदीश्वरेण विनिर्दिष्टानि स्वानि-स्वानि विशिष्टानि कार्याणि सम्पादयितुम् । मानवः स्वोत्कर्षं साधायितुं समाजमपेक्षते, तदैव समाजस्य समाजत्वं यत् तद् विविध मानसवृत्तीनां व्यष्टिमानवानां स्थितिनां सामञ्जस्यं करोति । इदं व कारणं यत् धर्मे एव समाजः प्रतिष्ठितः । न केवलं मानवसमाजस्यैव, अपितु कृत्स्नस्य जगतः प्रतिष्ठा धर्मे एव विद्यते 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' ।

धर्मः देशकालपरिच्छिन्नः न भवति । देशकालापरिच्छिन्नत्वमेव धर्मस्य धर्मत्वम् । जगन्मूलत्वेन संसृति नियामकानि तत्त्वानि एव 'धर्मः' इति व्यपदिश्यन्ते । यत्र जगद् धारकत्वं तत्र धर्मत्वम् । के च गुणाः, ये इदं जगद् धारयन्ति १. महर्षिणा पतञ्जलिना योगदर्शने एते गुणाः यमशब्देन प्रतिपादिताः प्रयोजनं चैषां कथयता महर्षिणां कथ्यते यद् एते यमाः सार्वभौमा महाव्रतं सन्ति—'अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः' तंत्र 'शौचसन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः' ।

मनुना स्फुटमेनन् निर्दिश्यते यद् यमा एवानिवार्यत्वेन सेव्याः । अनामये यमानां मानवस्य पतनं अवनातिश्च ।

यमान् सेवेते सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ मनु. ४-२०४॥

स्मृतिकारेण महर्षिणा मनुना धृति-क्षमादयो दश गुणा धर्मशब्दवाच्यत्वेन निगदिताः —

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमोन्द्रिय निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

धर्मस्यैषां दशलक्षणानां जीवेनऽनुष्ठानेनैव धर्मस्य स्थितिर्नान्यथा । मनुना अन्यत्र धर्मलक्षणं इत्यमपि निर्दिश्यते—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विध प्राहुः साक्षादधर्मस्य लक्षणम् ॥

श्रुतिभिः विधिरूपेण प्रतिपादित एवं धर्मः । धर्माधर्मव्यवस्थायां वेदा एवं प्रमाण रूपेण अनतिष्ठन्ते । अस्मिन् विषये भागवते व्यासस्य वचनमिदमवलोक्यताम्—

'वेद प्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद् विपर्ययः ।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम' ॥

चतुर्विध धर्मे वेद-स्मृत्यनन्तरं सदाचारोऽपि धर्मः कथ्यते । सदाचारेणैव जीवने सर्वार्थसिद्धिरित्यत्र न काचित् विप्रतिपत्तिर्विदुषाम् । वेदेष्वदि कथितं— 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' ।

अतएव भगवान् मनुः प्राह—

आचारः परमोधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ।
तस्मादास्मिन सदायुक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥

धर्मलक्षणे 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' इत्यनेन मधुरभाषणं, परोपकरणं, अहिंसनं च समर्थ्यते । अतएव प्रोच्यते महाभारते——

'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

महाभारतकारेण व्यासेन जगद् धारकतत्त्वानां धर्म इति समाख्या व्यधायी—

धारणाद्द धर्म इत्यादुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यः स्याद्द धारणासयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

भारतीय दर्शनकारैः मानवजीवने धर्मस्य निरतिशयं महत्त्वं प्रतिपादितम्। जीवनस्य पुरुषार्थ चतुष्टये धर्मस्य प्रथमं स्थानम् । न स केवलं परलौकार्यैव उपास्यः, लोकेऽपीह तस्य नितरामपारिहार्यता । तथा हि लौकिकजीवनेऽर्थस्त-दाश्रितश्च कामः प्राणिनामिष्टौ । परं तयोरपि कारणरूपेण निर्दिष्टे धर्मो मुख्यः । अस्मिन् लोके सुखं प्राप्य परलोकेऽपि सौख्यावाप्तिरेव सर्वेषां प्राणिना कामना विषयः । तस्य सुखस्य प्राप्तिस्तु धर्माचरणेनैव संभवति नान्यथा । अत एव वैशेषिक दर्शनकारः कणादोऽपि कथयति 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः' ।

मीमांसाकारेण जैमिनिमुनिना धर्मलक्षणं निर्दिश्यते — 'चोदनालक्षणोऽर्थो-धर्मः' जैमिनेरिदम् अभिमतम् यद् यदेव तत्त्वम् मानवानां स्फूर्तिजनकम्, अन्तश्चेतना प्रबोधकम्, सत्कर्मणि प्रवर्त्तकं च तदेव धर्मशब्दवाच्यम् ।

यो हि यस्य स्वाभाविको गुणः स एव तस्य धर्मः । यथा अपां शीतस्पर्श-वत्त्वं क्लेदनं च धर्मः, तस्मिन् हीयमाने न अपाम् अब्वम् भवेत् । तथैव वातं-सदागमनं वायोः, दाहः, प्रकाशनं च अग्नेर्धर्मः, तस्मिन् परित्यक्ते वायोर्वायुत्वं अग्नेश्च अग्नित्वं न रक्षते । सैव स्थितिर्मानवानाम् ।

गीतायां वर्णिता दैवी संपदपि धर्मा चरणमेव प्रतिपादयति । तादृशान् श्रेष्ठान् गुणान् आत्मन्याकलयन्नेव जनो धार्मिक इति कथ्यते—

स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नर,
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

धर्म एव जीवनस्य सारः । पशु-पक्षिणोऽपि आहारनिद्रादि कर्म सम्पादेन स्वं जीवनं यापयन्ति, परं न मानवजीवनं आहारविहारादि सिद्ध्यर्थमेव, अपितु विशिष्टलक्ष्यमूलकम् । साधुच्यते भर्तृहरिणा—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामाधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

अस्मिन् संसारे प्रतिदिनं नैके जनाः जायन्ते म्रियन्ते च, परं त एव श्लाघ-नीयाः भवन्ति ये खलु सर्वदा स्वधर्मपालने निरताः भवन्ति । अस्माकं भारत-देशः धर्मपरिपालनेनैव पुरा महतीं प्रतिष्ठां लेभे । आसीत् कदाचन मानवस्या जीवने धर्मस्याक्षुण्णं प्रभुत्वमसाधारणं वर्चस्वमसंविभक्तं प्राधान्यं च विश्व-

साम्राज्यान्यपि सुरलोक वैभवान्यपि, सर्वोच्चपदान्यपि, सुरासुरदुर्लभानी सुखान्यपि तदर्थमुपेक्ष्यन्त । जीवनस्य सर्वप्रथमः पुरुषार्थः, त्रयाणामप्युत्तर परमार्थानां मूलमु, राजनीतेः, दर्शनस्य, कलानाम्, साहित्यस्य, आचराणाम्, विचाराणाम् आहाराणाम्, विहाराणाम्, लेकसंव्यवहाराणाँ च नियामको धर्म एवाभूत । परमद्य तु राजनीतौ साहित्ये शिल्पे कलसु, वाणिज्ये, न्याय-कर्मणि, शिक्षायाश्च सर्वत्रैव तस्य बहिष्कारः। नेदृशी कस्याप्युपेक्षा वर्तमान काले यादृशी धर्मस्य । अधुना तु अधर्मेणैव मानवजीवनोन्नतिः न तु धर्मेण इति जलान्तो जनाः दरीदृश्यन्ते । परं नैतत् समीचीनम् । लोके द्विविधा प्रवृत्ति-र्मानवानाम् धर्मनिष्ठा अधर्मनिष्ठा च । अधर्माश्रयिणो जीवने असत्यादिभाष-णेन असद्‌वृत्या चाचिरेण समृद्धि लभन्ते । धर्म प्रवणानां च श्रीवृद्धिः प्रयत्न-सापेक्षा चिरसाध्या च । परं निश्चयेन कथयितुं शक्यते यद् अधर्माश्रयिणां श्रीवृद्धिः विनाशाय दुःखोदर्का च, धर्मनिष्ठानां तु समृद्धयुत्कर्षः सुखोदर्कः सुख शान्ति संधायकश्च । अतएव प्रोच्यते मनुना—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ।।

सम्पदि, विपदि, सुखे दुःखे वा सदा सहाध्याचरणेन धर्मः परमः सखा । धर्मो मानवं सर्वदानुसरति । तं कर्त्तव्यं स्मारयति सत्पथ च नयति । अयं धर्म एव जनं हिताय न्योजयति, पापान्निवारयति, सत्कर्मसु प्रेरयति, तस्य अनिष्टं च विनाशयति ।

आसीत्कोऽपि स्वर्णमयः कालः एतस्य भारतवर्षस्य यदा अत्रत्यरः युवानो, युवतयः, बाल., स्थविराः, स्त्रियश्च धर्मरक्षायाँ स्वप्राणान् अपि अत्यजन् । अस्माकं ऐतिह्यं धर्मस्य कृते सर्वस्वमपि उपहरतां, दुर्लभान् अपि प्राणान् त्यजतां महाप्राणानां महामानवानां चरितैः सुशोभते । को न जानीते क्षत्रिय कुलभूषणम् वीरवरं प्रतापम् । यदा अनेके हिन्दूराजानः स्वधर्म त्यक्त्वा स्वभागिनीं सुतां वा यवन राजापुत्रेषु प्रदाय राज्यं, ऐश्वर्य च लेभिरे, तस्मि-न्नेव घोर तमिस्राच्छादिते काले स्वप्राणान् अविगणय्य स्वधर्मधुरन्धरः सः सिंह न विधर्मिभिः सह सन्धिमियेष । नव वर्ष देशीयो बालो हकीकतो बहुधा बाध्य-मानोऽपि यवनहतकैः प्रेयन्नाणोऽपि पितृभ्यां मृत्युमेवाङ्गीचकार परं न स्वधर्म तत्याज ।

साम्प्रतं धर्मनाम्ना ये अनेके सम्प्रदाया प्रचलन्ति ते विवादं, संघर्षं, मनोमालिन्यं चानुदिनं प्रवर्त्तयन्ति । धर्मस्तु न विद्वेषं शिक्षयति । आचारमूलकस्य सत्याहिंसादिरूपस्य धर्मस्य सर्वधर्मेषु समत्वम् अनिवार्यत्वं च व्यपदिश्यते, तत्पालने न कस्यचिदपि विदुषः विप्रतिपत्तिः । एवं धर्मो मानवं देवत्वं गमयति, परमसुहृद्रूपेण च अभिष्टार्थावाप्तौ साहाय्यं वितरति । धर्मस्य विश्वजनीनत्वं सार्वलौकिकत्वं, सार्वभौमिकत्वं च विश्वहित सम्पादनादेव प्रवर्तते । एव शिक्षयति– 'उदारचरितानाँ तु वासुधैव कुटुम्बकम्' अतएव सत्यं दया परोपकारादयो धर्मस्य मूलतत्त्वानि गायन्ते ।

एवं कथयितुं शक्यते यद् जीवने धर्मस्य सर्वदा सर्वथा चानिवार्यत्वं वर्तते । धर्माश्रयणेनैव अद्यतनीयः अशान्तः मानवः ऐहिकम् आमुष्मिकम् च सुखंमवाप्तुं क्षमः नान्यथा । धर्मो जीवनरक्षकः, सुखशान्ति सधायकः, सत्कर्म प्रेरकः, दुःखनिरोधकश्चेति कृत्वा सततम् आश्रयणीयः ।

यो मानवः धर्मस्य रक्षां करोति, धर्मानुकूलमाचरति, धर्मोऽपि तस्य मानवस्य रक्षां करोति । यश्च पुनः धर्माचरणं नहि विदधाति, धर्मं न रक्षति तथा धर्मं हन्ति, हतो धर्मस्तमपि हन्ति, तस्य विनाशं करोति । अतः धर्मो न हन्तव्य : । साधूक्तं महाभारतकारेण व्यासेन––

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

गुरुकुल समाचार

दूधपुरी गोस्वामी
(छात्र सम्पादक)

१५ अगस्त १९८६ को गुरुकुल में स्वतन्त्रता-दिवस मनाया गया। इस अवसर पर आचार्य एवं उप-कुलपति श्री रामप्रसाद वेदालंकार जी ने कहा कि आज हमारे लिए अत्यन्त गर्व का दिन है। इस दिन हमें पूर्व रूप से स्वतन्त्रता मिली। आजादी की लड़ाई के लिए अनेकों शहीद बलिदान हुए। हमें उन शहीदों को भूल नही जाना चाहिए। उनका त्याग, बलिदान व समर्पण सदा सर्वदा के लिए भारत के इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में अंकित रहेंगे। हमें अपनी स्वतन्ता को कायम रखना है, आज चहुं ओर से संकट के बादल घिर-घिर कर आ रहे हैं। कहीं जातिवाद, कहीं भाषावाद, कहीं प्रान्तवाद तो कहीं कट्टरवाद ही अपना मुंह फैलाये आजादी को डसने के लिए खड़ा है। हमें इन संकटों से डरना नहीं है अपितु शूरता से वीरता से और धीरता से इनका सामना करना है। देश की एकता और अखण्डता को स्थिर रखना है।

आज हम सब गुरुकुल वासी यही प्रतिज्ञा करते हैं कि देश की एकता व अखण्डता की कहीं भी आंच नहीं आने देंगे। अखण्डता बनाये रखने रखने के लिए हम अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देंगे।

२२ अगस्त को संस्कृत-दिवस के रूप में मनाया गया स्वामी श्री ऋषिकेशवानन्द की अध्यक्षता में, सभा संचालन श्री वेदप्रकाश शास्त्री ने किया। श्री बुद्धिवल्लभ ने कहा कि संस्कृत भारतीय-संस्कृति की आत्मा है। संस्कृत के नष्ट होने से संस्कृति नष्ट हो जाएगी और संस्कृति के विनाश से भारतीयता का विनाश हो जाएगा। उन्होंने यह भी कहा कि संस्कृत से ही देश की अखंडता सुरक्षित रह सकती है, वेद की इस सुक्ति का उदाहरण देते हुए कहा कि "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्"। अर्थात जहां पर सम्पूर्ण विश्व एक घर की

तरह हो जाता है। अनेक विद्वानों ने कहा कि हिन्दो को उन्नति में संस्कृत को उन्नति एवं संस्कृत को उन्नति में हिन्दो की उन्नति है। संस्कृत को सरल बनाने का विचार भो इस संगोष्ठो में किया गया। अध्यक्षीय भाषण में श्री केशवानन्द जो ने कहा कि यदि विद्यार्थी लघु सिद्धान्त कौमुदी को ही अच्छी प्रकार जान ले तो संस्कृत का अच्छा ज्ञान हो सकता है।

विद्वान लेखकों से निवेदन :—

प्राच्य बिद्याओं के विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि गुरुकुल पत्रिका का प्रकाशन नियमित रूपेण हो रहा है। आप अपना लेख कविता आदि भेजने का कष्ट करें। हम आप के विशेष आभारी होंगे।

— सम्पादक

गुरुकुल-पत्रिका

सम्पादक

डा० जयदेव वेदालङ्कार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य मासिकी-पत्रिका

सम्पादक-मण्डल

प्रधान संरक्षक :

प्रो० आर० सी० शर्मा
कुलपति

संरक्षक :

प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
उपकुलपति

परामर्शदाता :

डॉ० विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग

व्यवसाय प्रबन्धक :

श्री जगदीशप्रशाद विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष

सह-सम्पादक :

डॉ० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता, दर्शन-विभाग

छात्र-सम्पादक :

श्री दुधपुरी गोस्वामी
एम० ए० द्वितीय वर्ष
दर्शन-विभाग

प्रकाशक :

डा० वीरेन्द्र अरोड़ा
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक :

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी मुद्रणालय, हरिद्वार ।

मूल्य :

२५.०० रुपये वार्षिक

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालस्य मासिकी-पत्रिका]

सम्पादक

डॉ० जयदेव वेदालंकार

न्यायाचार्य, पी-एच०डी०, डी० लिट्०

रीडर-अध्यक्ष, दर्शन-विभाग

प्रकाशक

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आश्विन-कार्तिक २०४३ / सितम्बर-अक्टूबर १९८६ — वर्ष : ३७ — अङ्क : ११ / पूर्णाङ्क : ३८२

[मूल्य : ५.०० रुपये

❀ विषय-सूची ❀

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालस्य मासिकी-पत्रिका]

आश्विन-कार्तिक : २०४३ | सितम्बर-अक्टूबर : १९८६ | वर्ष : ३७ | अङ्क : ११ | पूर्णाङ्क : ३८२

स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽआद्याᳬंरोहन्ति रोदसी ।

विश्वतोधारं सुविद्वाᳬंसोवितेनिरे ॥

महर्षि दयानन्द भाष्य

(यजु. अ.१७, मं. ६८)

पदार्थ—(ये) जो (सुविद्वांसः) अच्छे पण्डित योगीजन (यन्तः) योगाभ्यास के पूर्ण नियम करते हुओं के (न) समान (स्वः) अत्यन्त सुख की (अप इक्षते) अपेक्षा करते हैं वा (रोदसी) आकाश और पृथ्वी को (आरोहन्ति) चढ़ जाते अर्थात् लोकान्तरों में इच्छापूर्वक चले जाते वा (द्याम्) प्रकाशमय योग विद्या और (विश्वतोधारम्) सब ओर से सुशिक्षायुक्त वाणी है जिसमें (यज्ञम्) प्राप्त करने योग्य उस यज्ञादिकर्म का (वितेनिरे) विस्तार करते हैं, वे अविनाशी सुख प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जैसे सारथी घोड़ों को अच्छे प्रकार सिखा और अभीष्ट मार्ग में चला कर सुख से अभीष्ट स्थान को शीघ्र जाता है, वैसे ही अच्छे विद्वान योगी जन जितेन्द्रिय होकर नियम से अपने को परमात्मा को पाकर आनन्द का विस्तार करते हैं ।

सम्पादकीय—

भारतीय दर्शन की यथार्थवादी और प्रत्ययवादी धाराएं

जीवन की प्रत्यूष वेला में जब मानव को इस बाह्य दृश्यमान् जगत् को देखकर कौतुहल हुआ होगा और सम्भवतः उस कौतुहल की सूक्ष्म तरंग ने भी उसे किसी अव्यक्त विराट् सत्ता का आभास भी दिया होगा जिसके अनुसंधान हेतु मानव मन आज भी विकलित देखा जाता है। किसी भी अव्यक्त परम सत्य की खोज से पूर्व चित्त की इस जगत् का वैविध्यपूरित स्वरूप अपनी ओर आकृष्ट करता है। अपने विभिन्न उपादानों से उसके मानस का अपहरण करता है, किन्तु बुद्धि के विकास के स्तर के साथ-साथ एवं अनुभूत बहुविध आदि-व्याधियों के पश्चात् इस जगत् के प्रति यह आकर्षण या धारणा अवशिष्ट नहीं रह जाती, जो पूर्ण रूप से यहां विश्राम कर एवं सन्तुष्ट होकर विरत हो जाये, क्योंकि मानव-मन अनुभवों के आधार पर बहुत शीघ्र ही जान जाता है कि यह भोगा जाता हुआ जगत् स्वयं में परमार्थ नहीं है। सुखों की स्थिति के साथ वेदनाओं का कोलाहल मानव के मन में इसकी समस्त आकृष्टता को प्रचालित कर देता है और मानव फिर इस जगत् के पार किसी अक्षुण्ण आनन्दपूरित सत्ता की कल्पना कर उसके अनुसंधान एवं प्राप्ति हेतु व्यग्र हो उठता है। भारतीय मानव का दृष्टिकोण अपने आदिय काल से ही सम्भवतः इस व्यग्रता से उत्पीडित रहा है। यही कारण प्रतीत होता है कि हम अपने अतीततम अतीत के क्षितिज पर भी आध्यात्मिक विचारों का रंग बिखरा देखते हैं।

मानव केवल उस अव्यक्त विराट् सत्ता के विषय में ही चिन्तन नहीं करता, प्रत्युत अपनी मूल प्रकृति एवं स्वरूप के विषय में भी शोध करता है और उस चिन्तनानन्तर उपलब्ध आत्म स्वरूप का इस बाह्य जगत् और उस अव्यक्त विराट् सत्ता के साथ तारतम्य का भी अनुसंधान करने का प्रयास

करता है। इन तीनों का आपूर्ण और शान्त विवेचन ही विभिन्न दर्शनों की पृष्ठभूमि में प्रतीत होता है।

जिस जगत् में रहकर और जिसके उपादानों से जीवन-निर्वाह होता है, इसका स्वरूप क्या है ? क्या यह जगत् एक व्यवहारिक कल्पना मात्र है या एक ध्रुव सत्य ? इसकी प्रतीति हमारे मानस या चित्त का विकार है या एक ठोस यथार्थ ? आदि प्रश्न चिन्तक या दार्शनिक के सामने प्रथमतः उपस्थित होते हैं। वह इस जगत की उपेक्षा करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि यह जगत् अश्रुओं की विमोचनस्थली मात्र नहीं है। जीव यहां रहकर, इसीके विविध उपादानों से उस अव्यक्त परम सत्ता के अनुसंधान और प्राप्ति के अनुष्ठानों को सम्पन्न करता है। तब फिर किस प्रकार इस जगत् की उपेक्षा की जा सकती है।

जगत् की सत्ता अस्तित्व अथवा प्रकृति को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने दो प्रकार के दृष्टिकोण, अपनाये हैं। प्रथम दृष्टिकोण, (जिसे यथार्थवादी दृष्टिकोण की संज्ञा दी जाती है,) के अनुसार बाह्य जगत् की सत्ता वास्तविक है, यह सत्ता या अस्तित्व किसी भी रूप में किसी अन्येतर पदार्थ या तत्व पर अवलम्बित नहीं है। यह सत्ता या अस्तित्व किसी भी रूप में किसी अन्य पदार्थ या तत्व पर अवलम्बित नहीं है। चार्वाक दृष्टिकोण, (जो पूर्ण रूप से भौतिकवादी है) के अनुसार बाह्य जगत् ही परम सत्य है, यह भी यथार्थवादी दृष्टिकोण माना जाता है। किन्तु उक्त यथार्थवादी दृष्टिकोण जो अन्य दार्शनिकों के द्वारा अंगीकार किया गया है, में चार्वाकीय दृष्टिकोण को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया गया। उनके अनुसार जगत् सत्य है, किन्तु परमसत्य नहीं। कहने का अभिप्राय है कि अभित्योवृत यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार जगत् अपने एकान्तिक स्वरूप में सत्य है उसके अतिरिक्त अन्य तत्व भी सत्य है, जबकि चार्वाकीय दृष्टिकोण अन्य किसी तत्व को मान्यता प्रदान नहीं करता। कहा जा सकता है कि चार्वाकीय भौतिकवाद एक निरपेक्ष यथार्थवादी दृष्टिकोण है इसलिये उक्त (स्व-प्रतिपाद्य) यथार्थवादी दृष्टिकोण को चावाकीय यथार्थवादी दृष्टिकोण ले व्यावृत्ति सापेक्षिक और निरापेक्षिक शब्दों से की जा सकती है।

दूसरे प्रत्ययवादी दृष्टिकोण के अनुसार बाह्य जगत् किसी अन्य तत्व का विवर्त है या प्रपन्च है। अतः वह वास्तविक नहीं है। वह हमारे

ज्ञान या मन का ही एक अवभासमान है। उसको अपनी कोई वास्तविक सत्ता या अस्तित्व नहीं है। प्रत्ययवादी दृष्टिकोण दो प्रकार का है। प्रथम आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद, द्वितीय अद्वैतवादीय प्रत्ययवाद।

(१) आत्मनिष्ठ प्रत्यय वादी दृष्टिकोण के अनुसार मन से व्यतिरिक्त अथवा स्वतन्त्र कोई वस्तुनिष्ट यथार्थ नहीं है। इनके अनुसार मन से अतिरिक्त कोई ज्ञान या चेतना भी नहीं है। सभी पदार्थों की प्रतीति मन के तदाकार हो जाने पर होती है। मन ही तत्तत्पदार्थों का उत्सर्जक है। जगत् का अपना कोई अस्तित्व नहीं है।

(२) अद्वैतवादी प्रत्ययवादी दृष्टिकोण के अनुसार जगत् का व्यावहारिक अस्तित्व तो है. किन्तु वह ब्रह्म का विवर्त है। जगत् की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह काल्पनिक है।

बौद्ध के योगाचार या विज्ञानवादी एवं माध्यमिक या शून्यवादी सम्प्रदाय आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी विचार धारा के प्रतिनिधि हैं।

न्यायवैशेषि, सांख्य, मीमांसा एवं बौद्ध के वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक सम्प्रदाय यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाले हैं।

प्रत्ययवादी विचारक घटनाक्रम के अनुक्रम में वस्तुगत कार्यकारण को नहीं मानते। इनके अनुसार कार्यकारण एक मनोनिष्ट धारणा है। माध्यमिकों के अनुसार सभी कुछ शून्य है। शून्योद्भूत कार्य भी शून्य ही हैं। योगाचारी व अद्वैतवादी वैदान्तियों के अनुसार कारण तो है, किन्तु कार्य नहीं। कारण ही एक मात्र यथार्थ है, कार्य भ्रममात्र है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण वाले कारण कार्य के अपरिहार्य सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार कारण और कार्य दोनों का यथार्थ हैं। वास्तविक हैं, दोनों एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध होते हैं, किन्तु ऐसा मान कर भी कार्यकारण के सम्बन्ध को लेकर यथार्थवादी विचारधारा वालों में कुछ मतभेद हैं। न्याय और वैदिक दर्शनों के अनुसार कार्य कारणों बीच से उत्पन्न तो होता है वे कार्य कारण के सम्बन्ध के के सम्बन्ध को समवायी सम्बन्ध कहते हैं, इन्हें असत् कार्यवादी कहा जाता है। दूसरी ओर सांख्यादि दर्शन के अनुयायी कारण में कार्य की सत्ता पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं और कारण में ही कार्य

मानते हैं। किसी कार्य के कारण को 'उपादान' शब्द से व्यक्त करते हैं। इन्हें यथार्थवादी कहा जाता है।

अब हम स्पष्टीकरण की सुविधा की दृष्टि से प्रथमतः प्रत्ययवादी और अनन्तर यथार्थवादी दर्शनों के जगत् सम्बन्धी तत्वशास्त्रीय एवं ज्ञान-शास्त्रीय विचारों को पृथक्-पृथक् रूप से स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

बौद्धदर्शन के महायान सम्प्रदाय के योगाचार और माध्यमिक दोनों ही प्रत्ययवाद के उच्चतम रूप को प्रस्तुत करते हैं। योगाचार बाह्य सत्ता का सर्वदा निराकरण करता है। इनके मतानुसार केवल चित्त ही परमार्थ तत्व है। चित्त से तात्पर्य, इनके अनुसार - विज्ञान प्रवाह या विभिन्न मानसिक अवस्थाओं के संघात-मात्र से है। विज्ञान के अतिरिक्त ये किसी भी भौतिक जगत् परमात्मा या आत्मा को स्वीकार नहीं करते हैं। इनके अनुसार समस्त व्यक्तियों का विज्ञान ही परमतत्व है। इसके अतिरिक्त किसी सार्वभौमिक आत्मा की सत्ता नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य या अन्दर अन्य कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, इसलिये बाह्य जगत् या भौतिक जगत् का अस्तित्व नहीं है। जो मन या चित्त के अतिरिक्त प्रभावित होता है वह वस्तुतः मन के भीतर है अर्थात् मनोमय ही है। मन का प्रत्यय ही भ्रमवशात् स्वप्न की भांति मन भिन्न-सा प्रतिपादित होता है। जैसे स्वप्न के पदार्थ मन से अतिरिक्त प्रतीत होकर मन से अलग नहीं है, उसी प्रकार बाह्यजगत् भी मन या चित्त से भिन्न नहीं है क्योंकि किसी भी प्रकार के पदार्थ का अवबोध हम मन के बिना नहीं कर पाते। इसलिए सब कुछ मन पर निर्भर अथवा मन के प्रत्ययों का संघातमात्र है। इसीलिए इसे आत्म अर्थात् मन या चित्त या ज्ञान-निष्ट अर्थात् आत्मनिष्ट प्रत्ययवाद की संज्ञा दी जाती है।

योगाचारी श्रमिक विद्वानो की एक पूरी परम्परा स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार चित्त में अनन्त विज्ञानों का उदय होता रहा है। ये विज्ञान परस्पर भिन्न होकर भी वासना-संक्रमणवशात् एक दूसरे से सम्बद्ध होते रहते हैं, तथापि ये सभी स्वतन्त्र रहते हैं। ये विज्ञान स्वयंप्रकाश है। इसमें अविद्या के कारण ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय के भिन्नत्व की कल्पना कर ली जाती है। इन विज्ञानों में इतनी क्षमता होती है कि स्वयं पहचान और समझ सके। वे स्वयं-वेदन है। प्रत्येक वस्तु चेतना को उपज व अर्थात् समस्त पदार्थों को विचार सम्बन्धों में सीमित किया जा सकता है।

इन्होंने यथार्थवादी सौत्रान्तिकों का खण्डन करते हुए कहा कि पदार्थ तो द्रष्टा मस्तिष्क के विचारमात्र है, जो संवेदनाओं के संघातों से अवभासित होते हैं – इससे अधिक और कुछ नहीं। ये संवेदनायें या विज्ञान आत्मनिर्भर है। अपने अस्तित्व के लिये ये बाह्य वस्तुओं के आश्रित नहीं है। इसलिये किसी भी वस्तु का अस्तित्व या भौतिक या बाह्य जगत् न होकर मात्र मानसिक होता है।

इस प्रकार योगाचारी विचारकों ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का एकीकरण करके यथार्थ की मानवचेतना को अवधारणाओं में अन्तर्धान कर दिया।

बौद्ध-दर्शन के माध्यमिक विचारक योगाचारी विचारकों से और एक कदम आगे बढ़ कर प्रत्ययवाद का पुष्ट करते हैं। योगाचार चित्त की सत्ता को याथार्थ्य को स्वीकार करता है किन्तु इन्होंने चेतना सहित समस्त अस्तित्वों को शून्य मात्र प्रतिपादित किया है। इसलिये इन्हें शून्यवादी भी कहा जाता है। इन्होंने आत्मा और परमात्मा की अवधारणा को तार्किक दृष्टि से अनुपयुक्त और अस्वीकार्य बताया। उन्होंने ईश्वर आत्मा और जगत् सभी को शून्य के लिये समर्पित कर दिया अर्थात् ब्राह्य और अन्तः सत्ता दोनों का शून्य में विलयन कर दिया। इनके मतानुसार वस्तुगत यथार्थ केवल शून्य है, अतः अपरिभाष्य एवं अविश्लेष्य है। इनका मत है कि सारतत्व को खोजने का कोई साधन नहीं है, इसलिये उसे समझा भी नहीं जा सकता और न ही उसका वर्णन किया जा सकता है। कारण और कार्थ का सिद्धान्त अज्ञान जनित है। यह समस्त ब्रह्माण्ड एक भ्रममात्र है।

इनका परमत्व अलक्षणीय शून्य है, वह न सत् है, न असत् है, न सध्सत् दोनों है, न दोनों से भिन्न है। इस प्रकार वह तत्व इन चारों कोटियों से विलक्षण है।

इस युग के महान् दार्शनिक महर्षि दयानन्द यथार्थवादी धारा को वैदिक धारा मानते हैं। उनके अनुसार प्रकृति, आत्मा और परमात्मा ये तीनों यथार्थ सत्ता रखते हैं।

१– न सन्न सन्न सद्सन्न चाप्युभयात्पकम्।
चतुकोटिविर्निमुक्तं तत्वं माध्यमिका विदु। (माध्यमिकाकारिका १:७)

ऋषि दयानन्द के भक्त

रावबहादुर गोपालराव हरिदेशमुख लोकहितवादी

डा० भवानीलाल 'भारतीय'
अध्यक्ष–दयानन्द शोध पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

मराठी साहित्य में लोकहि वादी के नाम से प्रसिद्ध है, महाराष्ट्र के प्रख्यात सुधारक तथा सार्वजनिक नेता गोपालराव हरिदेशमुख के पूर्वज बाजीराव पेशवा (द्वितीय) के सामन्त घराने के थे। इनका जन्म १८ फरवरी १८२३ ई० पूना में हुआ। आयु में ये स्वामी दयानन्द से एक वर्ष बड़े थे। मुंसिफ की परीक्षा पास कर देशमुख १८५२ ई० में सरकारी सेवा में आये। १८५५ ई० में वे पदोन्नत हुए और पूना में सब एसिस्टेंट इनाम कमिश्नर बनाये गये। १८६२-६३ में उन्होंने कार्यवाहक सहायक और सत्र न्यायाधीश का पद संभाला। १८६५ में वे बम्बई के लघुवाद न्यायालय में कार्यवाहक न्यायाधीश रहे। १८६७ में अहमदाबाद में वे इसी पद पर रहे। १८७७ में उन्हें नासिक स्थानान्तरित कर दिया गया, जहां वे सत्र न्यायाधीश के पद पर रहे। १ सितम्बर १८७९ को जब उन्होंने अवकाश ग्रहण किया तो उन्हें जिला एवं सत्र न्यायाधीश के रूप में कार्य करते हुए दो वर्ष पूरे हो चुके थे।

सन् १८७७ में दिल्ली दरबार के समय उन्हें राव बहादुर की उपाधि प्रदान की गई। वे बम्बई विश्वविद्यालय के फैलो भी रहे तथा १८८० से १८८२ तक बम्बई की धारा सभा के सदस्य के रूप में कार्य किया। मराठी में उन्होंने उच्चकोटि का साहित्य लिखा है तथा मराठी साहित्य में निबन्ध विद्या का समावेश करने का क्षेम उन्हें ही प्राप्त है। इन्होंने मराठी में लगभग ४० छोटे-बड़े ग्रन्थों की रचना की है। १८८२ में देशमुख ने लोकहितवादी

नामक एक मासिक-पत्र का प्रकाशन भी आरम्भ किया था। पं० गोपालराव देशमुख का स्वामी दयानन्द से परिचय उस समय हुआ जब वे अहमदाबाद में न्यायधीश थे। उन्होंने स्वामी जी की वक्तृता सुनी और वे उनके विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुये। कालान्तर में वे आर्यसमाज बम्बई के वर्षों तक पदाधिकारी रहे। स्वामी दयानन्द को यजुर्वेद पर भाष्य लिखने की प्रेरणा देशमुख ने ही दी थी। यद्यपि स्वामी जी ने वेदभाष्य प्रवचन का कार्य तो १८७७ में ही आरम्भ कर दिया था और भूमिका लेखन के पश्चात् वे ऋग्वेद भाष्य का आरम्भ भी कर चुके थे। इसी बीच देशमुख ने उन्हें यजुर्वेद पर भाष्य लिखने के लिए प्रेरित किया। स्वामी जी ने इसे तुरन्त स्वीकार किया और लाहौर से ६ जून १८७७ को भेजे गये पत्र में उन्होंने देशमुख को सूचित किया कि वे शुक्ल यजुर्वेद का भाष्य करने के लिये तैयार हैं। इसके लिए उन्हें दो पण्डितों की और आवश्यकता होगी। देशमुख को लिखे गये स्वामी दयानन्द के १२ पत्र पं० भगवानदत्त ने स्व सम्पादित ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञान में संगृहीत किये हैं। इन पत्रों से स्वामी जी का देशमुख के प्रति प्रेम, सौहार्द तथा सम्मान का भाव पदे-पदे व्यक्त होता है।

स्वामी दयानन्द ने वेदभाष्य का मुद्रण कार्य प्रारम्भ में बम्बई से कराया इस कार्य का दायित्व उन्होंने हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के सुपुर्द किया था किन्तु वे चाहते थे कि यह महत्त्वपूर्ण कार्य देशमुख जैसे जिम्मेदार तथा अनुभवी व्यक्ति की देख-रेख में होता रहे। उनका यह विचार रावलपिण्डी से ६ दिसम्बर १८७७ को भेजे गये देशमुख के नाम लिखे पत्र से ज्ञात होता है। स्वामी दयानन्द ने इन्हें अपनी स्थानापन्न परोपकारिणी सभा का सदस्य भी मनोनीत किया था। स्वामी जी के निधन के पश्चात जब परोपकारिणी सभा की प्रथम बैठक अजमेर के मेयो कालिज स्थित मेवाड़ दरबार की कोठी में हुई तो उसमें देशमुख जी उपस्थित थे। इसी अधिवेशन में उन्हें मेरठ के लाला रामशरणदास के दिवंगत हो जाने के कारण सभा का मंत्री चुना गया।

पं० गोपालराव हरिदेशमुख ने स्वामी जी के निधन के पश्चात् उनके व्यक्तित्व, कार्य तथा विचारों का मूल्यांकन परक एक विस्तृत निबन्ध मराठी भाषा में लिखा जो उनके लोकहितवादी मासिक के जनवरी-फरवरी १८८४ के संयुक्तांक के रूप में प्रकाशित हुआ। इस लेख का सारांश स्वामी दयानन्द के प्रथम हिन्दी जीवनी लेखक पं० गोपालराव हरिशर्मा (फर्रुखाबाद निवासी)

न दयानन्द दिग्विजयार्क (खण्ड-३) में उद्धृत किया है। लोकहितवादी लिखित यह महत्त्वपूर्ण निबन्ध अब प्रा० कुशलदेव बडवलकर द्वारा हिन्दी में अनूदित होकर पाठकों के समक्ष आ चुका है।

पंडित गोपालराव देशमुख के पाँच पुत्र थे, लक्ष्मणराव, भोरेश्वर, गणपतराव, रामचन्द्रराव और कृष्णराव। बड़े पुत्र लक्ष्मणराव स्वामी जी के जीवन काल में सरकारी सेवा में प्रविष्ट हो चुके थे। जब स्वामी दयानन्द अजमेर से जोधपुर प्रस्थान करने की तैयारी में थे तो लक्ष्मणराव उनसे योग सिखने की इच्छा लेकर वहाँ आये। जब १६ मई १८८३ को मध्याह्न की रेल से स्वामीजी ने अजमेर से जोधपुर के लिये प्रस्थान किया तो उन्हें स्टेशन पर विदाई देने के लिये आने वालों में श्री लक्ष्मणराव भी थे जो उस समय खान देश में सहायक जिलाधीश के पद पर थे। उमके दूसरे पुत्र व्यवसाय से चिकित्सक थे। डा० भोरेश्वर ने एम० डी० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। वे आर्यसमाज बम्बई के प्रधान भी रहे।

लोकहितवादी के अवशिष्ट तीन पुत्रों का निधन स्वयं उनके जीवनकाल में ही हो गया था। गणपतराव का १८८३ में, रामचन्द्रराव का १८८७ में तथा कृष्णराव का देहान्त लोकहितवादी की मृत्यु से एक वर्ष पूर्व १८९२ में हुआ। पारिवारिक क्लेशों को लोकहितवादी ने अत्यन्त शान्ति एवं स्थितिप्रज्ञ के रूप में सहन किया। विषम परिस्थितियों में लोकहितवादी के अप्रतिम धैर्य तथा प्रशान्त मनःस्थिति का एक उदाहरण उनके जीवन में मिलता है। एक बार वे अपने पुत्र की अन्त्येष्टि करके लौटे ही थे कि स्वल्पकाल के पश्चात् आर्य-समाज के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिये सुन्दरलाल जी नामक एक एक सज्जन उनके समीप पहुंचे। अपने चेहरे पर किसी प्रकार के दुःख वा शोक का चिह्न न लाते हुये उन्होंने सुन्दरलाल जी के साथ इच्छित विषय पर बातचीत भी की। परन्तु जब घर का नौकर ने पुत्र के देहान्त की घटना सुन्दरलाल जी को बताई और यह भी कहा कि देशमुख जी तो स्वपुत्र को अग्नि के अर्पण करके ही अभी लौटे हैं तो आगन्तुक ने क्षमा मांगते हुये कहा कि ऐसे दुखद अवसर पर उनका सामाजिक कार्य हेतु उनके समीप आना ठीक नहीं था। इस पर परमास्थितप्रज्ञ लोकहितवादी ने कहा—समाज के कार्य के लिये अपने करने योग्य कार्य में उदासीनता दिखाना मेरे मत में अच्छा नहीं। सांसारिक धारणाओं से ऐसी बातचीत में दुख मानना उपयोगी नहीं, तथा

उसी प्रकार यदि कोई उत्कृष्ट कार्यसिद्धि हुई हो तो उससे हर्षित होना उचित नहीं। मैंने अपनी ओर से अपने बच्चों विद्यादान देने में कोई कमी नहीं रक्खी। फिर उनका अपना-अपना भाग्य उनके साथ। यह संसार सुख-दुखमय है। इसलिये उनके विषय में सुख-दुख मानने का कोई कारण नहीं है।

लोकहितवादी के तीन पुत्रों तथा दो विवाहित पुत्रियों का निधन भी उन के सामने हो गया। उनकी पत्नी सौ० गोपिकाबाई १८८५ ई० में परलोकवासी हुई। १८९३ में लोकहितवादी का निधन हो गया। डा० निर्मलकुमार फडकुले ने मराठी में 'लोकहितवादी काल आणि कर्तृत्व' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर देशमुख के युग तथा कृतित्व का मूल्यांकन किया है।

डा० भवानी लाल 'भारतीय' आर्य-समाज के इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। वे समय-समय पर आर्य-समाज के उन विद्वान् या कार्य-कर्त्ताओं के जीवन से परिचित कराते हैं जो इतिहास में अपना बहुत अधिक महत्त्व रखते हैं परन्तु अभी तक इतिहास के पृष्ठों पर उनका नाम नहीं आ पाया। हम-विद्वानों को ऐसे लेखों के लिये सादर आमन्त्रित करते हैं। ऐसे लेखों को "गुरुकुल-पत्रिका" में सर्वप्रथम प्रकाशित किया जायेगा।

बालक और हम

ईश्वर भारद्वाज
निदेशक योग–गुरुकुल कांगड़ी वि०वि०, हरिद्वार

आज प्रायः देखा गया है कि अधिकांश माता-पिता अपने बालकों के क्रियाकलापों से अत्यधिक चिन्तित हैं। कोई बच्चा घर से भाग जाता है, कोई आत्महत्या कर लेता है, कोई माता-पिता के साथ अभद्र व्यवहार करता है। माता-पिता उनको खुले दिल से कोसते हैं। घर सब कुछ सुविधाओं से सम्पन्न होते हुये भी नरक बन कर रह गया है। आखिर क्यों? क्योंकि हम बच्चों की मनोवृत्ति कों समझने का प्रयास नहीं करते। उनके भावों को जानने की इच्छा नहीं रखते।

मनु जी महाराज ने व्यवस्था करते हुये लिखा है—

> लालयेतू पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताड़येत्।
> प्राप्ते तु षोडशेवर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत्॥

किन्तु क्या हम मनु जी की व्यवस्थानुसार आचरण करते हैं? नहीं। यही कारण है कि आज हमारे बालक सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध आचरण करते हैं और हम उनको ही दोष देते हैं। किन्तु यह दोष उनसे कहीं अधिक हमारा है।

यदि ब्रह्मचर्य आश्रम को आयु का विभाजन किया जाय तो पहले पांच वर्ष बच्चे के लालन-पालन के लिए ही सुरक्षित हैं। इस आयु में बच्चे को अबोध संज्ञा दी जाती है। छठे वर्ष से वह समझने लगता है और उसके हृदय में नवीन जानकारी प्राप्त करने की इच्छा जागृत हो जाती है। यह सत्रह वर्ष पर्यन्त अधिक मात्रा में होती है। इस काल में उसको कच्चे घड़े के सदृश जिस प्रकार का भी बनानें की इच्छा हो, बनाया जा सकता है। इस समय जो

शिक्षा दो जाये, वह उसके चारित्रिक निर्माण को दृष्टि से उपयोगी हो। ऐसी शिक्षा देने तथा बुरे व्यसनों से छुटकारा दिलाने के लिये यदि उसे दण्ड भी दिया जाये तो माता-पिता अथवा गुरु को संकोच नहीं करना चाहिए। कटु औषधि लाभदायक होती है। सत्यासत्य विवेक के लिये दण्ड-प्रक्रिया सोच समझ कर निर्धारित करनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि शारीरिक कष्ट ही दिया जाये। दण्ड की अन्य अनेक विधियां हैं। उसका उद्देश्य बच्चे को सही मार्ग पर चलाना होना चाहिये।

१५ वर्ष की आयु पूर्ण करने के साथ-साथ बालक की मनोवृत्ति बदल जाती है। वह आदेश पालन की अपेक्षा मैत्री भाव से कार्य करने मे हर्ष का अनुभव करता है। यह भी अनुभव किया गया है कि इस आयु के बालक में रहन-सहन, खान-पान, पहनने-ओढ़ने में विशेष रूचि दिखाई पड़ती है। वे दूसरे की अपेक्षा स्वयं को अधिक अच्छा देखना चाहते हैं। यदि उनकी इच्छाओं का पूर्ति नहीं हो पाती तो वे अन्य माध्यम से उसे पूर्ण करने का प्रयास करते हैं। किसी भी प्रकार पूर्ण न होने की परिणति होती है—आत्म-हत्या, घर से भागना या विद्रोही होना। अधिकांश उक्त प्रकार की घटनायें इसी आयुवर्ग की होती है।

बालक चुपचाप नहीं बैठ सकता। वह कुछ न कुछ करता रहना चाहता है। यदि उसे खेल-खेल में जीवनोपयोगी बातें सिखा दी जायें तो वह दूसरों की अपेक्षा अधिक समझदार हो सकता हैं। छह वर्ष की आयु में बालक के दांत निकल आते हैं। वह बोलना शुरू कर देता है। पाठशाला में जाकर अपने नन्हें मित्रों के साथ बैठना, उठना, बोलना, हंसना आदि करता है। उनसे कुछ न कुछ वह रोज करता है, जो बाद में उसकी आदत बन जाती है। यह उनके सीखने का समय है। इस समय उसे सत्यासत्य विवेक की आवश्यकता है अन्यथा वह कुछ गलत आदतों को अपने पल्ले बांध लेगा और आप उनसे उम्र भी कष्ट पाते रहेंगे। क्यों न समय से पूर्व ही उन्हें दूर कर दिया जाये।

बारह से सत्रह वर्ष की आयु में बालक-बालिकाओं में लैंगिक चिह्न विकास की अवस्था में होते हैं। इसी कारण शरीर में परिवर्तन भी होता है। कद व भार में वृद्धि हो जाती है। बुद्धि और विवेक में वृद्धि होती है। इच्छायें व उमंगें बढ़ती हैं। शारीरिक शक्ति में वृद्धि होती है।

इसी आयु में वह ज्यों का त्यों किसी बात को स्वीकार नहीं करता। उसमें अपने विचार प्रकट करने की इच्छा होती है। वह अपनी राय देने लगता है। चाहे उसकी राय में कोई दम न हो (क्योंकि आप आयु-अनुभव में उससे बड़े हैं) वह यह आश करता है कि मुझसे भी मशविरा किया जाये। यदि इस आदत को गलत कहकर उसका मान न किया जाये तो वह कुण्ठित हो जाता है। ऐसे समय में अच्छे माता-पिता का दायित्व हैं कि बच्चे की भावना का आदर करते हुये, यह समझाने का प्रयास करें कि उसकी बात इस कारण से ठीक नहीं है। तब वह शान्तिपूर्वक इस तर्क को स्वीकार कर लेगा। यदि आप उसका सही रूप से समाधान नहीं करेंगे तो हो सकता है वह विरोध कर दे। फिर आप उसे भला-बुरा कहेंगे। यदि आपने पहले ही उसका सही रीति से समाधान कर दिया तो वह आपका आदर-मान करेगा। आपका आज्ञाकारी होकर रहेगा। यदि अनावश्यक दबाव देंगे तो इस प्रकार की भावना के नष्ट होने का खतरा रहता है।

यदि माता-पिता अपने बच्चों को सद्गुणों का आगार बनाना चाहें तो उन्हें कुछ न कुछ श्रम तो करना ही पड़ेगा। उन्हें चाहिए कि समय मिले उसी समय उन्हें अच्छे गुणों से सम्पन्न छोटी-छोटी चरित-कथायें सुनायें जिससे उनसे श्रेष्ठ भावों की जागृति हो। यदि श्रेष्ठ भावों आपने नहीं जगाया तो याद रखिये निम्न भाव स्वतः उसको अपने पास में जकड़ लेंगे और आपके द्वारा कितना भी मूल्य चुकाया जाये, वे उसे छोड़ेंगे नहीं।

बच्चे की शारीरिक पुष्टि का भी यही काल है। इस समय ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्यतः करना चाहिए। यदि ब्रह्मचर्य का पालन न किया गया तो निर्बल और निस्तेज राष्ट्र के निरन्तर बढ़ते हुये बोझ को संभालने में समर्थ नहीं होगी। अच्छे नागरिक देश को मिल नहीं पायेंगे और फिर दासता के युग का सूत्रपात होगा। इसी काल में शारीरिक मानसिक उन्नति-अवनति होती है। भीष्म, दयानन्द, हनुमान जैसे ब्रह्मचारियों की गाथाओं से उनमें ब्रह्मचर्य के प्रति आस्था जगाई जा सकती है।

कुसंस्कारों से बचाकर रखना तभी संभव है, जब सुसंस्कारों से संस्कृत कर दिया जाये। सुसंस्कार यदि आप दे सकते हैं तो आपका बालक अवश्य ही सफल सामाजिक बन सकता है। अन्यथा व्यर्थ का रोना रोते हुये कुछ कर

गुजरने की सामर्थ्य भला कैसे आ सकती है ? जैसी बालक की अवस्था हो, उसे वैसा ही समझकर व्यवहार करना चाहिये । डोरी को उतना ही कसना उचित है, जितना कसने से स्वर निकल सके ।

बच्चे की मनोदशा को जानकर उसके साथ समयानुकूल व्यवहार ही उसे अच्छा नागरिक बना सकता हैं । यदि आप चाहते हैं कि हमारा बच्चा सद्‌गुणों से भरपूर हो तो आपको उसके लिये समय देना होगा । उसका आचरण पवित्र रखने के लिये स्वयं को भी उसी आचरण में ढालना होगा । तभी आप देश के प्रति अपना कर्त्तव्य पूर्ण कर सकेंगे ।

"माता-पिता, आचार्य, अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें और यह भी कहें कि जो-जो हमारे धर्मयुक्त कार्य हैं उनको ग्रहण करो । किसी पाखण्डी दुष्टाचारी मनुष्य पर विश्वास न करे और जिस-२ उत्तम कर्म के लिये माता-पिता और आचार्य आज्ञा देवें उस-उस का यथेष्ट पालन करें ।"

सत्यार्थ-प्रकाश (तृतीय-समुल्लास)

योग का महत्व

लाल नरसिंह नारायण
मनोविज्ञान-विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

भारतीय ऋषि-मुनियों ने जीवन को क्षण-भंगुरता को पहचानकर इस नश्वर शरीर का अधिकतम उपयोग करने के लिए व्यक्ति की अपेक्षा समाज को प्रमुखता दी जो "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना को प्रतिपादित करता था। यह तभी सम्भव था, जब व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास कर उसे एक ऐसे निश्चित आदर्श में ढाला जाये, जिसमें 'शिव' की कल्पना सन्निहित हो। इसके लिए प्राचीन ऋषियों ने योग विद्या का सृजन किया।

योग-विद्या का आरम्भ कब और किसके द्वारा हुआ, यह कहना बहुत सरल नहीं है, क्योंकि स्वयं महर्षि पतञ्जलि ने समाधि पाद के प्रथम सूत्र 'अथ-योगानुशासनम्' स्पष्ट कर दिया है कि इस विषय का शासन उनसे भी पूर्व-काल से चला आ रहा है, जिसका वर्णन श्रुति एवं स्मृति दोनों में ही मिलता है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति में "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता: मान्यः पुरातनः अर्थात् हिरण्यगर्भ ही योग के सर्वप्रथम वक्ता हुये हैं, डा० शान्तिप्रकाश आत्रेय के अनुसार हिरण्यगर्भ किसी मनुष्य का नाम नहीं है। वे सर्वप्रथम उत्पन्न प्रजा-पति कहे जा सकते हैं, इसकी पुष्टि वेदों से होती है, जिसमें कहा गया है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋ० १०।१२१।१, यजु अ० १३, मन्त्र ४)

सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुये जो सम्पूर्ण विश्व एकमात्र पति हैं, जिन्होंने अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पृथिवी सबको धारण किया अर्थात् उपयुक्त स्थान पर स्थिर किया। उन प्रजापति देव का हम द्रव्य द्वारा पूजन करते हैं।

शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर 'योग' शब्द 'युज्' धातु में घञ् प्रत्यय लगाने से बना है। युज् धातु का अर्थ है जोड़ना परन्तु पातंजल योग दर्शन में योग शब्द का प्रयोग समाधि के अर्थ में हुआ है जो एकाग्रता का ही पर्याय है। पतन्जलि ने योग-दर्शन में इसका अर्थ स्पष्ट करने के लिए कहा है—

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः अर्थात् चित्त को वृत्तियों के निरोध को ही योग कहते हैं। चित्त प्रकृति का वह विकार है, जिससे सारी सृष्टि विकसित होती है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इन तीनों गुणों का परिणाम ही सृष्टि है। चित्त सत्व प्रधान परिणाम है। इस चित्त की जो बहिर्मुखी वृत्तियां हैं, उनको विषयों से हटाकर उन्हें कारण चित्त में लीन करना ही योग है।

चित्त निरन्तर वाह्य विषयों के द्वारा आकर्षित होकर उन्हीं के आकार में परिणित होता रहता है। इस निरन्तर परिणित होने को वृत्तियां कहते हैं, जिनको त्यागकर ही चित्त को अपने स्वरूप में लीन किया जा सकता है। यही चित्त-वृत्ति निरोध है।

पाश्चात्य विचारक मानते हैं कि इच्छाओं का दमन ही विकृति का कारण है। फ्रायड़ का मनोविश्लेषण इसी पर आधारित है लेकिन इससे समस्त समस्याओं का निराकरण नहीं हुआ क्योंकि इच्छाओं की कोई सीमा नहीं है। वह आवश्यकताओं से जुड़ी है, जिनका कोई न तो निश्चित मापदण्ड है और न ही स्तर। एक व्यक्ति की जीवन-रक्षक आवश्यकतायें दूसरे के लिए विलासता कही जा सकती है, फिर जहां सीमाओं का प्रश्न है, जैविक आवश्यकताओं की तो सीमा हो सकती है पर जो अर्जित है, उसकी सीमा के बारे में क्या कहा जा सकता है क्योंकि उनका सम्बन्ध सीखने से है। हम रोज नई बातें सीखते हैं और एक नई आवश्यकता को जन्म देते हैं। साधना एवं मर्यादाओं के बन्धन के कारण जब आवश्यकता पूर्ति में अवरोध उत्पन्न होता है तो तनाव पैदा होता है जो विकृति को जन्म देता है। इसी तनाव को दूर करने के लिए कुछ लोग उच्छ्ृंखलता की बात करते हैं। ये लोग जीवन को चाव की दृष्टि से देखते हैं, जिन्होंने कहा है—यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं घृत्वा घृतं पिबेत्॥ अर्थात् जब तक जियो, घी का सेवन करो चाहे ऋण लेना पड़े। लेकिन सभी भारतीय मनीषियों का दृष्टिकोण उपरोक्त नहीं रहा है। वे मानते हैं कि भोगों को भोगने से भोगों की तृष्णा कभी भी शान्त नहीं होती। जैसे कि ययाति ने विष्णु-पुराण में कहा है—

यत्पृथिव्यां व्रीह्यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मातृष्णां परित्येजेत् ।।

अर्थात् एक मनुष्य को सन्तुष्ट करने के लिये सम्पूर्ण पृथिवी के यव आदि अन्न, सुवर्ण, पशु तथा स्त्रियां भी पर्याप्त नहीं है । अतः तृष्णा को त्याग देना चाहिये ।

आधुनिक मनोविज्ञान में अधिगम के सिद्धान्तों की विवेचना करने पर ज्ञात है कि व्यक्ति का पूरा व्यवहार उद्दीपक एवं अनुक्रिया का एक सीधा अथवा जटिल सहसम्बन्धन है । इसे हम चाहे पावलोव से प्रारम्भ करें अथवा जौन बो वाटसन से । परिणाम एक ही मिलता है कि प्राणी तो मात्र हाड़-मास का एक लोथड़ा है जो आन्त्रिक तथा बाह्य उद्दीपको के प्रति अनुक्रिया करके ही चेतन बनता है । इसका व्यवहार व्यक्तित्व के अनुरूप होता है जो परिवेश एवं पैतृतिकता का प्रतिफल है, जिसकी पुष्टि विभिन्न संस्कृतियों के सापेक्ष व्यक्तियों के अध्ययन से हो जाती है । अगर कहीं कोई शंका रह भी जाती है तो उसे एक्सपैरिमेन्टल न्यूरोसिस के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ।

एक्सपैरिमेन्टल न्योरासिस के लिये कुत्ते को दो उद्दीपकों के बीच अन्तर कराया सिखाया जाता है, जब वह दोनों में अन्तर करना सीख लेता है तो उद्दीपकों का अन्तर कम किया जाता है और सीमा यहां तक पहुंच जाती हैं कि कुत्ता दोनों उद्दीपकों में अन्तर कर पाने में असफल हो जाता है । तब कुत्ते में न्योराटिक लक्षण उभरने लगते हैं, उसमें नर्वनेन्स बढ़ जाती है । वह चिड़-चिड़ा हो जाता है अपनी पहली सीखी हुई क्षमता भी खो बैठता है तथा अशान्त रहता है । यही बात मानव मन पर भी लागू होती है कि जब व्यक्ति में विभेद की क्षमता नष्ट हो जाती है या उसके आगे मूल्य स्पष्ट नहीं होते वह अशान्त हो उठता है ।

योग इसी अशान्त मन को शान्त करता है । वह व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक क्रिया-क्लापों को नियन्त्रित करना सिखाता हैं । उपनिषदों में योगाभ्यास के फल का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है ।

लघुत्वभारोग्यं लोलुपत्वं,
वर्ण प्रसादात्स्वर सौष्ठवं च ।
गन्धः है शुर्भा मूत्र पुरीषमल्यं,
योग प्रवृति प्रथमां वदन्ति ॥

अर्थात् योगाभ्यास से फल कुछ ही दिनों में प्राप्त होने लगता है। नाड़ी जाल के शुद्धि से चेतना शक्ति क्रमशः उच्च भूमिकाओं में उठती हेई उस आनन्द के साथ तन्मय हो जाती है जिसकी सम्प्राप्ति मानव के पंच भौतिक मानसिक और प्राणिक विकास के लिये आवश्यक है।

यचुर्वेद में कहा गया है कि 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य वृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविवेक इन्महो देवस्य सवितु परिष्टुति' अर्थात् जो ज्ञानी है वे उस वृहद् विप्र या महान ब्रह्म को जानने के लिये मानस समाधि या मन के योग में प्रवृत्त होते हैं और अपने कर्म और विचार रूप बुद्धि योग को उसी में लगाते हैं।

अतः योगाभ्यास के समय अन्धकार और प्रकाश का एक विचित्र संघर्ष आरम्भ होता है। अन्धकार हटा कर प्रकाश की सम्प्राप्ति योग का फल कहा गया है। इसके लिए साधना की आवस्यकता है। रूप के जितने लोभ या आकर्षण है उनका निराकरण ही वासना मुक्ति है, जिसे चित्त वृत्ति निरोध कहेंगे, इसके लिये आवश्यक है—

"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्ठवंगानि।"

अर्थात् यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह) नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्राणिधान) (आसन) (सुख पूर्वक अधिक काल तक एक स्थिति में बैठने का अभ्यास) प्राणायाम (प्राणों पर नियन्त्रण करना) प्रत्याहार– (विषयों से इन्द्रियों को हटाना) धारणा (चित को बाह्य या अध्यान्तर स्थूल वा सूक्ष्म विषयों में बांधना) ध्यान– (विषय में वृत्ति का एक समान स्थिर रहना) समाधि– (ध्यान की पराकाष्ठा)।

अतः आदर्श व्यक्तित्व को संरचना के लिये अवाश्यक है कि अष्टांग योग को आज के परिपेक्ष्य में लिया जाये तथा वर्तमान समय में योग के नाम पर चल रहे कुछ आसनों पर ही निर्भर न रह कर योग के अन्य सात अंगों का पूर्ण अभ्यास भी परमावश्यक है।

प्रामाण्यवाद-एक विवेचन

दूधपुरी गोस्वामी (एम.ए. II)
दर्शन-विभाग

प्रमाणों का जो भाव अर्थात धर्म-विशेष है वही प्रामाण्य हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो भ्रान्ति तथा संशय से रहित निश्चयात्मक वा यथार्थ अनुभव में रहने वाल विशेष धर्म ही प्रामाण्य है। वेदान्त परिभाषाकार प्रामाण्य के विषय में कहते हैं कि– 'स्मृत्यनुभव साधारणं संवादि प्रवृत्त्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारक ज्ञानत्वं प्रामाण्यम' अर्थात स्मृति और अनुभव उभय साधारण संवादि प्रवृत्ति के अनुकूल तद्वान में तत्प्रकारक ज्ञानत्व को प्रामाण्य कहते हैं।

इस प्रामाण्य को लेकर जो वाद प्रचलित है वही प्रामाण्यवाद कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है, जनककारक विषयक और ज्ञापककारक विषयक। जनककारण विषयक उसे कहते हैं जिससे कार्य उत्पन्न होता है और ज्ञापककारण विषयक उसे कहते हैं जिससे कार्य का ज्ञान होता है।

प्रामाण्य स्वत: उत्पन्न होता है या परत इस संशय को लेकर दार्शनिक जगत् में बहुत वाद-विवाद प्रचलित है, कोई स्वत: मानता है तो कोई परतः यथा—

> **प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्वे स्वत: सांख्या: समाश्रिताः।**
> **नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वत: ।।**
> **प्रथमं परतः प्राहु: प्रामाण्यं वेदवादिनः।**
> **प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ।।**

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि स्वत: और परतः हैं क्या ? स्वतः प्रामाण्य उसे कहते हैं जो स्वाश्रय जनक सामग्री से उत्पन्न हुआ है, अथवा दोषभाव से सहकृत ज्ञान सामान्य की सामग्री से जन्यत्व को उत्पत्ति में स्वतस्त्व पद से पद से कहा है। अर्थात जिस सामग्रो से ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसी सामग्री से

उसमें प्रमातत्व है। और इसके विपरीत परतः प्रामाण्य कहलाता है। इसी प्रकार अप्रामाण्य के विषय में भी जानना चाहिए।

नैयायिकों का कहना है कि प्राणायाम परतः उत्पन्न होता है उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान की प्रामाणिकता के लिये इससे अतिरिक्त की आवश्यकता होती है। उनका कहना है कि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद "इदं ज्ञानं प्रमा न वा" ऐसा संशय होता है, इस प्रकार ज्ञान में प्रामाण्य का संशय हो जाने पर अनुमान से उसमें प्रामाण्य की सिद्धि करते हैं। इदं ज्ञानं प्रमा सफल प्रवृत्ति जनकत्त्वात् व्यतिरेकेण अप्रमावत्। पुनः कार्य और कारण में भेद रहता है और यदि कार्य अपने में ही उत्पन्न होने लगे तो कार्य तो कार्य कारण में कोई भेद नहीं रहेगा और भेद सामानधिकरण्य का गियम भङ्ग हो जायेगा। और यदि स्वाश्रय ज्ञान से ही प्रमाण्य की उत्पत्ति मानें तो भी ठीक नहीं क्योंकि तब तो ज्ञान में समवायि कारण मानना होगा और समवायिकारण द्रव्य ही होता है ज्ञान नहीं, गुण होने से नियम भी है "समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति ज्ञेयम्।"

इसके विपरीत मीमांसकों का कहना है कि प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है और अप्रामाण्य परतः। मीमांसकों का कहना है कि इन्द्रिय के संयोग से किसी वस्तु को देखकर और यह वस्तु है इस ज्ञान को यथार्थ मानकर लोक उस वस्तु को ग्रहण या छोड़ने [ईप्सा जिहासा] को प्रवृत होते हैं इसमें सन्देह या अयथार्थता की सम्भावना नहीं है। ज्ञान तो यथार्थ ही होता है उसकी सत्यता में सन्देह करना ही व्यर्थ है। ज्ञान हो और वह मिथ्या हो यह दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। ज्ञान होने से ही वह यथार्थ है।

मीमांसकों में मुरारि मिश्र का कहना है कि प्रथमतः इन्द्रिय संग होने से वस्तु का व्यवसायात्मक ज्ञान होता है। अनन्तर "घटमहं जनामि" इस अनुव्यवसाय से घट ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य का ग्रहण होता है। अतः घटज्ञान को जानने वाले अनुव्यवसाय ज्ञान की सामग्री ही घटज्ञान में प्रमाण्यत्व को बतलाती है। अर्थात् प्रथम ज्ञान का विषय केवल घट है और द्वितीय ज्ञान का विषय घटज्ञान और घट दोनों ही हैं। अतः ये स्वतः प्रामाण्यवादी हैं।

आचार्य प्रभाकर स्वीकार करते हैं कि संवित् स्वयं प्रकाश होने से संवित् की जनक सामग्री ही उसमें रहने वाले प्रमात्त्व को ग्रहण करती है। अर्थात्

जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी सामग्री से उस ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य का भी ज्ञान होता है।

अद्वैत-वेदन्तियों को भी यही अभिमत है, उनके अनुसार भी प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है और अप्रामण्य परतः। अर्थात् दोषाभावसहकृत ज्ञान सामग्री से जन्य होने के कारण प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है। यद्यपि दोषाभाव को प्रामाण्य की उत्पत्ति में सहकारी कारण माना गया है किन्तु इससे स्वतस्त्व की हानि नहीं होती। क्योंकि दोषाभाव भाव पदार्थ नहीं है। बल्कि अभाव है, यदि किसी भाव तत्त्व को सहकारी कारण माना जाय तो उसमें परतस्त्व आ सकता है।

वेदान्तियों का कहना है कि ज्ञान सामान्यजनक सामग्री से भिन्न कारण को प्रमात्व में प्रयोजक मानना अनुचित है। ऐसा मानने पर भिन्न-भिन्न अनु-में भिन्न कार्यों को प्रामाण्य का प्रयोजक मानना पड़ेगा। इससे महागौरव होगा। भिन्न-भिन्न कारण को प्रमात्व का प्रयोजक मानने पर अव्याप्ति और अति-व्याप्ति दोष भी गले पड़ जायेंगे। यथा प्रत्यक्ष प्रमा में भूयोऽवयव इन्द्रिय सन्निकर्ष को प्रमात्व का प्रयोजक मानने पर रूपादि प्रत्यक्ष और आत्म-प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायेगी क्योंकि इनमें अवयव नहीं होते और पित्त दोष से दूषित चक्षु का श्वेत शंख के अधिक अवयवों के साथ सन्निकर्ष तो होता है किन्तु श्वेत शंख का ज्ञान न होकर पीत शंख का ज्ञान होता है जो कि भ्रम रूप है। उस प्रकार भ्रान्ति में अतिव्याप्ति है। अतः स्वतः प्रामाण्य ही ठीक है।

परतः अप्रामाण्वाद – वेदान्तियों ने अप्रामाण्य को परतः माना है। विफल प्रवृत्ति के अनुकूल तद्धर्माभाव वाली वस्तु में तत्प्रकार के ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। जैसे शुक्ति में "इदं रजतम्" यह ज्ञान अप्रमा है क्योंकि इस ज्ञान से इच्छा द्वारा उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति विफल होती है। रजतार्थी को वहां रजत की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार रजततत्त्वाभाव वाली शुक्ति को रजत रूप में ग्रहण करना ही अप्रामाण्य है।

इस अप्रामाण्य का ग्रहण स्वतः नहीं होता बल्कि विफल-प्रवृति रूप लिङ्ग से अप्रमात्व का ग्रहण होता है। अभिप्राय: यह है कि साक्षी वृत्ति से उपस्थापित विषय को ही ग्रहण करता है। वृत्ति जिस वस्तु को साक्षी के सामने उपस्थित करती है उसी को वह ग्रहण कर लेता है। उस समय उसे

यह ज्ञान नहीं होता कि यह अप्रमा है, जब अविद्या वृत्ति साक्षी के सामने प्रातिभासिक रजत को उपस्थित करती है तब साक्षी उस रजत ज्ञान को ग्रहण तो कर लेता है किन्तु उसे यह ज्ञान नहीं होता कि यह शुक्ति है, उस समय तो वह उसे रजत ही समझता है। इसलिए उसके ग्रहण में वह प्रवृत्त होता है। यदि उसे उस समय ही अप्रमात्व का निश्चय हो जाये तो रजतार्थी की वहां प्रवृत्ति नहीं होगी और मुझे भ्रम हो रहा है ऐसा समझने वाला व्यक्ति कभी भी उसमें प्रवृत्त नहीं होगा। इसलिए साक्षी के द्वार अप्रमात्व का ग्रहण नहीं होता। अप्रमात्व का ग्रहण विफल प्रवृत्ति रूप लिंग से होता है। अनुमान इस प्रकार है--इस शुक्ति ज्ञान में रजतार्थी की प्रवृत्ति प्रमात्व शून्य है, विफल प्रवृति जनक होने से क्योंकि रजतार्थी को रजत नहीं मिला।

यही मत उचित होता है। परतः प्रामाण्य में अनुमान के प्रामाण्य के लिए अनुमानान्तर की आवश्यकता होगी और पुनः उसके प्रामाण्य के लिये अन्य की इस प्रका अनवस्था दोष आ जायेगा। और कोई भी प्रामाण्य निश्चित न हो पायेगा। जैसे बाघ या शेर को देखकर यदि हम उनका प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए दूसरे उपायों (प्रमाणों) का आश्रय लेंगे तो निश्चित ही प्राण खो बैठेंगे। किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। जैसे ही हम शेर को देखते हैं, वहां से भाग जाते हैं।

अज्ञः सुखमाराध्यः

डा० विजयपाल शास्त्री
दर्शन-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

मति भेदेन त्रिधा सन्ति पुरुषाः संसारे—अज्ञः सुज्ञोऽल्पज्ञश्च । शुभाशुभज्ञान-शून्यो निजपरानभिज्ञो भवत्यज्ञः । युक्तायुक्तविशारदो निखिलशास्त्रविचक्षणो विद्यावद्विलक्षणश्च सुज्ञः । अज्ञसुज्ञयोर्मध्यज्ञः, अल्पज्ञानी, बहुमानी, समुचित-वाग्व्यवहारशून्योऽपि बहुभाषणदक्षः परापवादचतुरो भवत्यल्पज्ञः । ज्ञानतार-तम्येन त्रिविधेष्वेषु मनुष्येषु महाननर्थकारी विद्यतेऽप्रज्ञः । मूर्खस्योद्बोधनं सुखसाध्यम् । विदुष आराधनं सुखतरसाध्यम्, किन्तु यः किंचिज्जानाति नाधिकं च गृह्णाति, तं ज्ञानलेशावाप्ति समुद्धतं नरं नारायणोऽपि न शक्नोति समुद्-बोधयितुम । अमुमेवार्थं मनसि निधाय निधिर्वाचां वचनसुधावारिधिर्वाग्वरि-भर्तृहरिर्विबोधयति साधून्—

> लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्
> पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ।
> कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेन्न
> तु प्रतिनिविष्ट मूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥

अभिप्रायोऽयं कवेर्यत् त्रीणीमानि वस्तूनि जगति सन्ति नितरामसम्भवानि सिकतासु तैलं, मरूमरीचिकासु जलं शशशिरसि विषाणञ्च । किन्तु बहुबकाल पर्यन्तं प्रयत्नात् निष्पीडिताभ्यः सिकताभ्यः कदाचित् तैलोत्पत्तिः सम्भाव्यते, पिपासातुरोऽपि कदाचित् मरुमरीचिकासु पानीयं लब्धुं शक्नोति, सम्भवतया कस्मिश्चिदपि भाविनि काले शशमस्तते विषाणमपि लभते कश्चित्, किन्तु दुराग्रह ग्रस्तं ज्ञानलवदुर्विदग्धं जनं विबोधयितुं न कश्चन शक्नोति ।

मूर्खाणां स्वभाव एवास्ति यत् ते मनसि यन्निदधति यच्च चिकीर्षयन्ति तदन्यथा विधातुं ब्रह्मापि नार्हति । कामं दुराग्रहग्रहग्रस्तास्ते महद् दुःखं भुञ्जन्ति न तु कस्यचिदुपदेशं चेतसि कुर्वन्ति । मारीचेन निवारितोऽपि दशाननो यति-

वेषं प्रधार्य सीतां जहार परिणामे च सकुटुम्बं विनाशमवाप । तदेव तस्मादेवो पदिष्टं प्रसन्न राघवे—

उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते ।
चतुर्थी चन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका ।।

किष्किन्धाधिपतिर्बालिः स्वकीय भ्रातृजायां तारां प्रत्यनीतिमाचरन् बहुभिर्बोधितोऽपि न कुकृत्याद्विरराम, अन्ते च रामशेरैर्विनिपातितः ।

देवराजतनयोऽपि जयन्तो छद्मवायसवपुः सन्धार्य सीतां प्रत्यनुचितं व्यवहरन् नोचितं कस्यापि शुश्राव कुपितेन रामशरेणानुद्रुतः प्राणपरीप्सु कामः त्रैलोक्यमटन् न कमपि शरण्यमलभत । इत्थं दुर्विदग्धा जनाः सत्पुरुषैर्न बोधनीयाः मम मतिस्त्वीदृशी सम्प्रति जाता यत् पतितुमभिलषन्तं पातयेत् उन्नतिमभिलषन्तं च प्रयासेनोन्नमयेत् । यः कोऽपि बालमतिः खलान् सन्मार्गं नेतुं वाञ्छति स निःसंशयमेव विषमविषपरीतं महाब्यालं कोमलैः कमलनाल सूत्रैः संरोद्धुं वांछति, शिरीषपुष्पधारया तरुणमणिं छेत्तुं व्यवस्यति, लवणजलधेश्च माधुर्यं मृद्वीकामधुबिन्दुना रचयितुं समीहते ।

समस्तानां व्याधीनां चिकित्सा शास्त्रे प्रतिपादिता किन्तु मूर्खस्यौषधं न केनापि विज्ञेन वैद्येन निगदितम् । जलेनानल तापो वारयितुं शक्यः छत्रेणातपो निवारणीयः, कशाघातेन मदोन्मत्ता दन्तिनोवशे कर्तुं योग्याः, दण्डेन बलीवर्दगर्दभौ मार्गमानेतुं शक्यौ, विविधैर्मन्त्रप्रयोगैरोषधिभिश्च महाविषधरविषं शमयितुं शक्यते, किन्तु न केनापि सौम्येनोपायेन मूर्खस्य चिकित्सा कर्तुं योग्या। सत्यमिदमुक्तं मनीषिप्रवरेण नीति कारेण--

शक्योवारयितुं जलेन हुत भुक् छत्रेण सूर्यातपो ।
नागेन्द्रो निशितांकुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ।।
व्याधिभेषज संग्रहश्च विविधमन्त्रप्रयोगैर्विषं ।
सर्वस्यौषधकस्ति शास्त्र विहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ।।

अज्ञता न दोषाय । अज्ञो हि भवति माणवकः । तस्य मतिः सुखेन परिवर्तयितुं शक्ला । यथा यथा हि सौम्योऽर्भकः विज्ञानां संगतिमृच्छति तथा तथाऽस्य शेमुषी विकासं लभते, परिणामे च भूयोविद्यो जातो विद्योतते। किन्त्वल्पज्ञो दुराग्रही शठो न केनापि वारयितुं शक्यः स्वकल्पितादर्शात्। तस्मात् मूर्खसंसदि विदुषो मौक्यमेव श्रेयसे । बृहस्पतिरपि तस्मान्न पारयितु

मर्हति। भेकानां सदसि न पिकस्य माहात्म्यम्। कापट्य निपुणानां समूहे न धर्मनीतिरलंश्रेयसे। तस्माद् हे विद्वान्स ! मा खिद्यत यदि न कोऽपि भवतां शृणोति। चेदस्ति किमपि साद्गुण्यं भवतां भारतीषु, अवश्यमेव सर्वोत्कर्षेण वर्तिष्यते कदाचित्। श्राद्धपक्षोऽयं वर्तते केवलं काकानां तोषाय। निश्चप्रचमेव भवतां वाङ्मरन्दानां कर्मशः कोऽपि प्राज्ञो मधुव्रतः समुत्पत्स्यते। वाग्ब्रह्मणो भवभूतेरिदं वाक्यमाकलयन्तो मौनमाकलयन्तु सम्प्रति सन्तो भवन्तः --

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथिवी ॥

॥ इत्यम् ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

(गीता, अ० ३, ७०-७१)

जो मनुष्य कामनाओं को त्याग कर अहंकार रहित और ममता रहित हो जाता है, शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! यही ब्राह्मी स्थिति है। वह इस अवस्था को प्राप्त करके आनन्द को प्राप्त करता है।

कुछ गणितीय विचित्रताऐं

ले० विजयेन्द्र कुमार, रीडर गणित विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
तथा
कु० सरिता रानी

प्राकृतिक संख्याओं के समुच्चय से आप सुपरिचित हैं। यह निम्न प्रकार हैं।

$N = (1, 2, 3, 4, 5 \; — \; — \;)$ तथा असीमित हैं।

इसी प्रकार प्राकृतिक सम संख्याओं का समुच्चय निम्न प्रकार है।

$N_e = (2, 4, 6, 8 \; — \; — \;)$ यह भी असीमित है।

अब यदि कोई आपसे यह प्रश्न करता है कि कौन से समुच्चय में तत्वों की संख्या अधिक है तो आप बड़ी सरलता से उत्तर दे सकते हैं। लेकिन अपना उत्तर आप अभी मत बताइये। पहले कुछ और विचार करते हैं। मान लिया एक स्थान पर गिनी हुई फूलमालाऐं रक्खी हुई हैं। ये फूलमालाऐं एक व्यक्ति को एक के नियम से दी जाती हैं तथा यह क्रम जब तक आवश्यकता है चलता रहता है। ऐसी स्थिति में आप यही तो कहेंगे कि जितनी फूलमालाऐं हैं उतने ही व्यक्ति हैं। इसी दृष्टि से समुच्चय N तथा N_e को देखिये। N के तत्वों को व्यक्ति तथा N_e के सदस्यों को माला मानिये। इस प्रकार 1 के लिए 2, 2 के लिए 4, 3 के लिए 6.. इत्यादि। इस एक-एक संगतता की कसौटी पर आपने जो आपसे पूछे गये प्रश्न का उत्तर सोचा था उसे परखिये। आशा है आप पहले ही ठीक परिणाम पर पहुंचे होंगे।

एक-एक संगतता की कहानी बड़ी पुरानी है। पश्चिमी विद्वानों का मत है कि सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक चरण में जब तक संख्याऐं नहीं जानी गयी थी तब एक-एक संगतता से ही गिनने का काम चलाया जाता था। उदाहरण के लिए मनुष्य गाय-भैंस, भेड़-बकरी आदि पशु पालता था। यह

देखने के लिए कि चरागाह से उसके सब पशु लौटकर आ गये या नहीं वह एक पशु के लिए एक पत्थर (कंकड़) के सिद्धान्त के अनुसार गिनती करता था। अर्थात् पहले पशु को देखकर पत्थरों के ढेर में से एक पत्थर एक ओर उठाकर रख दिया, दूसरे पशु को देखकर दूसरा पत्थर, तीसरे पशु को देखकर तीसरा - आदि। उस ढेर के सब पत्थर दूसरे ढेर में पहुँच जाने पर वह संतुष्ट हो जाता था कि सब पशु लौट आये हैं। लेकिन यदि पहले ढेर में कुछ पत्थर बच जाते थे इससे उसे यह आभास होता था कुछ पशु नहीं लौटे हैं इससे वह अपने खोये हुए पशुओं को ढूढ़ने निकल पड़ता था। एक एक संगततर के प्रयोग से हम कुछ और अनपेक्षित परिणामों पर पहुँचते हैं।

अब निम्न समस्या पर विचार करते हैं। साथ के चित्र में कुछ रेखायें खींची गई हैं। जैसे AB, CD, EF, तथा GH। यदि आपसे पूछा जाय इनमें से कौन सी रेखा में सबसे अधिक बिन्दु है तथा कौन सी रेखा में सबसे कम तो इस प्रश्न का उत्तर भी आप बड़ी सरलता से दे सकते हैं। अभी आप उत्तर मत दीजिए। अपने मन में सोचे रखिये।
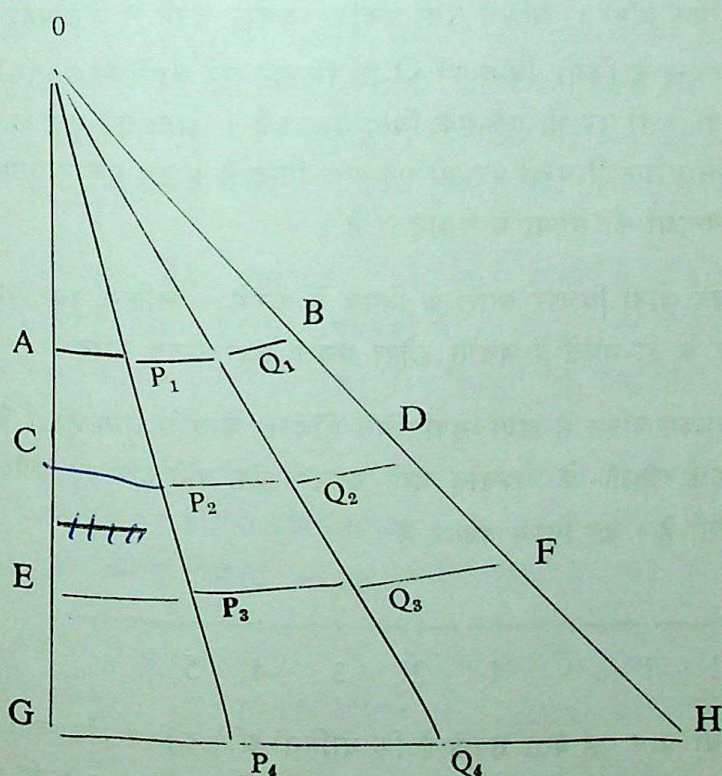
रेखा OP_1 P_2 P_3 P_4 से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह रेखा AB, CD EE, तथा GH, प्रत्येक रेखा पर एक बिन्दु रखती है।

इसो प्रकार का परिणाम रेखा OQ_1 Q_2 Q_3 Q_4 के विषय में भी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि GH के प्रत्येक बिन्दु से O को मिलाने वालो जो रेखाएें खींची जाती हैं वे रेखायें प्रत्येक AB, CD तथा EF पर भी एक एक बिन्दु रखती है। अर्थात् GH के प्रत्येक बिन्दु के लिए AB, CD तथा EF पर एक-एक बिन्दु है। इस प्रकार इन सब रेखाओं AB, CD, EF तथा GH पर बिन्दुओं की संख्या बराबर है। आशा है आपका भी यही उत्तर रहा होगा।

उपरोक्त स्थिति का वर्णन एक और प्रकार से भी कर सकते हैं—OP तथा OQ रेखाओं के बीच में $A_1B_1C_1$ $A_2B_2C_2$ तथा $A_3B_3C_3$ तीन क्रमशः एक इकाई, दो इकाई तथा तोग इकाई अर्ध व्यास के वृत्त हैं। वैसे देखने में यह लगता है कि छोटे वृत्त में बिन्दुओं की संख्या न्यून तथा बड़े वृत्त में अधिक होगी। लेकिन उसी प्रकार विचार करने से जैसे पहले किया है कि बड़े वृत्त के किसी बिन्दु को O से मिलाने पर जो रेखा बनती है इस पर अन्य दो वृत्तों पर भी एक-एक बिन्दु पड़ता है। अतः बड़े वृत्त के प्रत्येक बिन्दु के लिए शेष दो वृत्तों पर भी एक-एक बिन्दु है। इस प्रकार प्रत्येक वृत्त के ऊपर बिन्दुओं की संख्या में समानता है।

अब थोड़ा विचार अनंत के विषय में करेंगे। लेकिन क्या अनंत भी कई प्रकार के हो सकते हैं अर्थात् छोटा अनंत, वड़ा अनंत आदि।

नम्बर लाइन से आप सुपरिचित होंगे। केन्द्र में शून्य होता है तथा प्रत्येक इकाई लंबाई के पश्चात् आने वाला अंक बांये अंक की अपेक्षा एक अधिक होता है। यह निम्न प्रकार है।

+ ——|——|——|——|——|——|——|——|——|——|——

—3 —2 —1 0 1 2 3 4 5 6
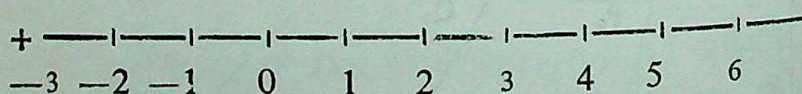
क्या आप यह बता सकते हैं कि दाहिनी और अंतिम अंक क्या होगा? क्या १०० के बाद १०१, १०१ के बाद १०२, १०२ के बाद १०३ आदि। क्या

यह क्रम कभी समाप्त होगा ? कभी नहीं। कोई भी अंक लिखने के पश्चात् उससे एक बढ़कर उससे दाहिनी ओर का अंक लिखा जा सकता है। इस प्रकार यह क्रम कभो भी समाप्त नहीं होता अर्थात् अनंत तक जाता है। इसी प्रकार बांयीं ओर भी। यह एक अनंत हुआ। इस नम्बर लाईन में एक विशेष बात यह है कि किन्ही दो बिन्दुओं के बीच में तीसरा बिन्दु नहीं है। अर्थात् जैसे २ तथा ३ पूर्णांकों के बीच में कोई अन्य पूर्णाङ्क नहीं है। इस प्रकार की अनंत संख्या को No (अलीफ नल) से प्रदर्शित करते हैं। यह इस समुच्चय में तत्वों की संख्या को प्रदर्शित करता है।

अब नम्बर लाइन में केवल (0, 1) अंतराल में स्थित वास्तविक संख्याओं के विषय में सोचें। वास्तविक संख्याओं के एक भाग परिमेय संख्याओं की यह विशेषता होती है कि किन्ही दो परिमेय संख्याओं के बीच में तीसरी संख्या सदैव ज्ञात की जा सकती है जैसे $\frac{1}{2}$ तथा $\frac{1}{3}$ के बीच में $\frac{1}{2}(\frac{1}{2}+\frac{1}{3})$ अर्थात् $\frac{5}{12}$ आदि। $\frac{1}{2}$ तथा $\frac{5}{12}$ के मध्य में $\frac{1}{2}(\frac{1}{2}+\frac{5}{12})$ अर्थात् $\frac{11}{24}$ आदि इस प्रकार केवल (0,1) अंतराल में ही वास्तविक संख्याओं की संख्या अनंत है। इस प्रकार अनंत लम्बाई की नम्बर लाइन पर जिसकी प्रत्येक इकाई लम्बाई में वातविक संख्याओं की संख्या अनंत है। यह दूसरो प्रकार का अनंत है। इस अनंत संख्या की C से प्रर्दशित है। इस प्रकार अब तक हमारा दो प्रकार के अनंत से परिचय हुआ है एक तो No तथा C।

अब अन्य अनंत संख्याओं के विषय में जानकारी करने का प्रयास करते हैं। मान लिया किसो समुच्चय में दो तत्व (a,b) हैं। इसके उप समुच्चयों की संख्या 2^2 होगी [(a), (b), (a,b), Q] इस प्रकार सामान्यतया यदि किसी समुच्चय में तत्वों की संख्या n है तो इसके उपसमुच्चयों की संख्या 2^n है। हम देख चुके हैं कि वास्तविक संख्याओं के समुच्चय में तत्वों की संख्या 2^c होगी। यह तीसरी अनंत संख्या है जो No तथा C से भिन्न है। इस प्रकार अन्य अनंत संख्याऐं 2^{2c}. 2^{3c}, 2^{4c} हो सकती हैं।

इस प्रकार हम केवल एक अनंत समझते हैं लेकिन अब यह लगता है कि अनंत संख्याए भो अनंत हैं जिन्हें No, C, 2^c, 2^{2c}, 2^{3c} इत्यादि लिखा जा सकता है।

—०—

पुस्तक-समीक्षा

पुस्तक का नाम— श्री रामचरित मानस में उपनिषद् प्रभाव
लेखिका— शीला शर्मा
प्रकाशक—पूर्वोदय-प्रकाशन ७/८ दरिया गंज
नई दिल्ली—११०००२
कुल पृष्ठ—३८१
मूल्य— सौ रुपये

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने सिद्ध काव्य "रामचरित-मानस" को "नाना पुराण निगमागम सम्मत" कहा है। यह बात सभी पाठक जानते हैं। किन्तु यह बात शायद ही कोई जानता हो कि रामचरित-मानस उपनिषदों से पूर्णतया प्रभावित है। उपनिषदों के उपदेशों का सार तो रामचरित-मानस में सरलतया खोजा जा सकता है किन्तु उपनिषद् के वाक्यों के अर्थ के साथ मानस के वाक्यों का ज्यों का त्यों संयोजन है इस तथ्य को खोज निकालने का सराहनीय प्रयास शीला शर्मा ने ही उक्त पुस्तक में किया है।

तुलसीदास ने विभिन्न उपनिषदों के अर्थ को मानस में इस निपुणता से ग्रन्थित किया है कि साधारण पाठक उसका सार तो समझ लेता है किन्तु उसको इस बात का आभास नहीं होता कि वह उपनिषद् का ज्ञान प्राप्त कर रहा है। तुलसी की काव्य-कला और वचन चातुरी का यही वैशिष्टय है कि उन्होंने स्वाभाविक और सरस-कथा में उपनिषद् के तत्त्वों को इस तरह गुम्फित किया है कि गहनतम ज्ञान भी सहजग्राह्य बन गया है।

लेखिका शीला शर्मा ने गहन चिन्तन और अध्ययन के पश्चात् उक्त पुस्तक में उपनिषद् के तत्त्वों को "मानस" के वाक्यों के साथ संयोजित करने का प्रयास किया है। पुस्तक के अध्ययन से यह मत स्पष्ट हो जाता है कि रामायण उपनिषदों से प्रभावित ही नहीं बल्कि उनसे सम्मत है, उन पर आधारित है।

श्रीमती शीलाशर्मा ने मानस और उपनिषदों का इतना मंजुल समन्वय

किया है कि उसे देखकर उनकी प्रखर प्रतिभा और अद्‌भुत धर्म की प्रशंसा करनी पड़ती है।

उपनिषद् से प्रभावित 'मानस' के कुछ स्थल इसप्रकार हैं—

तुलसी ने कहा है—

जो इच्छा करिहहु मन माँहि।
हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहि। उ. कां.॥

इस चौपाई में कठोपनिषद् की इस उक्ति की गूंज स्पष्ट सुनाई पड़ रही है—

एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

सुन्दर काण्ड का एक प्रसङ्ग देखिये। शरणागत विभीषण के प्रति श्री राम कहते हैं—

कोटि विप्रवध लागहि जाहू।
आपे सरन तजहि नहि ताहू॥
सन्मुख होय जीव मोहि जबहि।
जनक कोटि अघ नासहि तबहीं॥

जिन्होंने ध्यान बिन्दु उपनिषद् का अध्ययन किया है उनका ध्यान इस चौपाई को पढ़ते ही उक्त उपनिषद् के इस श्लोक पर सहसा केन्द्रित हो जाता है—

यदि शैल समं पात विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥

यह वाक्य साम्य के कुछ उदाहरण हैं। इसी प्रकार भाव साम्य, अलंकार साम्य तथा कथा साम्य के भी स्थल हैं। जिनको देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि रामायण वस्तुतः उपनिषद् पर आधारित है।

इस पुस्तक में चार खण्ड हैं जिनमें क्रमशः काव्य तत्त्व, साधना तत्त्व तत्त्व दर्शन तथा स्वरूप दर्शन के सन्दर्भ में मानस और उपनिषद् का तुलना प्रतिपादित की गयी है तत्त्व बुभुत्सु और शोधार्थियों के लिये यह ग्रन्थ अवश्य पठनीय है।

समीक्षक —डा० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

सीमान्त जनपद उत्तरकाशी एवं चमोली के शैक्षिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन

डा० शान्तिकुमार लखेड़ा

शिक्षा के क्षेत्र में वैदिक और बौद्धकाल में हिमालय क्षेत्र की सर्वाधिक महत्ता रही है। प्राचीन समय से ही यह क्षेत्र ऋषि-मुनियों की तपस्थली तो रहा ही, विद्याध्ययन के कई गुरुकुल एवं आश्रम होने के कारण शिक्षा का प्रमुख केन्द्र भी रहा है। अपनी निराली संस्कृति एवं परम्परा के लिए यह क्षेत्र प्राचीन समय से ही प्रसिद्ध रहा है, तथा जिज्ञासा का विषय रहा है। गढ़वाल के पावन तीर्थ सदियों से देशवासियों को एकता तथा भाई-चारे के सूत्र में बांधे हुए हैं। मध्यकाल में हिमालय का मध्य क्षेत्र नाथों और सिद्धों की साधना स्थली रही, इस समय यहां पर तंत्र-मंत्र, औषधि, ज्योतिष एवं साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान हुए, जिनकी कीर्ति सारे भारत में फैली।

वर्तमान समय में गढ़वाल मण्डल पौड़ी, टिहरी, उत्तरकाशी, चमोली एवं देहरादून पांच जनपदों में विभक्त है। पहले ब्रिटिश शासन में केवल दो ही भाग थे—ब्रिटिश गढ़वाल एवं टिहरी गढ़वाल (रियासत)। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् १ दिसम्बर १९४९ को टिहरी रियासत का विलीनीकरण उत्तर प्रदेश में हुआ तथा १९६० में गढ़वाल मण्डल के उत्तरकाशी व चमोली सीमान्त जनपदों का निर्माण हुआ। जुलाई १९७५ में देहरादून जनपद भी प्रशासनिक रूप से गढ़वाल मण्डल में मिला लिया गया।

सन् १८०३ से १८१५ तक गढ़वाल पर गोरखाओं का अस्थिर शासन रहा। अंग्रेजों की सहायता से जब गोरखा शासन समाप्त हुआ तो गढ़वाल दो भागों में बांट दिया गया। पूर्वी गढ़वाल ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया जो ब्रिटिश गढ़वाल कहलाया और पश्चिमी गढ़वाल महाराजा प्रद्युम्नशाह के उत्तराधिकारी सुदर्शनशाह के पास रह गया जो टिहरी गढ़वाल (रियासत)

कहलाया। टिहरी रियासत के उत्तार प्रदेश में विलीनीकरण से पूर्व उत्तरकाशी जनपद टिहर रियासत का ही एक भाग था तथा दूसरी ओर चमोली जनपद ब्रिटिश गढ़वाल के अन्तर्गत था। इन दोनों जनपदों की भौगोलिक बनावट, जलवायु तथा प्राकृतिक सम्पदा इत्यादि में कोई भिन्नता नहीं है। इन दोनों सीमान्त जनपदों में हिमाच्छादित पर्वत शिखरों, पावन हरिताओं एवं तीर्थ स्थलों का बाहुल्य है। आवागमन के साधनों का अभाव तो है ही, दैवी प्रकोप जैसे वज्रपात, भूस्खलन व बाढ़ आदि विपदायें भी आती ही रहती हैं।

ऐसे स्थानों पर रहने वाले निवासी प्रसंशा के पात्र हैं। शासन के इन जनपदों के तीव्र विकास हेतु ही इन्हें सीमान्त जनपद घोषित किया है। इन जनपदों का क्षेत्रफल तथा विभिन्न वर्षों की जनसंख्या का विवरण निम्न तालिका में दिया जा रहा है।

तालिका—१

उत्तरकाशी एवं चमोली जनपद का क्षेत्रफल एवं जनसंख्या

जनपद	क्षेत्रफल वर्ग कि. मी.	वर्ष	जनसंख्या		
			पुरुष	स्त्री	कुल
उत्तरकाशी	८०१७	१९६१	६२५३४	६०३०२	१२२८३६
		१९७१	७७८३२	६९९७३	१४७८०५
		११८१	१०१५३३	८९४२५	१९०९४७
चमोली	९१२५	१९६१	१२००९२	१३३०४५	२४३१३७
		१९७१	१४१९६१	१५०६०९	२९२५७१
		१९८१	१७८३४३	१८६००३	३६४३४६

स्रोत—सांख्यिकी पत्रिका, उत्तरकाशी एवं चमोली, १९८५

१९वीं शताब्दी में गढ़वाल राज्य के पहली बार विदेशी शक्ति के आधिपत्य में आने से अंग्रेज शासकों के हस्तक्षेप व विदेशी इसाई मिशनरियों ने

इसके भविष्य को एक स्थायी मोड़ दिया और तभी से यहां आधुनिक शिक्षा अंग्रेजी की प्रतिष्ठा हुई। प्रारम्भ में अंग्रेज शासकों का ध्यान अपनी व्यापारिक आर्थिक स्थिति को सुदृढता एवं सम्प्रभुता तक ही सीमित रहा तथा शिक्षा विकास के प्रति वे विमुख ही रहे। किन्तु विदेशी मिशनरियों ने भारत के अन्य हिस्सों की भांति कुछ स्कूल गढ़वाल के विभिन्न स्थानों पर स्थापित किये। यद्यपि इन मिशनरियों का उद्देश्य यहां के निवासियों का प्रलोभन अथवा बलात् धर्म परिवर्तन कराने का था किन्तु गढ़वाल के शिक्षा प्रसार में इनकी उल्लेखनीय भूमिका रही है।

भारत की प्रथम जनगणना १८८१ के अनुसार ब्रिटिश गढ़वाल में ३.७% और टिहरी गढ़वाल (रियासत) में २.८% लोग ही साक्षर थे। वाल्टन का कथन है कि २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में साक्षरता के नाते गढ़वाल का बड़ा उच्च स्थान है। यहां के लोग ६.५% (१३% पुरुष और ०.२% स्त्री) साक्षर हैं। जबकि इसके विपरीत टिहरी रियासत की आबादी साक्षरता के नाते कोई विशेष ध्यान देने योग्य नहीं है। सन् १९०१ में यहां सिर्फ २.२% (४.४% पुरुष और १% स्त्री) साक्षर थे। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि गढ़वाल के दोनों भागों में शिक्षा के क्षेत्र में विषमता थी। इसी संदर्भ में प्रो० आनन्द शरण रतुड़ी का कथन उल्लेखनीय है कि— १९७१ में जहां विदेशी शासन में रहते हुए ब्रिटिश गढ़वाल ने शिक्षा में उत्तरोत्तर उन्नति की वहां रियासत गढ़वाल अवनति करता रहा। विदेशी शासन ने लोकप्रिय बनने के लिए ब्रिटिश गढ़वाल के उत्थान में कुछ योग दिया। .. स्त्री शिक्षा में दोनों जगहों ने कोई विशेष उन्नति नहीं की।'

उक्त के बावजूद भी १९वीं शताब्दी के गढ़वाल में साक्षरता के क्षेत्र असाधारण प्रगति हुई जिसका कारण था जनमानस का शिक्षा के प्रति अत्यधिक रुझान। जनता ने उत्साहपूर्वक नये विद्यालय खोले तथा शिक्षा के लिए सामर्थ्यानुसार चन्दा दिया। जनपद उत्तरकाशी पर टिहरी रियासत तथा चमोली जनपद पर ब्रिटिश गढ़वाल के शैक्षिक विकास का प्रभाव पड़ा। वर्ष १९६१, १९७१ तथा १९८१ को इन जनपदों में साक्षरता का विवरण तालिका २ में दिया जा रहा है।

तालिका—२

जनपद उत्तरकाशी एवं चमोली में साक्षरता—

वर्ष	जनपद					
	उत्तरकाशी			चमोलो		
	पुरुष	स्त्री	कुल	पुरुष	स्त्री	कुल
१९६१	१७९५५	१०४२	१८९९७	४९७६६	५४१०	५५१७६
(%)	२७.७१	१ ७३	१५.४६	४१ ४	४ •७	२१.९०
१९७१	२८८१७	३७६०	३२५७७	६९४४६	१४४३७	८३८८४
(%)	३९.२	५.३७	२२.०४	४८.९	९.५	२८.६७
१९८१	४७०३०	८१९५	५५२२५	१०२३:३	३४१०५	१२६४८२
(%)	४६.३२	९.१७	२८.९२	५७.४०	१९३४	३७.४६

स्रोत—सांख्यकी पत्रिका, उत्तरकाशी एवं चमोली, १९८५

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि उत्तरकाशी की साक्षरता चमोली जनपद से कम है। यद्यपि इन २० वर्षों में इन जनपदों ने शिक्षा क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की है, जबकि इनकी प्राकृतिक स्थिति भी साक्षरता वृद्धि में व्यवधान उत्पन्न करती है।

उत्तरकाशी एवं चमोलो जनपदों में स्तरवार मान्यता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं का विवरण तालीका ३ में दिया जा रहा है।

तालिका—३

उत्तरकाशी एवं चमोली जनपदों में स्तरयार मान्यता प्राप्त शिक्षण संस्थायें—

जनपद	वर्ष	जूनियर बेसिक स्कूल	सोनियर बेसिक स्कूल	हाईस्कूल इण्टर कालेज	महाविद्यालय	तकनीकी एवं शिक्षक प्रशिक्षक संस्थान
उत्तरकाशी	१९८२-८३	४१७	८६	२५	२	४
	१९८३-८४	४२८	९१	२९	२	४
	१९८४-८५	४३७	९५	३२	२	५
चमोलो	१९८२-८३	६९३	१२०	७०	३	५
	१९८३-८४	७०६	१३४	७०	३	५
	१९८४-८५	७३१	१४२	७०	३	५

स्रोत—सांख्यिकी पत्रिका, उत्तरकाशी एवं चमोली, १९८५

उक्त दोनों जनपदों में शिक्षण संस्थानो में (उच्च शिक्षा को छोड़कर) पर्याप्त वृद्धि हुई। यदि यहां का धरातल समतल होता तथा आवागमन के साधन पर्याप्त मात्रा में होते तो अतिरिक्त शिक्षण संस्थाओं को स्थापित करने की आवश्यकता ही नहीं होती किन्तु उबड़-खाबड़ धरातल गथा आवागमन की असुविधा के कारण, नदियों पर पर्याप्त पुल न होने के कारण तथा अत्यधिक शीत के कारण इन संस्थानों की संख्या को पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। उच्च शिक्षा हेतु महाविद्यालयों कीं संख्या में वृद्धि आवश्यक है तथा विद्यालयों में इस प्रकार का पाठ्यक्रम लागू किया जाय जो यहां के क्षेत्रीय विकास में सहायक हों तो वास्तव में ये जनपद तीव्र गति से प्रगति कर सकते हैं।

तालिका—४

उत्तरकाशी एवं चमोली जनपदों के शिक्षण संस्थानों में अध्ययनरत विद्यार्थियों का विवरण—

जनपद	वर्ष	जूनियर बेसिक स्कूलों में	सीनियर बेसिक स्कूलों में	हाईस्कूल/ इन्टर कालेज	महाविद्यालयों में	तकनीकी/ शिक्षक प्रशि. संस्थानों में
उत्तरकाशी	१९८२-८३	१३५९१	५७४६	४०५२	४९४	३०१
	१९८३-८४	१४०२२	५२२३	४४१३	५२१	३०२
	१९८४-८५	१४०२६	५७५३	४४२३	४५१	३८२
चमोली	१९८२-८३	२९८६५	१३२६७	९१५६	११५७	३१८
	१९८३-८४	३०९९३	१३२८३	९६०५	११५७	३२७
	१९८४-८५	३२१३८	१४००३	१०३१२	१२१९	३२७

स्रोत—साँख्यकी पत्रिका, उत्तरकाशी एवं चमोली १९८५

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि विभिन्न स्तरों पर पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में विगत २० वर्षों में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। शासन ने इन जनपदों में शिक्षा प्रसार के लिए यहां के विद्यार्थियों को सीमान्त छात्रवृत्ति देने का भी प्राविधान किया है।

तालिका — ५

उत्तरकाशी एवं चमोली जनपदों के शिक्षण संस्थानों में कार्यरत शिक्षकों का विवरण —

जनपद	वर्ष	जूनि० बेसिक स्कूलों में	सीनि० बेसिक स्कूलों में	हाई इण्टर मी. का. में	महाविद्यालयों में
उत्तरकाशी	१९८२·८३	८७०	४३६	४६७	५३
	१९८३-८४	९६१	४३९	४६६	५७
	१९८४-८५	९५२	४१६	३११	४२
चमोली	१९८२-८३	११५६	६०५	१२९८	८५
	१९८३-८४	१४०२	६२०	१०८७	९७
	१९८४-८५	१५६०	६२५	१०९७	११०

स्रोत—सांख्यिकी पत्रिका, उत्तरकाशी एवं चमोली, १९८५

तालिका सं० ५ के अवलोकन से स्पष्ट है कि उत्तरकाशी जनपद में शिक्षकों की संख्या में वृद्धि तो हुई है किन्तु १९८१ में कुछ कमी भी आई है। जबकि चमोली जनपद की शिक्षण संस्थाओं में कार्यरत शिक्षकों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। यद्यपि ये दोनों जनपद प्राकृतिक दृष्टि से विकट हैं। मैदानी व्यक्ति यहां आने में सरलता से सहमत नहीं होते, इसको दृष्टि में रखते हुए शासन ने यहां कार्य करने वाले कर्मचारियों को सीमान्त भत्ता देने का प्राविधान किया है।

यद्यपि उत्तरकाशी एवं चमोली जनपदों की साक्षरता में काफी विषमता रही है किन्तु सामाजिक, आर्थिक व भोगोलिक दृष्टि से इन दोनों जनपदों में भिन्नता नहीं है। कृषि, पशुपालन व नौकरी ही इन दोनों जनपदों की मुख्य जीविका का साधन है।

ऐसे समय में जबकि हमारी सीमाओं पर संकट के बादल छाये हुए हैं, अनेक क्रूर आततायी शक्तियां भारत भूमि को समरांगण बनाने का सतत् व सुनियोजित प्रयास कर रही हैं, सीमा के निवासियों को प्रबुद्ध बनाना देश पहला कर्त्तव्य है। यह प्रसन्नता की बात है कि सरकार इस ओर सचेष्ट है। जिसका प्रतिफल भी कुछ अंश तक प्राप्त हुआ है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

१. मध्य हिमालय में शिक्षा व शोध—सम्पादक : चन्द्रशेखर बडोला
२. उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग ५—डा० शिव प्रसाद डबराल
३. गढ़वाल का इतिहास - पं० हरिकृष्ण रतुड़ी
४. सांख्यिकी पत्रिका—जनपद उत्तरकाशी व चमोली, १९८५
५. जनगणना प्रतिवेदन —१९८५

आयुर्वेद विज्ञान और जीवन मूल्य

ले०— डा० वेदप्रकाश आर्य
शरीर क्रियाविकास, राजकीय आयुर्वेदिक कालेज,
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार, सहारनपुर (उ० प्र०)

जीवन मूल्यों को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम यह जानना चाहिए कि जीवन के उद्देश्य क्या हैं। मनुष्य अपने जीवन में चार प्रकार के उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जो कि धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष हैं। इन चारों उद्देश्यों की पूर्ति हम शरीर के माध्यम से करते हैं। इसलिए इन चारों की पूर्ति में मूल कारण आरोग्यता को बतलाया है।[1]

बिना आयुर्वेद विज्ञान के अयोग्यता को नहीं प्राप्त किया जा सकता है अतः महर्षि चरक ने कहा है कि आयुर्वेद उस आयु का पुण्यतम वेद है इसलिए आयुर्वेद जानने वाले विद्वानों से पूजित है क्योंकि यह मनुष्यों के लिए इस लोक और परलोक में हितकारी है।[2]

आयुर्वेद-विहित कर्मों का अनुष्ठान करने में इस लोक में आयु-आरोग्यादि की प्राप्ति होती है और मनुष्य आयुर्वेद विहित कर्मों के अनुष्ठान करने से स्वस्थ्य रहते हुए धर्मादि का अनुष्ठान कर पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त कर लेता है।

इस संसार में मनुष्यों के अन्दर तीन एषणायें पायी जाती हैं। एषणा किसे कहते हैं ?

"इष्यन्ते आन्विष्यन्ते इति एषणाः इच्छाः'

अर्थात् जिसकी खोज की जाय उसे एषणा कहते हैं। जिन पुरुषों की

(१) धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलगुत्तमम्। रोगस्तस्यापहर्त्तारि श्रेयसो जीवितस्य च॥
चरक सूत्र स्थान अ० १-१५।

(२) तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोराश्रयोर्हितम्॥ चरक सूत्र स्थान अ० १-४३।

मन, बुद्धि, पौरुषशक्ति और पराक्रम ठीक है ऐसे पुरुष इस लोक में और परलोक में अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें तीन प्रकार की इच्छायें होती हैं।

१—प्राण एषणा। २—धन एषणा। ३—परलोक एषणा।[1]

भेलसंहिता में प्रथम प्राण-एषणा द्वितीय धन-एषणा तथा तृतीय धर्म एषणा बतलायी है।[2] उपनिषदों में भी १–वित्तैषणा २–पुत्रैषणा ३–लोकैषणा। ये तीन विभाग किए गये हैं। वित्तैषणा धन एवं आत्मरक्षा सम्बन्धी पुत्रैषणा पुत्र सम्बन्धी तथा लोकैषणा समाज सम्बन्धी या मोक्ष सम्बन्धी इच्छाओं का द्योतक है। आयुर्वेद में वर्णित धन-एषणा में पुत्रैषणा और वित्तैषणा का अन्तर्भाव कर लिया गया है। क्योंकि इन्हें धन ही माना जाता है।

भेलसंहिता में वर्णित धर्मैषणा और उपनिषदों में वर्णित लोकैषणा का आयुर्वेद में परलोकैषणा में अन्तर्भाव कर लिया गया है क्योंकि धर्म के द्वारा ही मनुष्य को परलोक का पुनर्जन्म में अपने अच्छे कर्मों का फल प्राप्त होता है और उसी की प्राप्ति मनुष्य का चरम लक्ष्य होता है। धर्म के विषय में वैशेषिक दर्शन में कहा भी है—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

वैशेषिक १।१।२

आधुनिक वैज्ञानिकों की खोज के अनुसार प्रत्येक जीवधारी प्राणी का जीवन जन्मजात कई उपार्जित व्यवहारों से संचालित होता है। जन्मजात व्यवहार भी दो प्रकार के होते हैं।

(१) सहज क्रियाएं (२) मूल प्रवृत्ति।

इसी प्रकार उपार्जित के भी दो भेद होते हैं।

(१) अभ्यस्त (२) व्यवसायात्मक कार्य।

---

(१) इह खलु पुरुषेणानुपहत व बुद्धि पौरुषपराक्रमेण हितमिहचामुष्मिश्च लोके समनुपश्यता तिस्र एषणा पर्येष्टव्या भवन्ति। तद्यथा - प्राणैषणा धनैषणा, परलोकैषणाति ॥ चरक सू. म. ११-३

(२) प्राणैषणा स्यात्प्रथमा द्वितीया तु धनैषणा।
धर्मैषणा तृतीया तु पुरुषस्य भवत्यधा भेल सहिता सू म. १५

मूल प्रवृत्तियों को पुनः तीन भागों में विभाजित किया गया है। इसको हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं।

मूलप्रवृत्तियां

वित्तैषणा (आत्मरक्षा सम्बन्धी सवेग)	पुत्रैषणा (सन्तान सम्बन्धी संवेग)	लोकैषणा (समाज सम्बन्धी संवेग)
१–भोजन खोजना, भूख।	१–नाम सम्बन्धी।	१–दूसरों की इच्छा। अकेलापन।
२–भागना, भय।	२–बालरक्षा, प्रेम।	२–आत्मप्रकाशन, उत्साह।
३–लड़ना, क्रोध।		३–विनीतभाव, आत्महीनता।
४–उत्सुकता, आश्चर्य।		४–हंसना, प्रसन्नता।
५–रचना सम्बन्धी आनन्द।		
६–संग्रह और संग्रह की भावना।		
७–घृणा।		
८–दया, शरणागत होना।		

इस प्रकार १४ मूलप्रवृत्तियां हुयीं जिनके १४ संवेग होते हैं। इन मूलप्रवृत्तियों के अतिरिक्त तीन और जन्मजात प्रवृत्तियां मनुष्य में होती है। १–अनुकरण २–सहानुभूति ३–सेवा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेदज्ञों ने सभी मूलप्रवृत्तियों तथा जन्म-जात प्रवृत्तियों को एवं दूसरे जन्म में होने वाली प्रवृत्तियों को सूत्ररूप में कर उन्हें केवल तीन भागों में विभक्त किया है।

१– प्राणैषणा—धनैषणा और परलोकेषणा को प्राप्त करने की इच्छा के कारण ही प्राणैषणा की उत्पत्ति मान सकते हैं क्योंकि प्राण का त्याग होने पर सांसारिक वस्तुओं का अभाव ही हो जायेगा। अतः सर्वप्रथम जीवनधारण की इच्छा होती है। अत उस प्राण की रक्षा करने के लिए आयुर्वेद के सिद्धान्त—

"स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरुणां च विकारप्रशमनम्" के अनुसार स्वस्थ मनुष्य को स्वस्थवृत्त के पालन और रोगी मनुष्य को रोगों को शान्त करना चाहिए। इस प्रकार आयुर्वेद के बताये हुए नियमों पर

चलते हुए प्राणों की रक्षा होती है और प्राणों की रक्षा से दीर्घायु प्राप्त होती है। इसी बात की पुष्टि करते हुए भेल संहिता में कहा है कि मनुष्य को सर्वप्रथम प्राणैषणा की इच्छा करनी चाहिए क्योंकि प्राणों के द्वारा ही धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। अत: शरीर की निरन्तर रक्षा करनी चाहिए।[1]

२- धनैषणा—जीवन को चलाने के लिए धन की आवश्यकता होती है अत: उसकी प्राप्ति का साधन ढूंढना पड़ता है। आचार्य भेल ने धनैषणा का वर्णन करते हुए कहा है कि मनुष्य को दूसरी इच्छा के रूप में धन की प्राप्ति करनी चाहिए। उससे बड़ा कोई पापी नहीं है जो जीवन भर निर्धन रहकर मरे अत: धर्म आदि कार्यों को पूर्ण करने के लिए तथा ज्वर आदि रोगों से मुक्ति के लिए धनोपार्जन बुद्धिमान व्यक्ति को करना चाहिए।[2]

महर्षि चरक ने धनोपार्जन के चार साधन बतलाये हैं।
(१) कृषि करना (२) पशु पालन (३) वाणिज्य (व्यापार)
(४) राजोपसेवा (नौकरी)।[3]

इस प्रकार जो निन्दनीय कार्य न हो उनको करते हुए प्रतिष्ठा पूर्वक धनोपार्जन करते हुए जीवन यापन करना चाहिए।

३- परलोकैषणा—दीर्घ आयु और धन प्राप्ति के बाद परलोक के विषय में मनुष्य सोचता है कि हम कुछ धर्म कार्य कर लें जिसके लाभ हमें दूसरे जन्म में मिल सके किन्तु परलोक के विषय में सन्देह है कि मरने के बाद हम पुनर्जन्म लेंगे या नहीं ?

इस विषय में आचार्य चरक ने कहा है कि कुछ ऐसे पुरुष हैं कि जो नास्तिकवाद को मानने वाले हैं. वे प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते

(१) तत्र प्राणैषणां पूर्वं समापयेत मानव: धर्मार्थकामप्राप्तिर्हि सद्भिः प्राणैः प्रपद्यते ॥
धर्मादीनामवाप्तिश्च पुरुषार्थः परः स्मृतः। तस्माच्छरीरं परिरक्षेद्धि शास्त्रतः ॥
भेलसंहिता सू० अ० १२

(२) धनैषणां द्वितीया तु समापद्येत् मानव:। पापीयो नास्त्यतः किञ्चिद्यव्याजी नमृते धनात् ॥ धर्मबावसम्बाध्य तस्माद्वित्तमुपार्जयेत्, ज्वररोगादिका येन निरस्येदापदो बुध: ॥ भेलसंहिता सू० अ० १५

(३) कृषि पशुपाल्यवाणिज्यराजोपसेवादीव। चरक सू० अ० ११-५

हैं और परोक्ष होने के कारण पुनर्जन्म को नहीं मानते। कुछ अन्य लोग जो आस्तिक हैं ये शास्त्रप्रमाण से पुर्नजन्म को मानते हैं। श्रुतियों में भी मतभेद पाया जाना है जैसे कोई माता-पिता को तथा स्वभाव को ही जन्म का कारण मानते हैं। कोई ऐसा मानते हैं[1] कि पर अर्थात् दूसरे से शरीर का निमाण होता है। कोई जन्म का कारण ययदृच्छा (यों ही) को मानते हैं।१ पुनर्जन्म का बिवेचन बहुत विस्तृत है अतः यहां पर संक्षेप में ही उद्धृत किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेद बिज्ञान में जीवन मूल्यों का विवेचन अन्यन्त रोचक ढंग से किया है। जिसको पालन करते हुए शरीर को स्वस्थ्य रखकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त किया जा सकता है।

(१) अन्य तृतीयां परलोकैषणामापद्येत। संशयश्चात्र, कथं ? भविष्याम इतमुता न वेति, कुतः पुनः संशय इति, उच्यते-सन्ति लोके प्रत्यक्षपराः परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिताः, सन्ति न्वागमप्रत्ययादेव पुनर्भवमिच्छन्ति, श्रुति भेदाच्च।

मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्मकारणम्।
स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जन्मः॥ चरक सूत्र अ० ११-६

पुस्तक-समीक्षा

एक नवीनतम अद्वितीय ग्रन्थरत्न

भारतीय दर्शन की समस्यायें

लेखक : डा० जयदेव वेदालंकार

समीक्षक—
डा० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता—दर्शन-विभाग, गु० कां० विश्वविद्यालय

मैं जिस ग्रन्थ रत्न की समीक्षा करने का उपक्रम करने जा रहा हूं, वह वस्तुत: अद्वितीय है और समय की आवश्यकता को देखते हुए आधुनिक परिपेक्ष्य में विशेष महत्त्व रखता है। यह ग्रन्थ है—"भारतीय दर्शन की समस्यायें, एक समालोचनात्मक अध्ययन" जो गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग में रीडर एवं अध्यक्ष पद पर अध्यापनरत डा० जयदेव वेदालंकार द्वारा प्रणीत है। इस ग्रन्थ के लेखन में मनीषी ग्रन्थकार का विशेष मनोयोग रहा है। इसमें लेखक के लगभग १८ वर्ष के अध्यापन काल में स्वत: अनुभूत दार्शनिक समस्याओं का सार और उनका निदान-समाधान समाविष्ट है। अपने गर्भस्थ अन्तेवासियों के कोमल एवं प्रौढ़ दोनों प्रकार के हृदयों में दर्शन जैसी नीरस किन्तु सारगर्भित विषय वस्तु को सन्निवेशित कराने में जिन समस्याओं के साथ दो चार होना पड़ा है, उसका प्रयोगात्मक अनुभव लेखक की अपनी व्यक्तिगत पूंजी है। उस पूंजी का तल पर्यन्त व्यय इस ग्रन्थ रत्न के निर्माण में हो चुका है।

यह बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि यह पुस्तक केवल एक इतिहास मात्र नहीं है। भारतीय-दर्शन के वर्णनात्मक इतिहास पर अनेक पुस्तकें इससे पहले लिखी गई हैं और सम्प्रति लिखी जा रही हैं, किन्तु वे पुस्तकें इस प्रस्तुत ग्रन्थ की स्थानापन्न नहीं हो सकतीं। इस ग्रन्थ में बताया गया है कि भारतीय दर्शन जिन विषयों पर विचार करता है। उन विषयों पर विचार करने की आवश्यकता क्यों पड़ रही है वह कौन सी मूलभूत अनिवार्यता थी जिससे

प्रेरित होकर भारतीय मनीषियों ने अपनी बुद्धि के कपाट खोले और अपने द्वारा आविष्कृत सिद्धान्तों का लोकहितार्थ प्रवचन किया। उदाहरण के लिए ज्ञान मीमांसा की समस्या को ही लीजिए। साधारण स्तर पर ज्ञान मीमांसा के अन्तर्गत ज्ञान के साधनभूत प्रमाणों की संख्या, उनकी उपयोगिता तथा उनके स्वरूप पर विचार किया जाता है। किन्तु यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है कि क्या ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है और फिर ज्ञान के साधनभूत उन प्रमाणों से ज्ञान की प्राप्ति सम्भव भी है या नहीं ? यह एक समस्या है जिसका उत्थापन कर ग्रन्थकारनेसविस्तारअनेक दृष्टिकोणों से इसपर विचारकिया है।

यह ग्रन्थ दर्शन के जिज्ञासुओं और अनुसन्धित्सुओं के लिये दिशा निर्देशक का काम करेगा। पाठकों के लाभार्थ इस ग्रन्थ की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करना मैं समीचीन समझता हूं।

१. भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों का समन्वय—

यद्यपि चिन्तन की दिशा में भारतीय मनीषियों की पैठ विश्व के देशान्तरीय चिन्तकों की तुलना में अधिक गहन है किन्तु साम्प्रतिक प्रचलन इस प्रकार का बन गया है कि जब तक किसी भी विषय के निरूपण में पाश्चात्य गवेषकों का मत उद्धृत न किया जाये तब तक चिन्तन पूर्ण नहीं माना जाता। वस्तुतः यह एक तथ्य भी है कि प्रकाश की किरणें सभी झरोखों से यदि घर में प्रवेश करें तो प्रकाश बढ़ता है। ज्ञान की भी ऐसी ही स्थिति है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर डा० जयदेव वेदालंकार ने अपने इस ग्रन्थ में भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से दार्शनिक समस्याओं को समझा है और सुलझाया है। उदाहरण के लिये भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। इस चिन्तन के प्रसंग में प्लेटो का मत उद्धृत करते हुए लेखक कहता है कि "इन्द्रिय जन्य ज्ञान में बुद्धि की भी आवश्यकता है। इन्द्रियां तो केवल संवेदना ही प्राप्त कराती हैं। संवेदना और प्रत्यक्ष में अन्तर है।" (पृष्ठ २) प्लेटो के मत को इस प्रकार उपसंहृत किया गया है—'इस प्रकार प्लेटो के अनुसार ज्ञान का साधन बुद्धि है, ज्ञान का साधन इन्द्रियां नहीं ....। वस्तु विशेष का ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु सामान्य का ज्ञान हमें बुद्धि द्वारा ही प्राप्त हो सकता है इसलिए बुद्धि ही ज्ञान का यथार्थ साधन है।" (पृष्ठ ४) यह एक उद्धरण मात्र है जो ग्रन्थ की

बहुविध सिद्धान्त गर्भिता को सिद्ध करता है। समस्त ग्रन्थ इसी समन्वित शैली में उपनिबद्ध है।

२. समीक्षात्मक विचारणा--

किसी समस्या को उत्थापित कर उस पर विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत कर देना एक बात है और उस पर अपनी विश्लेषण गर्भित समीक्षा प्रस्तुत करना दूसरी बात है। प्रस्तुत ग्रन्थ में दोनों ही बातों को समान स्थान दिया गया है।

३. स्वतन्त्र दृष्टिकोण-यथार्थवाद –

दर्शनशास्त्र के निरन्तर पर्यालोचन और अनुशीलन से निर्मित स्वकीय मनीषा के आधार पर लेखक जिस स्वतन्त्र दृष्टिकोण पर पहुंचा है उस दृष्टि-कोण को यथार्थवाद अथवा वास्तव वाद की संज्ञा दी जा सकती है। प्रस्तुत शोधपूर्ण ग्रन्थ में लेखक ने उस वास्तववाद को प्रत्येक समस्या के विवेचन काल में इस प्रकार गुम्फित कर दिया है कि सहसा उस पर ध्यान नहीं जाता, किन्तु थोड़ा सा ही अवधान पूर्वक परिवीक्षण करने पर पाठक उस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है। यह इस ग्रन्थ की महती विशेषता है।

४. समस्या ही नहीं समाधान भी--

लेखक ने भारतीय दर्शन में विचारणीय समस्याओं का यथार्थ आकलन करके उनका समाधान भी भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही खोजा है। लेखक ने सिद्ध किया है कि मानव जीवन को चिन्तन समस्याओं को भारतीय ऋषियों ने अत्यन्त निकटता से देख लिया था अतः भारतीय दर्शन में कोई भी समस्या समाधान से अस्पृष्ट नहीं रह गयी है।

५. दुरूहता का सर्वथा अभाव--

यह ग्रन्थ उन बालमति पाठकों के लिये भी महान् उपकारी है जो भारतीय दर्शन को सरल शैली में उसके यथार्थ परिप्रेक्ष्य में देखना चाहते हैं तथा उन प्रौढ़ प्रतिभावान् अनुसन्धित्सुओं के लिये भी कल्याण साधक है जो भारतीय दर्शन की चिरन्तन मान्यताओं को तर्क की कसौटी पर कसकर स्वीकार करना चाहते हैं।

६. दयानन्द मत का तर्क सहित प्रतिपादन--

महर्षि दयानन्द की शाश्वत मान्यताओं को सतर्क प्रतिपादित कर उन्हें दार्शनिक रूप देने का श्रेय डा० जयदेव वेदालंकार को ही अधिकृत रूप में जाता है। इसके लिये उनका पृथक् ग्रन्थ "दयानन्द की विश्वदर्शन को देन" अनुशोलनीय है। प्रस्तुत ग्रन्थ "भारतीय दर्शन की समस्याएँ, एक समालोचनात्मक अध्ययन" में भी महर्षि दयानन्द की वे ही शाश्वत मान्यताएँ स्वकीय सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित की गयी है। अतः जो पाठक भारतीय दर्शन के साथ-साथ दयानन्द दर्शन का भी अनुशीलन करना चाहते हैं उन्हें यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिये।

७. नास्तिक मतों की आलोचना—

अन्य पुस्तकों में प्रायः नास्तिक मतों का केवल अविकल रूप में उपस्थापन मात्र किया जाता है। उनकी आलोचना नहीं की जाती। इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने इस अभाव को दूर कर दिया है। लेखक ने सिद्ध किया है कि नास्तिक दर्शनों में समस्या पर विचार तो किया गया है किन्तु वे अनेक दोष दूषित होने के कारण सम्यक् समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके। अतः ग्राह्य नहीं हैं।

८. परीक्षोपयोगिता—

इस ग्रन्थ की यह भी एक महती विशेषता है कि इसमें परीक्षोपयोगी विपुल सामग्री है। जैसे ख्यातिवादों का संग्रह, एकेश्वर वाद तथा बहुदेववाद, शंकर और रामानुज की तुलना, उपनिषदों का सिद्धान्त सार प्रमाण्यवाद तथा मोक्ष विषयक अनेक मत आदि कुछ ऐसे विषय हैं जिनका परीक्षा की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। अतः छात्रों के लिये यह ग्रन्थ महान् उपकारक है।

इस ग्रन्थ में बारह अध्याय हैं तथा बारह समस्याएँ विवेचित हैं—ज्ञान मीमांसा, तत्त्व मीमांसा, ब्रह्ममीमांसा, आत्मा, सृष्टि, ख्यातिवाद, विज्ञानवाद एवं शून्यवाद, अन्तःकरण, आचार मोमांसा, कर्ममीमांसा प्रामाण्यवाद तथा मोक्ष।

पुस्तक सुन्दर और सजिल्द है जिसमें चार सौ पृष्ठ हैं। तद्विषयक विवरण इस प्रकार है—

पुस्तक का नाम -- भारतीय दर्शन की समस्याएँ
एक समोचनात्मक अध्ययन

लेखक -- डॉ० जयदेव वेदालंकार, रीडर एवं अध्यक्ष, दर्शन-विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

प्राप्ति स्थान -- २६-वड़ा परिवार गुरुकुल कांगड़ी
जिला : सहारनपुर, (उत्तर-प्रदेश) २४६४०४

मूल्य -- १२५) रु० मात्र

समस्त अध्येताओं को मेरा सुझाव है कि यह पुस्तक आपके पास सदैव रहनी चाहिये। यह अनूठा ग्रन्थ सबके लिये अनुशीलनीय है तथा समस्त पुस्तकालयों में संग्रहणीय है। ऐसे ग्रन्थरत्न का निर्माण करने के लिये मैं लेखक को धन्यवाद देता हूँ—

दर्शन शास्त्र समस्यकाः प्रवितताः क्षेमाय लोकस्य वै,
प्रोद्धर्तुं व्यदधात्समृद्धमतुलं ग्रन्थं समस्यात्मकम् ।
रागद्वेषविवर्जितो धृतियुतो यस्य स्वभावः सदा,
श्री जयदेव बुधो बुधै रनुगतो लोके विजयतेतराम् ॥

गुरुकुल-समाचार

सितम्बर और अक्टूबर मास में विश्वविद्यालय परिसर में विशेष उल्लास रहा।

गुरुकुल विभाग में कृष्ण जन्माष्टमी और संस्कृत दिवस बड़ी धूम-धाम से मनाये गये। विद्वानों ने अपने विद्वता पूर्ण भाषणों में कहा कि मानव आज के भौतिक वादी वातावरण में इतना डूबता रहा कि वह ऐसे साधनों का निर्माण कर रहा है कि स्वयं विनाश के कगार पर जा खड़ा हो। इस सब का उपचार हम संस्कृत साहित्य में ही प्राप्त कर सकते हैं। वैदिक वाङ्मय में वास्तव धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समन्वयात्मक व्याख्यान प्राप्त होता है।

संस्कृत विभाग में संस्कृत दिवस के अवसर पर निर्धननिकेतन–अध्यक्ष ब्रह्मचारी ऋषि की अध्यक्षता में एक विद्वत गोष्ठी का आयोजन किया गया। इसमें संस्कृत विभाग विद्वानों तथा छात्र और पंचपुरी के अन्य गणमान्य विद्वानों ने भाग लिया। वक्ताओं ने यह बतलाया कि संस्कृत भाषा एक वैज्ञानिक भाषा है। वह हमारे जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालती है। संस्कृत भाषा के पास जो वैज्ञानिक व्याकरण है वह किसी भी भाषा के पास नहीं है। धर्म के सिद्धान्तों का जो सूक्ष्म एवं गहन विवेचन इस भाषा के साहित्य में उपलब्ध होता है वह कहीं पर प्राप्त नहीं होता है।

प्राचीन विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त इस भाषा में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। ज्योतिष और गणित के सूक्ष्मतम और वैज्ञानिक सिद्धान्त इस के साहित्य में सहज उपलब्ध हैं। कुछ विद्वानों ने कहा कि भारत के पास जो साहित्य है उसका उपयोग एवं प्रचार अच्छे रूप में नहीं हो रहा है। सरकार को भी इस ओर ध्यान देना चाहिये।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए श्री डा० ऋषि ने कहा कि संस्कृत भाषा की आज इस देश में सबसे अधिक उपेक्षा की जाती है। राम और कृष्ण की भूमि पर नास्तिकों का बोलबाला है। भारतीय संस्कृति का प्रचार और प्रसार ऐसे लोगों के हाथ में है जो भारतीयता और उस की संस्कृति से घृणा करते हैं। हम संस्कृतज्ञों का कर्तव्य है कि अपना तपः पूर्ण कार्य करते हुए संस्कृत भाषा के प्रचार एवं प्रसार में कोई भी कसर न छोड़ें।

विश्वविद्यालय के अनेक विभागों में नव-नियुक्तियां भी सम्पन्न हुई। अपने-अपने विभागों में नये प्राध्यापकों ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

गुरुकुल-पत्रिका

सम्पादक

डा० जयदेव वेदालङ्कार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य मासिकी-पत्रिका

सम्पादक-मण्डल

प्रकाशक :
डा० वीरेन्द्र अरोड़ा
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक :
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी मुद्रणालय, हरिद्वार।

मूल्य :
२५.०० रुपये वार्षिक

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालस्य मासिकी-पत्रिका]

सम्पादक

डॉ० जयदेव वेदालंकार

न्यायाचार्य, पी-एच०डी०, डी० लिट्०

रीडर-अध्यक्ष, दर्शन-विभाग

प्रकाशक

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मार्गशीर्ष : २०४३ नवम्बर : १९८६	वर्ष : ३७	अङ्क : १२ पूर्णाङ्क : ३८३

[मूल्य : ५.०० रुपये

❀ विषय-सूची ❀

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालस्य मासिकी-पत्रिका]

मार्गशीर्ष : २०४३
नवम्बर : १९८६

वर्ष : ३७

अङ्क : १२
पूर्णाङ्क : ३८०

श्रुति सुधा

उदक्रमीद द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकं सुकृतं पृथिव्याम् ।
ततः खनेमः सुप्रतिकमग्निँ स्वोरुहाणाऽअधिनाकमुत्तमम् ।।

(यजु. अ.११, मं. २२)

पदार्थ—हे भूगर्भ विद्या के जानने हारे विद्वान् ! (द्रविणोदाः) धनदाता आप जैसे (वाजी) बल वाला (अर्वा) घोड़ा ऊपर उछलता है वैसे (पृथिव्याम्) पृथ्वी के बीच अधि (उदक्रमीत्) सबसे उन्नति को प्राप्त हूजिये (सुकृतम्) धर्माचरण से प्राप्त होने योग्य (सुलोकम्) अच्छा देखने योग्य (उत्तमम्) अति श्रेष्ठ (नाकम्) सब दुःखों से रहित सुख को (अकः) सिद्ध कीजिये (ततः) उसके पश्चात् (स्वः) सुखपूर्वक (रुहाणाः) प्रकट होते हुये हम लोग भी इस पृथ्वी पर (सुप्रतिकम्) सुन्दर प्रीति का विषय (अग्निम्) व्यापक बिजली रूप अग्नि (खनेमः) खोज करें ।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमालंकार है । हे मनुष्यों ! जैसे पृथ्वी पर घोड़े अच्छी २ चाल चलते हैं वैसे हम-तुम भी सब मिलकर पुरुषार्थी हों । पृथ्वी आदि की विद्या को प्राप्त हों और दुःखों को दूर करके उत्तम सुख को प्राप्त हों ।

(महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य से)

सम्पादकीय—

दयानन्द दर्शन में—आत्मा का स्वरूप

दयानन्द शरीर से भिन्न आत्मा को शाश्वत नित्य के रूप में स्वीकार करते हैं न तो वे भौतिक वादियों की तरह आत्मतत्व को जड़तत्व से निर्मित मानते हैं और न ही जीवात्मा को मायोपहित चैतन्य रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। जीवात्मा के स्वरूप का उल्लेख उन्होंने उपनिषद् के मन्त्र तथा वेद के मन्त्र और अन्य दर्शनों के अनुसार ही किया है। श्वेताश्वतेर उपनिषद् का प्रमाण देते हुए बतलाते हैं कि तीन अज अर्थात् नित्य हैं।[1] उनका जन्म कभी भी नहीं होता है। उनमें अजा प्रकृति है यह अजा जीवात्मा उस त्रिगुणात्मिका प्रकृति जिससे समस्त दृश्य जगत् निर्मित होता, उससे निर्मित पदार्थों का उपयोग नहीं करता है। वह परमात्मा है। इस प्रकार ये तीनों प्रकृति जीवात्मा और परमात्मा तीनों अज कहे गये हैं और तीनों बात के कारण हैं।[2] अर्थात् जीवात्मा का कोई कारण नहीं अपितु जीवात्मा जगत् के कारणों में से एक है।

वह आत्मा भौतिक तत्वों से निर्मित नहीं है अपितु अनादि है इस तथ्य की उद्घोषणा उपनिषदें स्पष्ट रूप से करती हैं। कठोपनिषद् स्पष्ट मान्यता प्रदान करती है कि आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है और न ही किसी वस्तु का परिवर्तित रूप है। तथा उससे परिणाम होकर कोई अन्य वस्तु भी नहीं बन सकती है। यह अजन्मा और नित्य है। सदा रहने वाला और पुराना है। शरीर के नाश पर उसका नाश नहीं होता है।[3]

छन्दोग्य उपथिषद् भी यही स्वीकार करती है कि जीब का विनाश कभी नहीं होता है अपितु जीव शरीर से निकल जाता है। शरीर मरता है जीवात्मा नहीं।[4] बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी सम्वाद में जीवात्मा को नित्य और अविनाशी बतलाया है।[5] गीता में भी आत्मा को नित्य और शाश्वत माना गया है। गीता में भी जीवात्मा का विषद् और रोचक वर्णन किया गया है। यह आत्मा नित्य है। इसे शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला

नहीं सकता है । जल गला नहीं सकता और वायु शुष्क नहीं कर सकता है । जैसे मनुष्य नये घर में प्रवेश करता है वैसे ही जीवात्मा भी नवीन शरीरों को प्राप्त करता है और पुराने शरीरों को छोड़ देता है । इस प्रकार आत्मा अनादि और नित्य है ।[5] वेदों में उपनिषदों की तरह आत्मा सम्बन्धी अनेक मन्त्र प्राप्त होते हैं । अथर्ववेद में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि हे ईश्वर मैं आपकी कृपा से अगले जन्म में मन सहित ११ इन्द्रियां, प्राणों को धारण करने, सामसूर्य युक्त, आत्मा धन एवं वेद का ज्ञान प्राप्त होऊं ।[6] ऋषि दयानन्द आत्मा को नित्य और उसका पुनर्जन्म स्वीकार करते हुए वेदभाष्य में कहते हैं कि हे सुखदायक परमेश्वर आप कृपा करके पुर्नजन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्रादि समस्त इन्द्रियों का स्थापन कीजिये प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिए ।[7] यजुर्वेद कहता है कि हे परमेश्वर जब जब हम जन्म लेवें तब तक हमको शुद्ध, मन, पूर्ण, आयु, आरोग्यता, प्राण कुशलता युक्त जीवात्मा उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों । उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वेद और उपनिषदें जीवात्मा को नित्य एवं शाश्वत् और पुर्नजन्म लेने वाला मानती है । निरुक्त में भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि "मृत्यु को प्राप्त होकर हम पुन: जन्म लेते हैं और जन्म लेकर पुन: मृत्यु को प्राप्त होते हैं । इसप्रकार यह जीवात्मा नाना प्रकार की योनियों में मृत्यु और जन्म को प्राप्त होता हुआ बहुविध प्रकार की माताओं का स्तन पान करता है । यह जीवात्मा अपने आप का उक्तप्रकार का मानकर प्रभु भक्ति की अभिलाषा व्यक्त कर रहा है[8] ।

उक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि उपनिषद् काल में जीवात्मा को अनादि माना जाता था । उपनिषदों में यह विवेचन की जीवात्मा अनादि है, इस विषय को लेकर बहुत विवाद उपलब्ध नहीं होता है इसके कुछ कारण यही प्रतीत होते हैं कि उस काल में जीवात्मा के सम्बन्ध में संभवत भौतिक विचारधारा और अनात्मवाद का विचार बहुत न्यून होगा। क्योंकि उपनिषदों ब्रह्म का प्रतिपादन उसका साक्षात्कार कैसे किया जाय आदि विषयों पर विवेचन अधिक प्रस्तुत करती हैं । इन बातों से यही अधिक समीचीन लगता है कि उपनिषदों का आत्मतत्व सम्बन्धी स्पष्ट विचार था । ऋषि दयानन्द भी उपनिषदों के प्रमाणों से यह सिद्ध करते हैं कि इसका प्रादुर्भाव न तो भौतिक तत्वों से हुआ है और न ही ब्रह्म से इसकी इसकी उत्पत्ति हुई है[9] । अत: जिस प्रकार जीव उत्पत्ति कोई नहीं है जिस पदार्थ का कभी निर्माण

नहीं होता वह दयानन्द जीव को नित्य और अमर मानते हैं। इस शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को धारण करता है। जैसा कि हम उक्त प्रमाणों से देख आये हैं।

---

१. न जायते इति अजः जीवश्च परमेश्वरश्चः। न जायते इति अजा प्रकृतिः।

२. अजामेकां लोहितशुक्ल कृष्णं–अजोह्यके–भुक्तभोग्याअजोअन्य–श्वेता.४-५॥

३. न जायते म्रियते वा विपश्चित् - नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं न हन्यसे हन्यमाने शरीरे॥ कठो० २।१८॥

४. जीवपेतं वां किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते - छान्दोग्य-६।११॥

५ न वा अरे अहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्ति धर्मा- बृ. ४।४।१४॥

६. गीता–११।३२॥
गीता-१५।५८,४९ – २।२३॥

७. पुर्नपैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मण ब–अथर्व कां.-मू.७६॥

८. असुनोते पुनरस्मासु चक्षुः पुन प्राणमिह नो धेहिभोगम्–ऋग्वेद-८, ११२३।
१ इस मन्त्र पर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में द्रष्टव्य २१८,२१९॥

९. (क) मृतश्चाहं पुर्नजातः . . ॥
(ख) अवाङ्मुखपोड्यमानो . . . .निरुक्त - अ० १४।६॥

१०. ईश्वर नाम ब्रह्म का और ब्रह्म से भिन्न अनादि अनुत्पन्न और अमृत जीव का नाम है। सत्यार्थप्रकाश समु० ७ - पृष्ठ १९७ पर॥

आत्म दर्शनम्

सन्तोष योगी
एम.ए. प्रथम वर्ष, दर्शन-विभाग गु० कां० वि० हरिद्वार

ध्यानं कस्यापि न ध्यानं न ध्यानं नेत्रमीलनम् ।
ध्यानं त्वकल्पकं भाव चित्तस्यात्र प्रकीर्तितम् ॥

किसी का ध्यान. ध्यान नहीं है और न नेत्र बन्द कर लेने का नाम ही ध्यान है, अपितु चित्त का जो निर्विकल्पक भाव है उसे ही ध्यान कहा गया है।

यत्र योगे मनो नास्ति अस्ति चेन्निर्विकल्पकम् ।
योगः स एव योगः स्यादन्यथा भोग एव सः ॥

जिस योग में मन नहीं है, और यदि है तो फिर निर्विकल्पक रूप में है। ऐसा योग ही वस्तुतः योग है, अन्यथा वह योग नहीं, भोग ही है।

निराकारतया चित्तं समाधिः सोऽत्रकीर्तितः ।
ज्ञानमात्रस्य यो बोधस्तद्भवेदात्मदर्शनम् ॥

निराकार रूप में जो चित्त है वही समाधि कहलाता है और जो ज्ञानमात्र का बोध है. वह आत्म-साक्षात्कार है।

स्वानुभूतिर्यदा जाता स्वान्तर्निर्मल चेतसि ।
तमः सूर्योदयेनेव पापं नश्यति तत्तदा ॥

स्वयं के निर्मल अन्तःकरण में जब आत्मानुभूति हो जाती है तो उस समय पाप ठीक वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे कि सूर्योदय होने पर अन्धकार।

आर्यं यस्येह कर्तव्यं निश्चयोऽप्यार्य एव हि।
ज्ञानमपि भवेदार्यं स एवार्यो बुधैरितः ॥

जिसका कर्त्तव्य आर्य (श्रेष्ठ) है और निश्चय भी आर्य ही है, तथा जिसका ज्ञान भी आर्य है, उसे ही बुद्धिमान् व्यक्तियों ने लोक में आर्य कहा है।

ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणो ज्ञेयो रक्षकः क्षत्रियस्तथा।
व्यापारी कृषको वैश्यः शूद्रो यः सर्वसेवकः ॥

ब्रह्मज्ञ को ब्राह्मण जानना चाहिए और रक्षक को क्षत्रिय। व्यापारी और कृषक को वैश्य तथा जो सबकी सेवा करे उसे शूद्र समझना चाहिए।

मन्त्रद्रष्टा ऋषिः प्रोक्तः मन्ता च मुनिरुच्यते।
तद्दाता हि गुरुर्ज्ञेयः ग्रहिता शिष्य उच्यते ॥

मन्त्र दष्टा को ऋषि कहते हैं और मननकर्ता को मुनि कहा जाता है। और मन्त्र का दान करे उसे गुरु एवं जो मन्त्र ग्रहण करे उसे शिष्य कहा जाता है।

शुद्धान्तः करणो यो हि श्रद्धाभक्तिसमन्वितः।
सत्यान्वेषी सुबुद्धिश्च सोऽधिकार्यात्मबुद्धये ॥

जो शुद्ध अन्तःकरण वाला है, श्रद्धा और भक्ति से युक्त है, सत्यान्वेषी है और अच्छी बुद्धि वाला है, वही आत्मविद्या का अधिकारी है।

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द

ले०-प्रोफेसर रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं उप-कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

"हिम्मत हो तो चला दो गोलियां, सन्यासी का सीना खुला है"। यह सिंह गर्जना है उस वीर संन्यासी को जो आज भी प्रत्येक भारतीय के शरीर में बिजली सी प्रवाहित कर देती है, ये शब्द स्वामी श्रद्धानन्द जी ने ३० मार्च, १९१९ को चांदनी चौक में एक विशाल जलूस का नेतृत्व करते हुए उस समय कहे थे जब गोरखा सिपाहियों ने आगे बढ़ते हुए जनसमूह को देखकर हवाई फायर किये थे।

प्रत्येक राष्ट्र में कभी-कभी ऐसे महापुरुष जन्म लेते हैं वो अपने तप, त्याग एवं बलिदान से नये इतिहास का निर्माण किया करते हैं। लोग पद-चिन्हों पर चलकर अपना जीवन सार्थक करते हैं। ऐसे दिव्य पुरुष ही वे पारसमणि हैं, जिनके स्पर्शमात्र से लोहे के समान साधारण मनुष्य भी प्रदीप्त सुवर्ण को भांति जगमगा उठते हैं। युगप्रवर्तक, वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द ऐसे ही पारसमणि थे, जिनका थोड़ा सा सम्पर्क पाकर पापपंक में डूबे हुए अनेक जीवन सुमन कमल बनकर भारतीयान में महक उठे, जिनकी सुगम से आज भी हमारा यह समाज सुरक्षित है।

मदिरा को प्याली डूबा रहने वाला, नास्तिक, जुम्वाय, हुका पोने वाला मुन्शीराम, महर्षि के उपदेशामृत से ऐसा सुवर्णमय मसीहा बन गया था, जिसकी आशा मे सारा संसार आलोकित हो उठा और उसको सुवास से दसों दिशायें सुवासित हो उठी थो।

स्वयं को देव दयानन्द का अनुयायी बनाकर उस मनीषो ने सम्पूर्ण जीवन अविद्या अन्धकार को दूर करने में और मान्यता को ज्योतिर्मय पथपर चलाने में समर्पित कर दिया।

वेदों का स्वाध्याय करते हुए महात्मा मुन्शीराम ने पढ़ा था— "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां, धिया विप्रोऽजायत"। बस इस एक मन्त्र ने तपस्वी के हृदय में दृढ़ संकल्प को जन्म दिया— "गुरुकुल की स्थापना का दृढ़ निश्चय"। अगस्त १८६८ के प्रचारक में यह भीष्म-प्रतिज्ञा प्रकाशित होकर जनता के सम्मुख आ गई— "जब तक गुरुकुल के लिये तीस सहस्र रुपये इकट्ठे न कर लूंगा तब तक घर में पैर नहीं रक्खूंगा"। घर सब काम-काज त्यागकर फलती-फूलती वकालत को लात मारकर, संसार की मोह माया को छोड़कर गुरुकुल का दीवाना मुन्शीराम भिक्षा को झोली हाथ में लेकर निकल पड़ा और घर में तब पैर रखे जब चालीस हजार रुपये एकत्रित हो गये। उस समय चालोस हजार इकट्ठा करना साधारण बात नहीं थी। समाज ने श्रद्धासिक्त हृदय से उन्हें महात्मा की उपाधि से विभूषित कर दिया और पर्वतराज हिमालय की उपत्यकायें, कल-कल निनाद करती हुई भगवती गंगा के पवित्र तट पर नैसर्गिक सुषमा से मण्डित प्रकृति को सुरम्य गोद में, निर्जन वन में कांगड़ी गांव में गुरुकुल की स्थापना का स्वप्न साकार हो गया। धीरे-२ इस गुरुकुल रूपी वृक्ष ने वटवृक्ष का रूप धारण कर लिया जिसकी शाखायें चारों ओर फैलने लगीं। गुरुकुल की यशोसुरभि ने सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। इंग्लैण्ड की पार्लियामेन्ट में भी इसकी चर्चा होने लगी। उस समय की बड़ी-बड़ी हस्तियां गुरुकुल को देखने आतीं और यहाँ के ब्रह्मचारियों को और उनके महान् आचार्य को देखकर नतमस्तक हो जातीं। मोहनदास करमचन्द गाँधी को "महात्मा" की उपाधि से विभूषित करने वाली यह गुरुकुल की पुण्यभूमि ही थी। उस समय के गुरुकुल के विश्वव्यापी प्रभाव का मूल्यांकन अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और वकील मि० मायरन् एच० फैल्प्स के इन शब्दों से किया जा सकता है। वे कहा करते थे— "यदि मेरा कोई लड़का होता तो मैं उसे गुरुकुल में भर्ती करता अथवा मैं ही यदि आठ वर्ष की आयु प्राप्त कर सकता तो गुरुकुल में भर्ती हो जाता।

स्वामी श्रद्धानन्द ने अपना तन, मन, धन सब कुछ मानवता की सेवा में अर्पित कर दिया। चाहे राष्ट्र भाषा हिन्दी के उत्थान का प्रश्न हो, अथवा देश को स्वतन्त्र या अपने उन लाखों भाईयों का गले लगाने का जो किन्हीं कारणों से विधर्मी बन गये थे। वे हर मोर्चे पर सबसे आगे रहे। स्वामी जी ने शुद्धि का ऐसा प्रखर आन्दोलन चलाया कि स्वार्थी लोगों के हृदय कांप

उठे। वे उनके प्राणों के दुश्मन बन बैठे। धर्मान्ध मुसलमानों ने उनके विरोध में एक तूफान सा खड़ा कर दिया। स्वामी जी के मित्रों एवं शुभचिन्तकों ने उनसे कहा कि शुद्धि के कारण सब आपसे दूर होते जा रहे हैं और कुछ तो आपके प्राणों के ग्राहक बन गये हैं। यह सुनकर स्वामी जी ने सिंह गर्जना करते हुए जो शब्द कहे थे वे स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य हैं। उन्होंने कहा था – "क्या हुआ जो गांधी जी रूष्ट हैं ? क्या हुआ जो सब साथ छोड़ गये हैं ? क्या हुआ जो धमकी भरे पत्र आते ? जब वह प्रभु मेरे साथ है, उस परम पवित्र वेद ज्ञान मेरे साथ है, सत्य मेरे साथ है, तब चाहे सारा संसार मेरा विरोधी हो जाये तब भी मुझे कोई चिन्ता नहीं, मैं सत्य सनातन वैदिक धर्म के प्रचार से पीछे नहीं हटूंगा।

सौभाग्यशाली हैं वे जिन्होंने ऐसे महान् आचार्य के चरणों में बैठकर वेदादि सच्छास्त्रों का अध्ययन किया है अथवा जिन्होंने उनके मुखारविन्द से बहने वाली अमृत धारा का पान किया है। ईश्वर और वेद उनके रोम-रोम में समाया हुआ था। महर्षि दयानन्द को अपना गुरु मानते थे। ऋषिचरणों में अपनी अगाध श्रद्धा को अभिव्यक्त करते हुये १९२५ ई० में मथुरा जन्म शताब्दी के अवसर पर जो भावपूर्ण श्रद्धाजंलि स्वामी जी ने अर्पित की थी उसका एक-एक शब्द हृदय वीणा के तारों को छूने वाला है—

ऋषिवर ! तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष हो गये हैं परन्तु तुम्हारी दिव्यमूर्ति मेरे हृदय पटल पर अब तक ज्यों की त्यों अंकित है। मेरे निर्मल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते–२ तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी रक्षा की है ? तुमने कितनी गिरती हुई आत्माओं की काया पलट दी है ? इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है ? बिना परमात्मा के जिनकी पवित्र गोद में तुम इस समय विचरण कर रहे हो कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली अग्नि ने संसार में प्रचलित कितने पापों को दग्ध कर दिया है परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूँ कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन लाभ करने योग्य बनाया ? मैं क्या था, क्या बन गया और अब क्या हूँ, यह सब तुम्हारी कृपा का ही परिणाम है। भगवन् ! मैं तुम्हारा ऋणी हूं, उस ऋण से मुक्त होना चाहता हूँ। इसीलिए जिस परमपिता की असीम गोद में तुम परमानन्द अनुभव कर रहे हो, उसी से प्रार्थना करता हूं कि मुझे तुम्हारा

सच्चा शिष्य बनने की शक्ति प्रदान कर।

स्वामी जी के हृदय में दिन-रात देशप्रेम की, विश्वबन्धुत्व की एवं मानव कल्याण की ज्वाला जलती रहती थी। उनका जीवन एक खुली हुई किताब थी, जिसका हर पृष्ठ पढ़ा जा सकता था। विश्व के इतिहास में वे एक ऐसे अद्भुत महामानव थे। जिन्होंने अपनी आत्मकथा में जीवन के विभत्स एवं गर्हित पक्ष को भी बिना किसी हिचकिचाहट के लिख डाला। एक आर्य नेता होते हुए भी देहली की प्रसिद्ध जामा मस्जिद में हजारों उपस्थित मुसलमानों को सम्बोधित करने का गौरव भी उन्हें प्राप्त हुआ था। उनका जीवन उन कोटि-कोटि नर-नारियों के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ है जो ऊपर उठने का साहस नहीं कर पाते। उनका जीवन एक अनुपम उदाहरण है इस सत्य का कि एक तिनका धरती से उठकर आकाश में चन्द्रमा की भांति जगमगा सकता है।

आइये! उस अमर हुतात्मा की पुण्य-तिथि पर शत-शत नमन करते हुए हम उनके बताये हुए मार्ग पर चलने का संकल्प लें।

छात्र-संघ : समस्या और समाधान

—श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक,

अध्यक्ष—वैदिक संस्थान नजीबाबाद (उ० प्र०)

इस देश का एक तो यही दुर्भाग्य है कि शिक्षा के नाम पर जो कुछ बच्चों को पढ़ाया जाता है, उसमें शिक्षा नाम का कोई तत्व नहीं—केवल मात्र साक्षरता होती है और वह भी भ्रष्ट साक्षरता। अक्षरों का शुद्ध उच्चारण भी नहीं आ पाता।

प्रथम श्रेणी में एम० ए० कर लेने वाले और एक बिना पढ़े लिखे में केवल इतना अन्तर होता है कि यह लिख-पढ़ लेता है और वह लिख-पढ़ नहीं सकता। किन्तु यह तथाकथित शिक्षित—जो लिखता और पढ़ता है, उसमें कितना अशुद्ध, यह स्वयं उसे भी पता नहीं होता।

यह ज्ञान तो एम० ए० के छात्रों को पढ़ाने वाले प्राध्यापकों में भी बिरले को ही होता है कि अक्षरों के अशुद्ध प्रयोग से बोलने और लिखने दोनों में ही शब्द का अर्थ बदल जाता है और वास्तविक अर्थों में वह उस अभिप्राय को प्रकट नहीं कर पाता है, जिसके लिए प्रयोग किया होता है। इतने पर भी साथ में छात्रसंघ का रोग लगा दिया गया है। जिससे समूचे भारत की सन्तति ही बिगड़ जाय।

जिस समय यह छूत का रोग चालू किया गया, उस समय के उत्तरदायी शिक्षा-शास्त्रियों और राष्ट्र-नेताओं को हमारा खुला चेलेन्ज है कि वह इसकी उपयोगिता और लाभ सिद्ध करें। यदि न कर सकें तो उन्हें देश की सन्तति को भ्रान्त और पथ-भ्रष्ट करने के अक्षम्य अपराध को स्वीकार कर स्वयं सरकार से मांग करनी चाहिये कि हम राष्ट्रीय अपराधी हैं, हमें दण्डित किया जाये। इन बच्चों में हम उनकी नैतिकता को झकझोर रहे हैं। हम यह भी जानते हैं कि हमारे इन बच्चों को पढ़कर कुछ लोग तिलमिलायेंगे किन्तु उससे

कुछ अभिप्राय सिद्ध होने वाला नहीं है । यदि तिलमिलाने वालों का पक्ष ठीक है तो वह हमारे चेलेन्ज को स्वीकार करें ।

एक तो इस तथाकथित शिक्षा में है ही कुछ नहीं, फिर साथ में छात्र-संघ का अभिशाप । लोग अपने बच्चों को पढ़ने के लिए विद्यालयों में भेजते हैं, बिगड़ने के लिये नहीं । शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का बौद्धिक, मानसिक, चारित्रिक, और शारीरिक विकास है, उसे बेहूदा, नालायक, असभ्य, और आचारहीन बनाना नहीं और यह छात्र-संघ यही सब करते हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं । छात्रसंघ के द्वारा किसी शिक्षा-शास्त्री, मानव-जीवन विकास-मर्मज्ञ आदि के निर्माण में कोई सहायता प्राप्त होती हो तो हमें बतायें । आज तक कोई उत्तम व्यक्तित्व छात्रसंघ की पद्धति और उसकी सहायता से तैयार हुआ हो तो हमें दिखाया जाय ।

अपवाद को छोड़कर इन छात्रसंघों में आवारा, तीन-तीन वर्ष तक एक ही श्रेणी में पड़े रहने वाले, उत्तीर्ण हों तो कम से कम अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण होने वाले, चाकू व छूरे के बल पर नकल करके पास होने वाले छात्र ही अधिकारी होते हैं । पढ़ने के स्थान पर पूरे सत्र ट्रेनें रोकना, मार्ग चलती लड़कियों को छेड़ना, प्रिंसिपल को गोली मारना, कुलपति-डीन-रजिस्ट्रार आदि को टांगे पकड़कर खींचना तथा हाकियों से उनकी पिटायी करना, कालिज की खिड़कियां-फर्नीचर आदि तोड़ना, सिनेमा घर में आग लगाना, इन तत्वों के यह कार्य हैं, जिन्हें सर्वसाधारण नागरिक भली-भाँति जानते हैं । इसके अतिरिक्त भी कुछ कार्य हैं, जिनका सर्वसाधारण को पता नहीं है । वह हैं कालिज-यूनिवर्सिटियों में नये आने वाले छात्रों के साथ अभद्रता की पराकाष्ठा तक पहुंच जाना, जिसे इससे अधिक हम अपनी लेखनी से व्यक्त नहीं कर सकते । यहीं तक नहीं अपितु छात्रावासों में अलमारियों में भरी हुई और छात्रों की शैया के नीचे रिक्त की हुई मद्य की बोतलें तथा रिवाल्वर व छुरे, जो घर से प्राप्त रुपये से आवश्यकतायें पूरी न होने पर ट्रेनें तक लूटने के काम आते हैं तथा छात्रावासों में छिपायी हुई लड़कियां, कहां तक और क्या-क्या गिनाया जाय । यह सब क्या है ? और क्या बनाना चाहते हैं उत्तरदायी लोग इस देश को ।

पाठ्यक्रम में पुस्तकें इतनी कि उन्हें लेकर चलने के लिये एक गधा चाहिए । हैं भी वह गधे द्वारा ढोकर कूड़े के गड्ढे में डाल देने योग्य ही,

मनुष्य के तो छूने योग्य भी नहीं हैं। यही कारण है कि मनुष्य की सन्तति और राम-कृष्ण तथा ऋषि-मुनियों के पवित्र देश के बच्चे इनके अध्ययन और छात्रसंघों के माध्यम से दिन प्रतिदिन मानवता से दूर और पशुत्व से भी गिर कर दानवता के निकट होते जाते हैं।

यह बोगस और बेहूदा पाठ्यक्रम भी इतना कि छात्र पूरे सत्र में सामान्य दृष्टि से भी नहीं पढ़ पाता, गम्भीरता से अध्ययन करना और समझ कर पढ़ना तो अलग रहा। इतने पर छात्रसंघ को लानत, खुदा की फटकार।

हम कहना यह चाहते हैं कि छात्र संघ की आवश्यकता क्या पड़ी थी। क्यों इस लानत को इस अभागे देश की भावी आशाओं के मत्थे मढ़ दिया। वह दिन भारत के लिए सबसे बड़ा दुर्दिन था, जिस दिन यह अभिशाप लाया गया और वह व्यक्ति भारत-राष्ट्र का सबसे बड़ा शत्रु था, जिसकी कुमति से भारत की कुगति करने वाला यह सूत्र उपजा।

आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। कोई छात्रसंघ की आवश्यकता और उपयोगिता तो बताये। कहते हैं विद्यार्थियों की समस्याओं के हल के लिए इसकी आवश्यकता है। विद्यार्थियों की समस्या क्या है। क्या आये दिन छुट्टियाँ मांगना। छुट्टी न होने पर प्रधानाचार्य के कमरे पर पथराव करना। जिसने किसी लड़की को छेड़ा हो तथा उसके परिणामस्वरूप पिटकर आया हो, ऐसे भ्रष्ट लड़के का पक्ष लेकर नगर में तूफान खड़ा कर देना, यातायात रोक देना, बसों व ट्रेनों पर पथराव करना और आग लगाना या कुछ और भी है। वास्तविकता यह है कि विद्यार्थी की समस्या तो विद्यार्थी शब्द में ही निहित है, उसे विद्या चाहिए विषय नहीं, छुट्टियाँ नहीं। यह तो विषयार्थी और सुखार्थी की बात है—विद्यार्थी की नहीं।

सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम्।
सुखार्थी वात्यजेत् विद्यां विद्यार्थी वात्यजेत् सुखम्॥

अर्थात् विद्यार्थी को चाहिए कि वह विषय-सुख को छोड़ दे, उसकी कामना न करे और सुखार्थी विद्या को छोड़ दे। क्योंकि विषय सुख के चाहने वालों को विद्या और विद्या के चाहने वालों को विषय-सुख प्राप्त नहीं हुआ करते।

विद्यार्थी को विद्या के मार्ग से हटाकर विषय-सुखों के मार्ग पर डालने का कार्य किया है इन छात्रसंघों ने, इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं। और तो

और आज तक कोई छात्रसंघ किसी निर्धन विद्यार्थी की सहायता तक नहीं कर सका। कोई छात्रसंध यदि किसी निर्धन विद्यार्थी को पुस्तकें ही क्रय करके दे सका हो, किसी निर्धन छात्र का शुल्क विद्यालय में जमा कर सका हो अथवा किसी निर्धन विद्यार्थी को भयंकर शीत के दिनों में जर्सी, कोट आदि गर्म वस्त्रों की सहायता कर सका हो, उसके शीत से ठिठुरते टूटी चप्पल वाले पैरों के लिए मौजे-जूते लेकर दे सका हो तो बतायें। निर्धन विद्यार्थियों की सहायता के लिए किसी छात्रसंघ ने निधि स्थापित करने के लिए कोई प्रस्ताव ही स्वीकृत किया हो तो कोई हमें दिखाये।

अतीव सन्तप्त हृदय से हम देश के उत्तरदायी लोगों से कह देना चाहते हैं कि वह सब इस देश की दशा पर दया करें। विनाश के कगार पर तो लाकर खड़ा कर दिया है, किन्तु सर्वनाश के गर्त्त में तो न धकेलें। पंच-वर्षीय और प्रतिवर्ष नवीनीकरण को प्राप्त हो जाने वाली योजनाओं ने यदि देश की रोटी-रोजी की समस्या हल कर भी दी और देश की सन्तति भ्रष्ट हो गयी, सम्पूर्ण नस्ल ही पथ-भ्रष्ट हो चली तो ऐसी रोटी-रोजी, वस्त्र और आवास ही नहीं अपितु मोहनभोगों, अतीव मूल्यवान वस्त्राभूषणों तथा बहुमूल्य भवनों को लेकर हम क्या करेंगे। जब हम ही न रहे, हमारी संस्कृति धरोहर, हमारा चरित्र, नैतिकता, स्वाभिमान आदि सब कुछ विनष्ट हो गया तो शेष तो पशुत्व का ढांचा ही रह जायेगा। हम राष्ट्र-नेताओं से पूछना चाहते हैं कि आपने भारत को पर्हे-देश समझा है क्या। स्मरण रखिये, यदि समय रहते इधर ध्यान नहीं दिया गया तो राष्ट्र तो डूबेगा ही—बचेंगे आप लोग भी नहीं।

जो डूबेगी किस्ती तो डूबोगे सारे।
न तुम ही बचोगे न साथी तुम्हारे॥

रोग असाध्य होता जा रहा है। आवश्यकता है इसकी तुरन्त चिकित्सा हो। यदि तुरन्त चिकित्सा न की गई तो विलम्ब होने पर वश में नहीं आयेगा। विष सम्पूर्ण शरीर में फैल चुका है और अब नस-नाड़ियों में घुसने लगा है। बच्चों को उनके माता-पिता विद्यार्थियों के रूप में विद्यालयों में प्रविष्ट कराते हैं। संघार्थियों के रूप में नहीं। देश को विद्यार्थी ही चाहिये, संघार्थी नहीं।

विद्यार्थी विद्या के चाहने वाले को कहते हैं. घर से रुपये चुरा कर अथवा अन्य अनैतिक कार्यों द्वारा प्राप्त करके छात्रसंघ का चुनाव लड़ने वालों को

नहीं। यह विद्यार्थी रहेंगे तो विद्या आयेगी, चुनायार्थी बनकर नहीं आयगी। इसलिये इन्हें विद्यार्थी ही रहने दीजिये, चुनावार्थी मत बनाइये।

समाधान—

समाधान इस समस्या का यह है कि शासन छात्रसंघों को सर्वथा समाप्त करने को तैयार नहीं तो कम से कम माध्यमिक स्कूलों से तो इसे समाप्त कर ही दें। स्नातक तथा स्नातकोत्तर विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में एक अनुबन्ध लगा दे कि जो छात्र पिछली परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए हैं, वही छात्रसंघों के चुनावों में भाग ले सकेंगे और कोई भी विद्यार्थी किसी भी राजनीतिक दल का सदस्य नहीं बन सकेगा, यदि बनेगा तो आगामी वार्षिक परीक्षा में भाग नहीं ले सकेगा।

इससे एक ओर तो अवाञ्छनीय और उद्दण्ड तत्व आगे नहीं आ सकेंगे अपितु होनहार प्रतिभावान् तथा विद्या-व्यसनी ही आयेंगे। जब ऐसे युवक अधिकारी बनेंगे तो छात्रसंघों की यह छात्रों में प्रतिभा जगाने और विद्या की रुचि उत्पन्न करने में होगी और इसके परिणामस्वरूप राष्ट्र की प्रतिभा-सम्पन्न और योग्य नागरिक उपलब्ध होने में सहायता मिल सकेगी।

दूसरे राजनीतिक दलों से बने रहने के परिणाम स्वरूप राजनीतिक स्वार्थों के लिये विद्यार्थियों का बहुमूल्य समय विनष्ट होने से बचकर उनके अपने जीवन के निर्माण तथा तदुपरान्त राष्ट्रोत्थान के कार्यों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। तभी भारत में राष्ट्रीय चरित्र का विकास होगा और तभी भारत संसार में स्वाभिमान और सम्मान के साथ जी सकेगा अन्यथा न केवल भरपूर आर्थिक साधन भी निरर्थक सिद्ध होंगे अपितु यह दीर्घकाल तक किए गये संघर्ष तथा महान् त्याग व बलिदानों के पुण्य प्रताप से प्राप्त की गयी राष्ट्र के सौभाग्य का कारण नहीं बन सकेगी।

नोट—लेखक का सम्पादक के मत से सहमत होना आवश्यक नहीं है।

निद्रा एवं अवचेतन

प्रो० सतीशचन्द्र धमोजा
मनोविज्ञान-विभाग

आराम बड़ी चीज है मुंह ढक कर सोईये। कुछ लोग मुह ढक कर सोते हैं और उनको खर्राटेदार नीद आती है तो ऐसा क्यों होता है कि कुछ लोगों को सोते समय मुँह ढकने में सांस बन्द होने का अनुभव होता है? इस बारे में वैज्ञानिकों में मतभेद हो सकता है। लेकिन वैज्ञानिक इस विषय पर एकमत हैं, कि आराम बड़ी चीज है और सोना भी स्वास्थ्य के लिए लाभकारी है।

अनेक वैज्ञानिक यह जानने में लगे हैं कि विश्राम और नींद हमारे व्यवहार के विभिन्न पक्षों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं? कुम्भकरण की नींद वाले व्यक्तियों को तो हम क्या कहें, लेकिन वे लोग सावधान हो जायें जिन्हें दिनचर्या के कारण झपकी लेने की भी फुरसत नहीं मिलती। शरीर शास्त्री डेविड डिन्गेस के अध्ययनों से एक बड़े खतरे का संकेत मिलता है। उनके अध्ययनों से निष्कर्ष निकला है कि हमारे सोने और जागने का एक चक्र है जो २४ घन्टे चलता रहता है। इस चक्र के अनुसार एक बार सोकर उठने के लगभग आठ घन्टे बाद हमें नींद का झोंका आता है। यही वो समय होता है जब व्यक्ति झपकी लेता है अथवा ऐसा अनुभव करता है कि उसे झपकी लेनी चाहिए। ऐसा बहुत लोग करते भी हैं। कार्यालयों में कर्मचारी चाय की अथवा हीटर की ओर भागते हैं तो गृहीणियाँ भी दिन भर की थकान को दूर करने के नाम पर थोड़ा आराम चाहती हैं। विद्यार्थी भी अपनी पुस्तकें एक ओर रख के झपकी लेना चाहते हैं।

अध्ययनों द्वारा ३ बजे सांयकाल के लगभग लोगों के व्यवहार में एक विशेष परिवर्तन देखा गया है। इसी समय दुर्घटनायें बढ़ जाती है और कार्य क्षमता में कमी आ जाती है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सांय एक और चार बजे के बीच हम पर छाने वाली 'खुमारी' का सीधा सम्बन्ध हमारे मस्तिष्क में होने वाली निद्रा और जागरण के चक्र से है। प्रातःकाल अथवा सायंकाल एक सामान्य व्यक्ति का मस्तिष्क सोने में पन्द्रह मिनट का समय लेता है,

लेकिन दोपहर बाद अपेक्षाकृत बहुत ही कम समय में व्यक्ति सो जाता है। प्रो० डिग्गेस के अनुसार इसका सम्बन्ध भोजन से नहीं है, मस्तिष्क में होने वाले निद्रा जागरण के चक्र के कारण ही ऐसा होता है।

फंचनर भौतिक-विज्ञान के प्रोफेसर थे और २२ अक्टूबर १८५० की प्रातः जब बिस्तर में ही थे, आंखे खुलते ही उन्होंने पाया कि निरन्तर परेशान करने करने वाली एक समस्या का समाधान उन्होंने खोज लिया। इसप्रकार से 'मनौभौतिकी' का सिद्धान्त सामने आया जिसने मनोविज्ञान को एक नई शिक्षा प्रदान की। ट्रूमैन जब अमरीका के राष्ट्रपति थे तो उनके बारे में यह प्रसिद्ध था कि वे किसी भी महत्त्वपूर्ण सभा के बीच में ही उठकर चले जाते थे और अपने कार्यालय में 'झपकी' लेते थे। लगभग पांच मिनट के बाद वे सभा में लौट आते थे और उनके पास उस समस्या का हल होता था जिसे कमरा छोड़ने से पहले अपने साथ लेकर जाते थे।

मन के ऊपरी धरातल को तो सर्जन और मनोवैज्ञानिक कुछ सीमा तक समझ पाये हैं। लेकिन उसके नीचे अर्थात् अर्द्धचेतन की गहराइयों में पहुंचना एक दुष्कर प्रक्रिया है। हमारे मन का यह भाग उन सब समस्याओं के हल का स्रोत है जिनका समाधान हम जागते और चलते फिरते नहीं कर पाते। सोते हुये सोचने की इस शक्ति को बहुत ही कम लोग प्रयोग कर पाते हैं। प्रक्रिया सरल है। हमारे सामने समस्या आती है जिसका हल असंभव प्रतीत होता है। सारा दिन हमारा चेतन मस्तिष्क इस समस्या का समाधान खोजने में लगा रहता है। निःसन्देह समस्या चेतन मस्तिष्क की परीधि से बाहर होती है। सोते समय हमारा अर्द्ध चेतन क्रियाशील हो जाता है जहां यह समस्या सोने से पहले पड़ चुकी थी और यहीं इसका हल सामने आता है।

यह एक तथ्य है कि हमारे चेतन मस्तिष्क की सीमा है। कोई भी व्यक्ति दिनभर की घटनाओं का १० से १५ प्रतिशत ही याद रख पाता है। लेकिन मस्तिष्क का दूसरा भाग, अर्द्धचेतन, कुछ नहीं भूलता। दूसरे शब्दों में मस्तिष्क की तली में हमारा वह समस्त ज्ञान बन्द रहता है जो हम अपने जीवन में अनुभव करते हैं। इसी ज्ञान का कोई अंश जब हमारे चेतन में उभर कर आ जाता है तो हमें आश्चर्य होता है और हम कह उठते हैं "अरे हम सोचते थे कि यह बात भूल गई, पर यह तो याद है"।

मनोवैज्ञानिक इस तथ्य की पुष्टि कर चुके हैं कि 'अर्द्धचेतन' कभी नहीं सोता। हमारा 'अर्द्धचेतन' चेतन द्वारा ही भेजी गई समस्याओं का समाधान

तो खोजता ही है, स्वप्नों द्वारा हमारे अप्राप्त की प्राप्ति में बदल कर मानसिक तुष्टि प्रदान करता है और किसी सीमा तक हमारे मानसिक सन्तुलन को बनाये रखने में सहायता करता है। स्वप्न में निर्धन व्यक्ति धनी बन जाता है तो अस्वस्थ व्यक्ति अपने को स्वस्थ पाता है।

किसी व्यक्ति को सोने मत दीजिये और फिर देखिये क्या प्रतिक्रिया होती है ? अमरिका के मनोवैज्ञानिक हैरोल्ड विलियम्स ने इसी समस्या को लेकर अध्ययन किये हैं। सेना के जवानों पर यह अध्ययन किये गये। उन्हें निरन्तर लम्बे समय तक नीन्द से दूर रखा गया। परिणामत: निरन्तर अनिन्द्रा ने उनके चेतन को क्षत-विक्षत कर दिया 'अर्द्धचेतन ऊभर कर सामने आ गया। वे भयानक संवेदनाओं के शिकार हो गये। उन्हें ऐसा लगने लगा कि विभिन्न आकृतियाँ दीवारों पर कूद-फांद रही हैं। उनकी आंखों को ऐसा लगने लगा कि कुर्सी-मेजें अपना आकार बदल चुकी हैं। कभी-२ तो ऐसा लगता था कि जैसे उनके चेहरे हर कीड़े-मकोड़े चढ़ गये हैं और वे चेहरे पर हाथ फेर कर उन्हें हटाने लगते थे।

हमारी संवेदनाओं और संवेगों के प्रतिरिक्त भी व्यवहार के विभिन्न पक्षों पर नीन्द का प्रभाव पड़ता है। विलियम डीमैन्ट के द्वारा दिये गये एक प्रयोग में एक समूह को OTTFFSS अक्षर क्रमशः दिखाये गये और पूछा गया कि इन अक्षरों का क्या अर्थ निकलता है ? सोने से पहले कोई भी व्यक्ति समस्या का समाधान नहीं ढूंढ सका था। लेकिन प्रातःकाल उठते ही उनमें से अधिकतम सदस्यों ने हल बता दिया कि अक्षरों का अर्थ है– One, Two Three Four, Five, Six, Seven। निःसन्देह यह समाधान अर्द्धचेतन के स्तर पर खोजा गया था।

वाशिंगटन विश्वविद्यालय की अनुसंधानकर्त्ता नैदानिक मनोवैज्ञानिक ऐमी-बर्टेलसन ने ९४ व्यक्तियों पर एक अध्ययन किया। इस समूह के आधे सदस्य 'झपकी' लेने वाले थे। ये सदस्य पढ़ते समय अर्थात दूरदर्शन देखते समय कुछ समय से लेकर ६० मिनट तक सो लेते थे। दोनों समूहों को 'जागरुकता' और 'मूड' के परीक्षण दिये गये। पाया गया कि यद्यपि दोनों समूहों की 'जागरुकता' में महत्वपूर्ण अन्तर नहीं था लेकिन झपकी लेने वाले सदस्य 'झपकी न लेने वाले सदस्यों' की अपेक्षा 'अच्छे मूड' में दिखाई दिये।

निष्कर्ष, यदि आप झपकी लेते हैं, अथवा खूब सोते हैं, तो हीन भावना को मत लाइये। न ही ऐसे व्यक्तियों को हीन भावना से देखिये। ❀❀❀

एकता और अनुशासन

नन्दकिशोर गुप्त बी०एस०सी०
जीव कालेज आफ़ सांइस, गु० कां० विश्वविद्यालय हरिद्वार

जिस प्रकार किसी भवन की सुदृढ़ता उस भवन की आधारशीला पर निर्भर करती है ठीक उसी प्रकार N.C.C. कैडेटों की आधारशीला है 'एकता और अनुशासन' (Unity & Discipline)। जब हम कोई कार्य मिल-जुल कर करते हैं, तो हम यह पारस्परिक एकता के सूत्र में बंध जाते हैं और साथ-साथ हमारे अनुशासन की आधारशीला भी सुदृढ़ और व्यापक बनती चली जाती है।

N.C.C. के ये दो स्तम्भ प्रकाशस्तम्भ (Light house) कहिए. मुख्य और सबसे महत्वपूर्ण है–एकता (Unity) और अनुशासन (Discipline)।

"संघे शक्तिः कलौयुगं"

कलियुग अर्थात् आधुनिक काल में संघ (Unity) ये ही शक्ति (Strength) है। विज्ञान के छात्र बन्धु जानते हैं कि सूर्य की बिखरी हुई (Scattered) किरणें अलग-अलग रूप में अग्नि-ज्वाला प्रस्फुटित नही कर सकतीं पर जब ये किरणें लैंस के माध्यम से पुंजीभूत (Consalidated) हो जाती है तो उनमें अग्नि-प्रदीपन की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। कितनी प्रचंड सामर्थ्य है इस एकता में, यह कपोल कल्पना नहीं है कोई पौराणिक कथा नहीं है जिसे आप न मानें–यह तो प्रत्यक्ष प्रमाण है विज्ञान सिद्ध।

इस एकता के सार्वभौम सत्य को (Universal Truth) इस एकता के सार्वभौम आदर्श को हमने हृदयांगम करना है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय सबमें प्रयोग भी करना है तभी हम सुदृढ़, शक्तिशाली बन सकेंगे तभी राष्ट्र की स्वतन्त्रता को चिरस्थायी रख सकेंगे।

इस एकता को लाने के लिए सबसे महत्वपूर्ण सहसाधन है–अनुशासन (Discipline) अनुशासन के बिना तो हम कोई भी सफलता पूर्वक सम्पन्न नहीं कर सकते। यह प्रकृति का ध्रुव नियम है-इसी पर सारा ब्रह्माण्ड आधारित है–देखिये प्रकृति (Nature) को सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र–कितने अनुशासन में रहते हैं, अनादि काल से प्रकृति का यह अनुशासन चला आ रहा है। आप इतिहास के पृष्ठ पलटकर देखिये। जब-जब जहां जहां उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता फैली है वहां-वहां प्रकृति ने दण्डित किया है, जिसे हम 'सर्वनाश' कहते हैं।

भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्वर्गीय डा० मेघनाथ शाह ने एक बार कहा कि मानव कृत अणुबम, परमाणु बम, न्यूट्रान बमों के विस्फोट से जितना भीषण नाश होता है वह प्रकृति के द्वारा किये गये विस्फोटों की तुलना से अति नगण्य है। अतः अनुशासन में रहना प्रकृति का अखण्ड नियम है जिसे तोड़ना–जिसका उल्लंघन करना किसी के लिये भी कहीं भी किसी प्रकार भी हितकर नहीं।

'एकता' और 'अनुशासन' के बारे में एक महत्वपूर्ण बात ध्यान रखनी चाहिए। वह यह कि इन दोनों का आधार मानवता हो, दानवता नहीं तभी एकता और अनुशासन सार्थक हो सकेंगे। मानवता (Human Values) से प्रेरित होकर ही एकता व अनुशासन उस संस्कृति (Culture) का निर्माण करने में सहायक होते हैं जो राष्ट्र का मस्तिष्क है। बिना संस्कृति के कोई भी राष्ट्र चाहे वह कितना ही समृद्ध क्यों न हो, महान नहीं हो सकता।

'एकता' में क्षेत्र जितना व्यापक होगा उतनी ही वह हितकारिणी होगी। एकता में 'एक' शब्द सर्वशक्तिमान परमात्मा का सकेतक (Indicator) है। हमें राक्षसों जैसी एकता नहीं चाहिये न हमें राक्षसों के जैसा अनुशासन ही चाहिये। हमें वह एकता लानी होगी जिससे हम भेदभाव से ऊपर उठकर 'अखण्ड मानवता' का अनुभव कर सकेंगे, अनुशासन वह चाहिए जो हमें सदाचार (Morality) के मार्ग पर अग्रसर कर सकें। इस प्रकार की एकता और इस प्रकार का अनुशासन हम N.C.C. के कैडेटों को आदर्श मानव (Ideal Personality) बनाते हुये राष्ट्र को भी शक्तिशाली और सुसंगठित बनाने में सहायक होंगे। आशा है कि हम इस दिशा में निरन्तर आगे बढ़ने के लिये प्रयत्नशील होंगे।

भारतीय नारी-प्राचीन-अर्वाचीन

लेखक—दुर्गाप्रसाद तिवारी एम ए.
(हिन्दी प्रथम वर्ष)

मैं कवि की कविता कामिनी हूं,
मैं चित्तकार का रुचिर चित्त;
मैं जगत नाट्य की रसाधार
अभिलाषा मानव की विचित्र,
यह जगत दारु पोषित होकर
मैं सूत्रधार वन चुकी सदा
मैं विषय और विषयी दोनों
मैं शत्रु किन्तु पहले सुमित्त

नारो स्नेह और सौजन्य की प्रतिमा है। त्याग और समर्पण की मूर्ति है। दया, करुणा और श्रद्धा की आगार है। वह देवो भी है और दानवी भो दुष्ट मर्दन में वह चण्डो तुल्य है, श्रद्धा में सबरी तुल्य है, अनुराग में राधा तुल्य है, विद्वता में सरोजनी नायडू तुल्य है। तथा राजनीति और प्रभाव में श्रीमती इंदिरागाँधो तुल्य है। मानव जोवन में उसका महत्वपूर्ण योगदान है। नारी की उपेक्षा करके मानव जीवन एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। जिस प्रकार शरीर से प्राणों के निकल जाने पर, वाटिका में पुष्पों के सूख जाने पर, चन्द्रमा से चाँदनी के दूर हो जाने पर, कोकिल के कण्ठ से कूंजन नष्ट हो जाने पर, सागर के उदार पक्ष से तत्काल समाप्त हो जाने पर, सूर्य से प्रकाश को इतिश्री हो जाने पर उनकी कोई कोई सार्थकता नहीं रह जाती उसी प्रकार मानव जीवन से नारी के अस्तित्व को अलग कर देने से मानव जीवन जर्जर, नीरस, शुष्क और व्यर्थ हो उठता है।

भारतीय नारो संस्कृत के अनादि काल से ही अनंत गुणों की खान रहो है। भारतीय इतिहास के सूर्योदय में सिन्धु व वैदिक सभ्यता की प्राथमिकता

को लेकर भले ही विवाद हो किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि सिन्धु सभ्यता के भीतर नारियों को अत्यन्त उच्च दृष्टि से देखा जाता था और यह परम्परा प्रायः वहाँ से पुष्पित-पल्लवित होते हुए जब वैदिक युग में पहुंची तब तो स्त्रियों की दशा के बारे में पूछना ही क्या। जैसा कि अथर्ववेद में उल्लिखत है कि स्त्री एक प्रकार से गृह की साम्राजी थी। यही नहीं सत्पथ ब्राह्मण तो लिखता है कि समाज में स्त्रियों को इतना गौरव और मान था कि उसके बिना पुरुष अपूर्ण व अधूरा माना जाता था। इस प्रकार नारी पुरुष की अर्धाङ्गिणी तो मानी हो गयी थी साथ ही वृहत्संहिता ने तो उसे 'श्री' और 'लक्ष्मी से आगे मनुष्य जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्त करने वाली कहा है। यहां यह कहना असंगत न होगा कि स्त्री अपने आंगन में रहकर संस्कारों में बंधकर शिक्षा, धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में अद्वितीय कार्य करती थी। वह जिस स्वच्छन्दता से शिक्षा ग्रहण कर सकती थी। उसी स्वतन्त्रता से विचरण भी कर सकती थी। पुरषों की तुलना में वह कथमपि निम्न नहीं ऋग्वेद में तो यहां तक उल्लेख है कि—

"साम्राजी स्वशूरे भव, साम्राजी अधिदेवेषु।"

इस प्रकार वह समाज के समस्त अनुष्ठानों में पुरुष की सहभागिनी थी। इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में तो स्त्री और पुरुष दोनों को यज्ञ रूपी रथ का बैल मान लिया है, और वहीं वह पत्नी और भार्या के रूपों को सांकृतिक अर्थों में ग्रहण करके गृहणी भी बन गयी थी। उस काल की कुछ महा-विभूतियों का उल्लेख करना कदाचित असङ्गत न होगा यथा– रोमसा, अपाला, घोषा, निषावरी आदि ये सभी उस युग की ऐसी विभुतियां हैं जो पुरुषों से किसी भी माने में न्यून नहीं हैं, उल्टे और भी देदीप्यमान हैं। इस प्रकार वैदिक युग का इतिहास नारी जाति के समानाधिकारों का इतिहास है।

उत्तर वैदिक काल में भी नारी का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। युद्ध भूमि में भी स्त्रियां पुरुषों की सहायता करती हैं। दशरथ के साथ केकैयी के युद्ध में जाने और रथ के पहिये की धुरी टूट जाने पर अपनी शक्ति से उसे रोके रहने का प्रसङ्ग एक इतिहास प्रतीक घटना है। इसके विपरीत उपनिषदों के उत्तर-वैदिक कालीन स्त्रियों की विद्वता के अनेकानेक उदाहरण मौजूद हैं। 'वृहदारण्यक' उपनिषद 'जनक' की सभा में गार्गी और 'याज्ञवल्यक्य' के वाद-

विवाद का उल्लेख करता है। इसी प्रकार यह भी ध्यातव्य है कि 'याज्ञवल्क्य' की पत्नी मैत्रेयी' परम विदुषी थी। इस प्रकार उत्तर-वैदिक कालीन आर्य समाज में भी स्त्रियाँ पूर्णतः समादृत थीं।

स्त्रियों की दशा में गिरावट का श्रीगणेश सूत्र और स्मृतियों के काल से प्रारम्भ हुआ। उनके लिए निर्बल, असहाय और परतन्त्र जैसे विशेषणों का प्रयोग किया जाने लगा। सूत्र साहित्य में पत्र-पत्त नारी की पराधीनता के उदाहरण भी मिलते हैं।

उदाहरणार्थ—'बोधायन' का यह मत है कि नारी पुरुष के आधीन है, वशिष्ठ भी इसी संदर्भ में अपना मत प्रस्तुत करते हैं।

इतिहास का वरण जब महाकाव्य काल ने किया तो 'सूत्रकाल' में नारी की स्थिति में आयी गिरावट में कुछ सुधार हुआ। महाभारत काल की नारी पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक गतिविधियों को संचालित करने वाली केन्द्रिय शक्ति के रूप में उभर कर सामने आयी। 'गान्धारी' 'कुन्ती' और द्रौपदी तत्कालीन भारतीय नारी के पत्नीत्व, मातृत्व और शक्तिरूप के क्रमशः आदर्श हैं। नारी को गृह लक्ष्मी स्वीकार करते हुए यह घोषणा की गयी है कि गृहणी विहीन गृह निर्जन वन के समान है। मनु ने नारी को पूज्य मानते हुए कहा है– "यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" इस तरह यहां पर हम यह कह सकते हैं कि यह काल इन स्त्रियों के कारण इतिहास के स्वर्णिम पन्नों में अपनी छाप छोड़ गया।

जहां तक बौद्ध व जैन युगीन स्त्रियों का प्रश्न है, महात्मा बुद्ध द्वारा स्त्रियों के कामिनी रूप की कटु आलोचना के अलावा उनकी निन्दा का और कोई उदाहरण नहीं मिलता। इस काल में स्त्रियां ज्ञानपिपासु होती थीं। साथ ही ब्रह्मचर्य का जीवन भी व्यतीत करती थीं। 'थेरीगाथा' में बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा रचित गीतों का संग्रह उनकी विद्वता, निःस्पृहता, पवित्रता और अन्तः सन्तुलित का जीता जागता उदाहरण है। इन भिक्षुणियों में सुमा, सुमेधा और अनोपना का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। 'कौशाम्वी' नरेश का विदुषी पुत्री 'जयन्ती' का 'महावीर' के साथ वाद-विवाद करना और पश्चात् जैन धर्म अङ्गीकार कर, भिक्षुणी होना ही तत्कालीन स्त्रियों की विद्वता का स्पष्ट परिचायक है।

गुप्तकाल में यद्यपि स्त्री का रूप गौरी और भवानी का तो था, तथापि वह यौवनारम्भ से ही अपने पिता व अभिभावक के लिए एक बोझ बन गई।

यही नहीं इस काल में तो नारी का एक प्रकार से सम्पत्ति का रूप ही दे दिया गया। यह वही काल है जिसमें कवि-कुल-गुरु 'कालीदास' पार्वती और शङ्कर को 'जगत: पितरौ' कहकर भी उनके यौन सम्बन्धों का दिग्दर्शन कराने में नहीं चूके। मात्र इसी उदाहरण से ही तत्कालीन नारियों की स्थिति स्पष्ट हो जाती है और यह क्रम प्राय: पूर्व मध्यकाल तक नैरन्तर्य को प्राप्त करता है।

मध्यकाल तक आते-आते नारी शृङ्गार और विलासिता की सामग्री बन कर रह गयी। अब वह पुरुष की अर्धाङ्गिनी न रहकर अङ्कशायिनी मात्र बनकर रह गयी। मध्यकाल में नारी की स्थिति पूर्णत: उपेक्षित होने का प्रमुख कारण कदाचित हमारे देश पर मुसलमानों का आक्रमण था, जिसने हमारी परम्पराओं, मान्यताओं एवं समाज को बिल्कुल झकझोर दिया तथा उसमें नारी भोजन पकाने एवं बच्चा पैदा करने वाली मशीन मात्र बनकर रह गई। उसकाल के साहित्यकारों ने भी नारियों को नहीं बक्सा 'कबीर' ने तो उसे उन्नति के पथ में बाधक बताते हुए 'कालीनागन' तक कह डाला।

तुलसी जैसे युगान्तरकारी कवि ने भी—

शूद्र गंवार, ढोल, पशु, नारी
ये सब ताड़न के अधिकारी।
और
नारि चरित्र सत्य सब कहहीं
अवगुण आठ सदा उर रहहीं।

ऐसी बात कहकर नारी चरित्र के मध्य-युगीन सम्प्रत्यय को और अधिक बल प्रदान किया। यह दृष्टिकोण नारी के लिए कितना उपेक्षित था, कहने की आवयकता नहीं।

उत्तर मध्य युग (रीतिकाल) में जब नारी रीति के सिद्ध एवं मर्मज्ञ साहित्यिकों के हाथ पड़ी तब तो उसका पूछना ही क्या? वह संयोग-शृङ्गार नायक-नायिका-भेद, समस्यापूर्ति एवं मानसिक विकास की विषय ही बनकर रह गयी। उस काल का शायद ही कोई ऐसा कवि रहा हो जिसने नारी को काव्य का हेतु न बनाया हो। आचार्य 'केशवदास' से लेकर 'मतिराम' एवं 'भूषण' तक के काव्य में नारी का जो रूप चित्रित किया गया है, वह उनकी तत्कालीन सामाजिक दशा को प्रतिबिम्बित करने में कम अहं भूमिका नहीं अदा करता।

(शेष अगले अङ्क में)

पुरातत्व संग्रहालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

डा० विनोदचन्द्र सिन्हा एवं सूर्यकान्त श्रीवास्तव

भारतीय संस्कृति का सहज ज्ञान उपलब्ध कराने की दृष्टि से स्वामी श्रद्धानन्द ने गङ्गा के बायें किनारे पर स्थित कांगड़ी ग्राम बिजनौर के समीप वर्तमान संग्रहालय की स्थापना शताब्दी के प्रारम्भ में सन् १९०७ में की थी। प्रारम्भ में स्वामी ने अपनी विभिन्न यात्राओं में संग्रहीत वस्तुओं को दर्शकों के लिए प्रदर्शित किया। कालान्तर में आस-पास के क्षेत्र से उपलब्ध सामग्री मित्रों एवं शुभचिन्तकों से प्राप्त वस्तुओं से संग्रहालय समृद्ध होता गया। सन् १९२४ के पूर्वार्ध में संग्रहालय के पास अच्छा संग्रह दर्शकों के लिये उपलब्ध था। किन्तु इसी वर्ष गंगा की भीषण बाढ़ से संग्रहालय को भारी क्षति पहुंची। बाढ़ प्रकोप से बची वस्तुयें २० वर्ष तक अपनी उपयोगिता के मूल्यों-के लिये सुरक्षित भण्डार गृह में रखी रही।

कालान्तर में ज्ञान एवं शिक्षा प्रसार के माध्यम के रूप में संग्रहालय की उपयोगिता को गुरुकुल मनीषियों ने समझा। फलतः स्वामी जी की परिकल्पना को मूर्तिरूप देने का संकल्प सन् १९४५ में संग्रहालय के पुनर्नियोजन करके किया गया। यह भी निश्चित किया गया कि पुरातात्विक, ऐतिहासिक एवं कलात्मक वस्तुओं के संकलन पर विशेष ध्यान दिया जाये। सन् १९५० में गुरुकुल की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर विश्वविद्यालय परिसर में माननीय बिरला जी द्वारा निर्मित वेद मन्दिर में संग्रहालय को वर्तमान रूप में नियोजित किया गया। संग्रहालय का उद्घाटन भारतीय कला एवं सांस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान् स्वर्गीय डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। गुरुकुल की देखरेख में संग्रहालय को सन् १९७२ में गुरुकुल विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष संग्रहालय के पदेन निदेशक नियुक्त किये गये।

संग्रहालय के वर्तमान भवन का शिलान्यास प्रदेश के तत्कालीन मुख्य-मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द जी के कर कमलों द्वारा दिनांक ११ अप्रेल १९६० को सम्पन्न हुआ। भारत सरकार के सौजन्य से निर्मित इस भवन का निर्माण विभिन्न चरणों से पूरा हुआ। सन् १९७७ में भवन में स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान कक्ष का नियोजन किया गया। संग्रहालय इस भवन में सन् १९८१ में स्थानान्तरित किया गया।

वर्तमान में संग्रहालय में संग्रहित वस्तुओं को निम्नलिखित कक्षों में नियोजित किया गया है—

केन्द्रिय कक्ष (भूमितल)

यह कक्ष मुख्यतः तीन प्रभागों में विभक्त है—

अ—सिन्धु सभ्यता प्रभाग।   ब—मृणमूर्तियां प्रभाग।

स—ताम्रनिधि उपकरण।

(अ) सिन्धु सभ्यता—भारतीय उपमहाद्वीप सभ्यता विकास क्रम में सिन्धु सभ्यता का स्थान बहुत पहले आता है। उप-महाद्वीप के उत्तर पश्चमी भाग मे प्रवाहित नदी सिन्धु की घाटियों में आज से लगभग ५०० वर्ष पूर्व यह सभ्यता विकसित हुई। उसका विस्तार पश्चिम में अफगानिस्तान, पाकिस्तान एवं भारत में राजस्थान, पंजाब, हरियाणा एवं उत्तर-प्रदेश के पश्चिमोत्तर जिलों तक था। इस सभ्यता के उत्खनित मुख्य स्थल, काली बगान भारत में एवं मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा पाकिस्तान में स्थित है। १९५० के दशक में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के सौजन्य से प्राप्त मोहनजोदड़ो की सामग्री एवं कुछ सामग्री काली बगांन की दशकों के लिए प्रदर्शित है।

मोहनजोदड़ों से प्राप्त सामग्री में विभिन्न प्रकार के मृदभाण्ड, मृणमूर्तियां मानवीय एवं पशु, मिट्टी से बनी एवं पकी हुई चूड़ियाँ, गेदें, मनके. खिलौना बैलगाड़ी तथा केक के आकार की वस्तुयें मुख्य हैं। मिट्टी के अतिरिक्त शंख, सीप, एवं हाथी दांत की विभिन्न वस्तुयें तथा चूड़ियां, मनके आदि मुख्य हैं। चर्ट मामक पत्थर के फलक एवं अष्टधातु के उपकरण अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

काली बंगान की प्रदर्शित सामग्री में चित्रित मृदभाण्ड के पात्र, मिट्टी के केक के आकार को वस्तुयें, चूड़ियां मनके, खिलौने आदि मुख्य हैं। चर्ट पत्थर

के फलक (Blads) तथा अर्ध-बहुमूल्य पत्थरों के मनके प्रमुख हैं। कुछ मनके तो इतने बारीक हैं कि तत्कालीन कौशल के अच्छे उदाहरण हैं।

(ब) मृण्मूर्ति प्रभाग— मृण्मूर्ति मिट्टी के खिलौने का प्रचलन प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर काफी प्राचीन है। सिन्धु सभ्यता के पूर्ववर्ती सभ्यताओं से लेकर वर्तमान तक प्रचलित हैं। इनका निर्माण मुख्यत: पूजा, साज-सज्जा एवं बच्चों के खिलौने के रूप में किया जाता है। सम्भवत: प्राचीनकाल में भी इसी उद्देश्य से इनका निर्माण किया गया हो।

संग्रहालय में लगभग ५०० मृण्मूर्तियां संग्रहीत हैं। इस संकलन में मुख्यत: सिन्धु सभ्यता, मौर्यकाल, शुंगकाल, कुषाणकाल, गुप्तकाल एवं मध्य काल की हैं। इस संख्या में मानवीय एवं पशुमृण-मूर्तियां सम्मलित हैं।

मथुरा से प्राप्त मृण मूर्तियों में भूरे रंग (Grey Coloured) की मूर्तियां जिनपर भूरे गहरे रंग की रंगाई की गई है, मुख्य है। अधिकतर मृण मूर्तियां नारी प्रतिरूप हैं। कुछ पशु आकृतियाँ भी हैं। मृण्मूर्तियों पर की गई रूप सज्जा तत्कालीन समाज को सौन्दर्य एवं श्रृङ्गार को साकार रूप प्रदान करती है।

भारी केश सज्जा, बालों में फूलों का उपयोग, गले में मालायें तत्कालीन श्रृङ्गार प्रसाधन एवं नारी रूप-सज्जा मौर्य एवं शुंग कालीन समाज का चित्रण प्रस्तुत करती है। मानवीय मृण्मूर्तियाँ ही नहीं वरन् पशु मूर्तियों को भी सजाया गया है। प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में श्रृङ्गार एवं सज्जा को काफी महत्ता प्राप्त थी। कला का विकास तत्कालीन आर्थिक सम्पन्नता को परिलक्षित करती है।

कुषाण काल में कला का ह्रास हुआ। मूर्तियों की संख्या बढ़ी लेकिन गढ़न में भारी भरकम बनाई गई सज्जा का तरीका आ गया था। पगड़ी का प्रचलन माला, कमर में मेखला गहरी छोटी लकीरें बनाकर की जाने लगी।

गुप्तकालीन मृण्मूर्तियां, शरीर, सौष्ठव, केश, विन्यास, भाव-भंगिमा, वस्त्राभूषण आदि में अभी तक की विकसित कला में उच्चकोटि का प्रदर्शन है। पूजा के अतिरिक्त गृह सज्जा के लिये इसका निर्माण हुआ।

मध्यकाल की मृण्मूर्तियों का भी संकलन प्रदर्शित है। यह संग्रह मुख्यत: मथुरा एवं कौशाम्बी, इलाहाबाद से है। इसके अतिरिक्त कुछ मृण्मूर्तियां

विदिशा - कुषाण से गुप्तकाल, आवला, जिला बरेली एवं शाहबाद हरदोई से किया गया है।

(स) ताम्रनिधि उपकरण— गंगा यमुना के दोआब से नहीं बल्कि सम्पूर्ण उत्तर भारत से ताम्रनिधि उपकरण प्राप्त हुये हैं। कालक्रम में इसका स्थान अभी तक प्रश्नचिह्न है। जिला सहारनपुर में तीन विभिन्न स्थानों से ताम्रनिधि उपकरण (Copper hoards) प्राप्त हुये हैं : ये स्थान हैं, बहादुराबाद, बड़गांव एवं नसीरपुर। जिनमें नसीरपुर से प्राप्त ताम्रनिधि उपकरण दर्शकों के लिये प्रदर्शित हैं।

दक्षिणी कक्ष (भूमितल)

इस कक्ष में मुद्रा एवं पाण्डुलिपियों का नियोजन है।

अ—पाण्डुलिपि प्रभाग।

ब—मुद्रा प्रभाग।

अ—सर्वप्रथम पाण्डुलिपि कक्ष पर दृष्टि डालते हैं। मानव ने अपने विचारों को प्रगट करने के लिए पत्थर भोजपत्र, एवं कपड़े का उपयोग किया। कागज का प्रयोग अन्त में हुआ। हस्तलिखित भोजपत्र, कपड़े एवं कागज पर पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं। संग्रहालय के संकलन में लगभग १५० हस्तलिपियां पाण्डुलिपियाँ हैं। ये संस्कृत, हिन्दी, शारदा, उड़िया, बंगला, गुरुमुखो एवं फारसी भाषा में प्रमुखतया धर्मग्रन्थ हैं। संस्कृत एवं फारसी की कुछ पाण्डुलिपियां चित्रित हैं। बंगला एवं तिब्बती भाषा की कुछ पाण्डुलिपियां तन्त्र व्यवस्था पर हैं। पाण्डुलिपियां सोलहवीं शताब्दी के आस-पास की हैं।

ब—मुद्रा प्रभाग—नगरीय सभ्यता के विकास के साथ आवश्यक वस्तुओं के विनिमय का साधन रूप में मुद्रा का बिकास हुआ। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों के आधार पर सिक्कों (मुद्रा) का प्रचलन ईसा पूर्व ६ वीं शताब्दी में भारत में प्रचलित था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मुद्रा प्रणाली के विकसित रूप का उल्लेख मिलता है। लगभग ६०० ईसा पूर्व रजत एवं ताम्र की आहत मुद्राओं का प्रचलन था। उतरोत्तर काल में ढाले गये, सिक्कों का प्रचलन हुआ। संग्रहालय के संग्रह में रजत एवं ताम्र की आहत मुद्रायें, ढाले गये प्रथम ईसा पूर्व शताब्दी के सिक्के, इण्डाग्रीक्स राजाओं की मुद्रायें, कुषाण-

कालीन सिक्के, पश्चिमी क्षत्रयों के सिक्के, गुप्तकालीन सिक्के, यौधये, उज्जैयनी, अहिच्छत्रा, कुनिंदा, राष्ट्रकूट, प्रतिहार, सातकर्णी, सातबाहन आदि के सिक्के हैं। गुलामवंश, खिलजीवंश, मुगल सिक्के एवं अन्य मुस्लिमकालीन सिक्के भी प्रदर्शित हैं। इसके अतिरिक्त विश्व के लगभग ५० देशों के सिक्के संग्रहालय में दर्शकों के लिये नियोजित हैं। कागजी मुद्रा भी प्रदर्शित है।

पूर्वी कक्ष (भूमितल)

प्रस्तर प्रतिमा कक्ष—

प्रस्तर प्रतिमाओं का प्रचलन सिन्धु सभ्यता काल में भी मिलता है। भारतीय कला क्षेत्र में इसका विकास मौर्यकाल एवं मौर्यकाल मे विशेष रूप से मिलता है। संग्रहालय में लगभग ४५० प्रतिमाओं का संग्रह है। संग्रहालय संकलन में बौद्ध, जैन एवं हिन्दु परम्परा को प्रतिमायें हैं।

मथुरा शैलो में निर्मित लाल एवं लाल चित्तोदार पत्थर की मूर्तियां शुंग एवं कुषाणकाल की हैं। शुंगकाल की प्रतिमाओं में स्तूप के प्रदक्षिणा पथ के स्तम्भ पर अंकित वृक्ष के नीचे नारी प्रतिमा—**बृक्षिका** की मूर्ति तथा कमलाहस्ति बैठी हुई लक्ष्मी की मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुषाण कालीन मूर्तियों में पद्मपाणि बुद्ध, लक्ष्मो, शेषशायो विष्णु, **एकलिंग शिव** आदि की प्रतिमायें महत्वपूर्ण हैं।

मथुरा परम्परा में गुप्तकालीन मूर्तियों का स्थान विशेष उल्लेखित है। इस शैली में लाल एवं सफेद बलुआ पत्थर पर बनी मूर्तियां यथा: पार्वती महिषासुर-मर्दिनी, विष्णु लक्ष्मी, बौधिस्तव, यक्ष एवं अवलोकेतश्वर, उल्लेखनीय हैं।

हरिद्वार एवं आस-पास के क्षेत्र से ८-१० वीं शताव्दी की विभिन्न मूर्तियों का संग्रह सुरक्षित है। इस संकलन में अधिकांशतः हिन्दू परम्परा की मूर्तियां हैं कुछ मूर्तियां जैन धर्म मान्यता की है। इस परम्परा में कांगड़ी ग्राम बिजनौर से प्राप्त जैन मन्दिर के अवरोध है। इसमें एक लघु मन्दिर के चारों ओर चार प्रमुख तीर्थंकरों यथा श्रीनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ एवं अभिनन्दन नाथ का अंकन है। हिन्दू परम्परा में महिषासुर मर्दानि, सिंहवाहनी-दुर्गा, मातृकायें, शिवपार्वती विष्णु लक्ष्मी आदि को प्रतिमायें नियोजित हैं।

झीवरहेड़ी से प्राप्त मन्दिर के पेनल पर समुद्र मन्थन, पद्मपाणि शिव, कन्नौज से प्राप्त प्रवचन मुद्रा में बौद्ध एवं खजुराहो से प्राप्त सूर्य प्रतिमा प्रमुख प्रदर्शन है। बौद्ध परम्परा को भी कुछ मूर्तियां संग्रहीत है। कनखल की भीति चित्रों के नमूने भी प्रदर्शित है।

उत्तरी कक्ष (भूमितल)

श्रद्धानन्द कक्ष--

सन् १९७७ में गुरुकुल के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन पर आधारित छाया चित्रों से यह कक्ष नियोजित किया गया। छाया चित्रों के आधार पर स्वामी के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। जीवन के अन्तिम समय में स्वामी जी द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले वस्त्र एवं अन्य वस्तुयें भी प्रदर्शित की गई हैं। स्वामी जी को प्राप्त विभिन्न वस्तुओं का संकलन भी दर्शकों के लिये रखा गया है। भिक्षुओं के भिक्षा पात्र मजूषाएं जिनपर लाख का सुन्दर कार्य किया गया है, अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

प्रथमतन्त्र—

संग्रहीत वस्तुओं की विविधता के आधार पर प्रथम तल पर कुछ विथि-काओं का नियोजन किया गया। प्रथम तल पर पूर्वी दीर्घा में होता है। जिसका नियोजन इस प्रकार है:—

सर्वप्रथम दृश्य पटल में जौनसार भावर देहरादून से प्राप्त ऐतिहासिक काल की सामग्री जिसमें राजकीय मुद्रा अंकित सम्वत् ७८९ का पाथा विशिष्ठ है।

दग्ध चूर्ण सञ्च वीथिका (Plaster Cast Gallery) —

भारतीय प्रागऐतिहासिक काल से लेकर मध्यकालीन युग तक प्राप्त दुर्लभ पुस्तर प्रतिमायें मृणमूर्तियां आदि की दग्धचुर्ण से निर्मित अनुकृतियां नियोजित हैं। इनका उपयोग जनसाधारण को भारतीय सांस्कृतिक धरोहर एवं कला का सहज ज्ञान उपलब्ध कराने में सहायक होता है। प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व के विद्यार्थियों के लिये यह वीथिका अत्यन्त उपयोगी है।

अस्त्र-शस्त्र कक्ष: —

जीवन यापन के साथ साथ मानव ने स्वत: की रक्षा हेतु उपकरणों का भी विकास किया। नुकीले पाशाण से लेकर धनुष बाण तक का अपना महत्व है। धातु के ज्ञान ने इस दिशा में चमत्कारिक योगदान दिया है। विशेषत: लौह के ज्ञान ने तो एक नयी दिशा ही प्रदान की थी। वर्तमान के स्वचलित अणु आयुधों को दृष्टिगत रखते हुये संग्रहालय के संग्रहीत अस्त्र-शस्त्र भूतकाल की तस्वीर प्रस्तुत करते हैं।

इस वीथिका में धनुष एवं बाण, लौह-निर्मित विभिन्न प्रकार के तीर फलक, विभिन्न प्रकार की तलवारें, कटारें, ढालें एवं कवच आदि प्रदर्शित हैं। है द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटिश एवं जर्मन सेनाओं द्वारा उपयोग में लायी गयी बन्दुकें, हलकी मशीन गनें तथा अन्य मशीन गने, नियोजित हैं। जन साधारण विशेषत: किशोर एवं विद्यार्थी इसमें अपनी रूचि प्रगट करते हैं।

इस वीथिका के उत्तरी पार्श्व में नियोजित दीर्घा मुख्यत: दो भागों में विभक्त है यथा— एक

गुरुकुल चित्रों के माध्यम से—

गुरुकुल से सम्बन्धित विभिन्न उपलब्ध फोटो के माध्यम से गुरुकुल के निरन्तर विकास को दर्शाने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय भाग में प्रदर्शित वस्तुओं में मुख्य है: —

भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू द्वारा उपहार स्वरूप भेंट दी गयी वस्तुऐं। वनों से प्राप्त विभिन्न प्रकार की लकड़ियों एवं उपज के नमूने। विभिन्न प्रकार के भू-गर्भीय पाषाण के नमूने, विभिन्न जन जातियों के दग्ध जूर्ण सच्च तथा हस्त-निर्मित चित्रों द्वारा मन्दिर स्थापत्य का विकास।

उत्तरी पार्श्व——

इस भाग में दो वीथिकाऐं सज्जित हैं। यथा——

युगों-युगों से भारतीत मृद्पात्र:——

इस प्रभाग में आज से लगभग ५००० ईसा पूर्व में विकसित मृद-भाण्ड कला का विकास क्रम १५०० ईसा तक नियोजित है।

हरियाणा के विभिन्न स्थानों यथा— राखीगढ़ी, मिथाथल, बनावली एवं गरोड आदि से सिन्धु सभ्यता के प्राप्त मृद् भाण्ड अवशेष प्रदर्शित हैं। राजस्थान में सिन्धु-सभ्यता के पश्चात् विकसित अहाड (बनास) सभ्यता के मृदभाण्ड, जिसमें मुख्यतः काले-लाल (Black and Red ware) रंग के मृद्भाण्ड हैं, कुछ पर सफेद अथवा क्रीम कलर में चित्रकारी की गई है, गंगा-यमुना के मैदानी भागों में विकसित गेरुए रंग वाले मृदभाण्ड (Ochre colour ware) वाली सभ्यता नसीरपुर - सहारनपुर से प्राप्त सामग्री, चित्रित भूरे रंग के मृदभाण्ड (Painted Grey ware) वाली सभ्यता: सरसावा - सहारनपुर से प्राप्त सामग्री, उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृदभाण्ड Northern Black Poleshed ware) वाली सभ्यता (सरसावा - सहारनपुर) केवल भूरे रंग के मृदभाण्ड (Plain Grey ware) वाली सभ्यता के मृदभाण्ड नियोजित हैं। कुशाण-काल से गुप्त-काल के मृदभाण्ड-वीरभद्र-देहरादून, कुन्दनपुर, सहारनपुर से मध्यकाल एवं चमकदार मृदपात्र (Glazed ware) सरसावा-सहारनपुर से प्राप्त सामग्री भी प्रदर्शित की गयी है।

प्राचीन भारतीय वेश-भूषा—

सिन्धु सभ्यता से शुंग, सातवाहन, कुषाण, गुप्त, अजन्ता, कलिंग, मुगल एवं राजस्थान के शासकों के काल में उपयोग में लायी जाने वाली वेश-भूषा, शृंगार के उपयोग में आने वाले जेवर, एवं केश सज्जा का चित्रण चित्रित कला द्वारा नियोजित किया गया है।

इसी प्रभाग के एक भाग में संस्कृत साहित्य में वर्णित पक्षियों एवं कालिदास द्वारा वर्णित पक्षियों के हस्त निर्मित चित्र भी दर्शाये गये हैं—

चित्रकला वीथिका—

केन्द्रिय कक्ष के प्रथम तल पर मानवीय सौन्दर्य जिज्ञासा की अभि-व्यक्ति माध्यम चित्रों को नियोजित किया गया है। चित्रकला मुख्यतः कागज एवं कपड़े पर की जाती है। प्राचीनकाल में कपड़ा ही आधार स्वरूप अपनाया गया था। संग्रहालय के संग्रह में कलाचित्रों का भी अच्छा संकलन है शैली के आधार पर इन चित्रों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

यथा— (अ) **मुगल शैली** : इस परम्परा के चित्र अधिकांशतः कृष्ण लीलाओं से सम्बन्धित है ।

(ब) **कांगड़ा शैली** : इस शैली के चित्र पौराणिक गाथाओं पर आधारित हैं । कृष्ण की लीलाओं को चित्रण विशेश रूप से किया गया है ।

(स) **नाथ द्वारा शैली** : इस परम्परा के चित्रों के चित्रण का विशेष आधार कृष्ण ही है । अन्य पौराणिक गाथाओं के चित्रण भी प्राप्य हैं ।

(द) **राजस्थानी शैली** : इस शैली के चित्रों में बारहमास राग-रागनियों, कृष्ण-राधा को चित्रित किया गया है ।

इसके अतिरिक्त कपड़े पर चित्रित प्राचीन राजस्थानी शैली के चित्र भी नियोजित हैं ।

दक्षिणी पार्श्व

भारतीय लिपिमाला का विकास—

इस वीथिका में मौर्यकालीन ब्राह्मीलिपि, जो भारतीय-भाषाओं के आदि लिपि हैं, से लेकर २००० वर्षों का क्रमबद्ध विकास देव नागरी एवं अन्य भारतीय लिपियों तक चित्रों द्वारा दर्शाया गया है । प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति के अध्ययन के लिये यह एक आधारभूत अध्ययन है । प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व के विद्यार्थियों के लिये विशेष उपयोगी है ।

अष्टधातु कक्ष—

अष्टधातु एवं पीतल की मूर्तियों का संग्रह भी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं । विशेषतः भारतीय कला के विद्यार्थियों के लिये ।

अष्टधातु की प्रतिमाओं का प्रचलन सिन्धु-सभ्यता काल से ही मिलता है । मोहनजोदड़ो से प्राप्त नर्तकी विश्व प्रसिद्ध है । लेकिन इस कला का विकास गुप्तकाल के बाद विशेष रूप से हुआ । संग्रहित प्रतिमाओं का काल

निर्धारण १२०० ईस्वी से १८०० ईस्वी तक किया जा सकता है। प्रतिमाओं में बौद्ध, हिन्दू एवं विविध पशु आकृतियां हैं। बौद्ध प्रतिमाओं में ध्यान मुद्रा भूमि स्पर्श मुद्रा एवं अवलोकेतर आदि की प्रतिमायें विशेष आकर्षित करती हैं। हिन्दू परम्परा में कृष्ण के विभिन रूप विष्णु, लक्ष्मी, सूर्य, काली एवं गरुड़देव की प्रतिमायें उल्लेखनीय है।

पशुबलि की आकृतियों में सिंह, अश्व हिरण आदि तथा पक्षियों में गरुड़, मोर, बत्तख आदि दर्शनीय है।

पुस्तकालय—

संग्रहालय के पास विभागीय पुस्तकालय भी है जिसमें लगभग ११०० पुस्तकों का संकलन है। प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के अध्यापकगण एवं शोधार्थी इससे काफी लाभ उठाते हैं।

गुरुकुल-पत्रिका

सम्पादक

डा० जयदेव वेदालङ्कार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य मासिकी-पत्रिका

सम्पादक-मण्डल

प्रकाशक :
डा० वीरेन्द्र अरोड़ा
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक :
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी मुद्रणालय, हरिद्वार ।

मूल्य :
२५.०० रुपये वार्षिक

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालस्य मासिकी-पत्रिका]

सम्पादक

डॉ० जयदेव वेदालंकार

न्यायाचार्य, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

रीडर-अध्यक्ष, दर्शन-विभाग

प्रकाशक

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पौष : २०४३	वर्ष : ३७	अङ्क : १३
दिसम्बर : १९८६		पूर्णाङ्क : ३८४

[मूल्य : ५.०० रुपये

❁ विषय-सूची ❁

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालस्य मासिकी-पत्रिका]

पौष : २०४३ | वर्ष : ३७ | अङ्क : १३
दिसम्बर : १९८६ | | पूर्णाङ्क : ३८३

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्याम् । पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि । ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेणभानुना दीद्यतम् । शिवं प्रजाभ्योऽहि सन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्नि पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामः ॥ यजु.अ.११, मं.२८ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) भूगर्भ तथा शिल्पविद्या के जानने हारे विद्वान् ! जैसे मैं (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्न करने हारे (देवस्य) प्रकाशमान ईश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये संसार में (अश्विनोः) आकाश और पृथ्वी के (बाहुभ्याम्) आकर्षण तथा धारणरूप बाहुओं के समान और (पूष्णः) प्राण के (हस्ताभ्याम्) बल और पराक्रम के तुल्य (त्वा) आपको आगे करके (पृथिव्याः) भूमि के (सधस्थात्) एक स्थान से (पुरीष्यम्) पूर्ण सुख देने हारे (ज्योतिष्मन्तम्) बहुत ज्योति वाले (अजस्रेण) निरन्तर (भानुना) दीप्ति से (दीद्यतम्) अत्यन्त प्रकाशमान (पुरीष्यम्) सुन्दर रक्षा करने (अग्नि) वायु में रहने वाले बिजली को (अङ्गिरस्वत्) सूत्रात्मा वायु के समान (अहिंसन्तम्) जो कि ताड़ना न करे ऐसे (पुरीष्यम्) पालने हारे पदार्थों में उत्तम (प्रजाभ्यः) प्रजा के लिए (शिवम्) मङ्गलकारक (अग्निम्) अग्नि को (खनामः) प्रकट करते हैं, वैसे सब लोग किया करें !

भावार्थ—जो राज्य और प्रजा के पुरुष सर्वत्र रहने वाले बिजली रूप अग्नि को सब पदार्थों से साधन तथा उपसाधनों के द्वारा प्रसिद्ध करके कार्यों में प्रयुक्त करते हैं वैसे सब लोग किया करें, वे कल्याणकारक ऐश्वर्यों को प्राप्त होते हैं। कोई भी उत्पन्न हुआ पदार्थ बिजली की व्याप्ति के बिना नहीं रहता ऐसा तुम सब लोग जानो। (महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य से)

सम्पादकीय—

अमर हुतात्मा-स्वामी श्रद्धानन्द

गुरुकुल की स्थापना के साथ साथ एक ऐसे युग का सूत्रपात हुआ, जिसे शिक्षा के क्षेत्र में इस युग का आविष्कार का युग कहा जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा आन्दोलन स्वामी श्रद्धानन्द ने केवल अपने बच्चों सहित मुट्ठी भर बालकों से प्रारम्भ किया था।

श्री एण्ड्रयूज ने गुरुकुल कांगड़ी में कहा था कि महात्मा जी आपके इस आश्रम में काव्य का अभाव है। स्वामी जी ने तुरन्त उत्तर दिया कि—

Mr. Andreues, there they sing poetry but here it lives is lives.

अर्थात् वहां शान्ति निकेतन में काव्य कण्ठ में निवास करता है, परन्तु यहां पर जीवनों में निवास करता है। उसके बाद जब एण्ड्रयूज गुरुकुल में कुछ दिन रहे तो उन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द से कहा वास्तव में आप एक ऐसे भारत का निर्माण कर रहे हैं जो तपस्या की भट्टी में तपे हुए सुनागरिकों का समाज होगा। एक बार स्वामी जी ने अपने ब्रह्मचारियों को उपदेश देते हुए कहा था 'यह तुम्हारा आश्रम (होस्टल) आदर्श ब्रह्मचारी दयानन्द का ब्रह्मचर्य आश्रम है। तुम्हें भी दयानन्द के लिए हनुमान् की वृत्ति धारण करनी चाहिए तुम्हें कोई अमूल्य से अमूल्य प्रलोभन भी दे तो उसे तोड़ कर देख लो उसमें ब्रह्मचारी दयानन्द ने लिखा कि नहीं ? जिसमें वह न मिले, वह कितना ही मूल्यवान् क्यों न हो, तोड़ कर फेंक दो'।

निर्भयता की प्रतिमूर्ति—

स्व० जवाहलाल नेहरु स्वामी श्रद्धानन्द के व्यक्तित्व का चित्रण करते हुये अपने आत्म चरित में लिखते हैं कि ऐसा भव्यमूर्न्तिमय स्वामी श्रद्धानन्द का दिव्य शरीर था जिस में दो देदीप्यमान आत्म विश्वास को तथा निर्भीकता को लिये हुये तेज आंखे थीं, जिनके सम्मुख बड़े से बड़े व्यक्ति की आंखे झुक जाती थी।

चांदनी चौक की वह घटना कि कांग्रेस का जलूस निकल रहा था। पुलिस ने अपनी बन्दूक तानकर कहा था जो आगे बढ़ेगा, उसे गोली से भून दिया जायेगा। उस आत्म बलिदानी स्वामी श्रद्धानन्द ने कहा था यह जलूस नहीं रुकेगा ? अपनी छाती के बटन खोलकर वह आगे बढ़े। इस तरह जलूस आगे बढ़ने लगा, विवश होकर अंग्रेज पुलिस आफीसर ने घोड़ा पुलिस को पीछे हटने का आदेश दिया। यह घटना सिद्ध करती है कि उस संन्यासी में कितना अदम्य साहस था।

जब स्वामी श्रद्धानन्द ने महात्मा गांधी के आन्दोलन में सम्मिलित होने का निर्णय लिया था, उस समय वायसराय काँप गये थे, उन्होंने प्रत्येक जिलाधीश को तार में लिखा था—

The agitation is proceeding aspace Mahatama Munshi Ram, who has now assumed the name of Swami Shradhananda, has joined hands with Gandhi. He has been a well known religious head for a long time and has gained considerable reputation as social reformer also. He appears to be anxious to gain notoriety as a political agitator too. It is still to be seen what stamina he has got when time for suffering comes. His elder son was for some time the guest of the well known revolutionist at Buenossd Ayres. His younger son is running as anti Government Vernacullar daily in Delhi. Let us wait and see.

इस उपर्युक्त तार से यह अच्छी तरह ज्ञात होता है कि धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र में स्वामी जी का कितना अधिक महत्त्व था। वायसराय भी स्वामी जी के व्यक्तित्व से कितना डरता था।

उद्भुत आत्मिक शक्ति—

कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द जी प्रतिदिन घण्टों बैठकर ईश्वर की भक्ति करते थे। चाहे वे यात्रा में हों, कितने ही व्यस्त क्यों न हो कभी भी सन्ध्या वन्दना बिना नहीं रहते थे। इसी का कारण था कि महींनों-महीनों लगातार कार्य करने की क्षमता उनमें थी कभी भी उनके चेहरे पर थकावट नहीं आती थी।

शिष्यों से पितृ-मातृवत् स्नेह—

गुरुकुल के समस्त ब्रह्मचारी उन्हें पिताजी की दृष्टि से देखते थे। सभी यह समझते थे कि स्वामी जी मुझ से अधिक स्नेह करते हैं। कितने ही ऐसे छात्र थे जिनके माता-पिता मिलने नहीं आते थे वे स्वामी जी से मिलकर, पिता से मिलकर आने का अनुभव करते थे।

दिव्य सन्देश—

स्वामी श्रद्धानन्द जी अपने शिष्यों से कहा करते थे कि "वैदिक धर्म" कोई सम्प्रदाय नहीं है, यह वह सनातन धर्म है जिसके बिना संसार की सामाजिक व्यवस्था एक पल भर के लिये भी नहीं रह सकती है।

❀ **प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।**

❀ **सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।**

सत्यार्थ प्रकाश के विभिन्न भाषानुवाद

डा० भवानी
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

विभिन्न भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में सत्यार्थप्रकाश के अनुवादों एवं अनुवादकों की जानकारी प्राप्त करना भी कम मनोरञ्जक नहीं है। वस्तुत: उर्दू प्रथम भारतीय भाषा थी जिसमें सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद गत शताब्दी के अन्त तक हो चुका था। आर्य प्रनिनिधि सभा पंजाब ने सत्यार्थ प्रकाश का उर्दू अनुवाद कराने का दायित्व लिया। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् उनको विचारधारा को अपनाने वालों में पंजाब निवासी हिन्दू ही सबमे आगे थे। उनमें हिन्दी भाषा का प्रचार तो नाम मात्र को ही था और वे प्राय: उर्दू, फारसी तथा अंग्रेजी का ही प्रयोग करते थे। यद्यपि आर्य समाज द्वारा आर्यभाषा (हिन्दी) को महत्व दिये जाने के कारण पंजाब के आर्य समाजियों में हिन्दों का प्रचलन बढ़ रहा था किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक तो पंजाब की आर्यसमाजों की कार्यवाही बहुत कुछ उर्दू में ही लिखी जाती थी। ऐसी दशा में सत्यार्थप्रकाश की संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को समझना उनके लिये कठिन था। फलत: इस ग्रन्थ के उर्दू अनुवाद की की आवश्यकता अनुभव की गई।

सत्यार्थप्रकाश के उर्दू अनुवाद का कार्य दो व्यक्तियों के सुपुर्द किया गया। ये थे पं० रैमलदास तथा पं० आत्माराम। पं० रैमलदास डी.ए.वी. कालेज लाहौर में संस्कृत के अध्यापक थे। उनके सम्बन्ध में सत्यार्थप्रकाश के प्रथम उर्दू अनुवाद की भूमिका में निम्नलिखित पंक्तियाँ मिलती हैं—

पं० रैमलदास के नाम से अक्सर आर्यसमाजी भाई वाकिफ हैं। उनकी तारीफ में ज्यादह तहरीर की जरूरत मालूम नहीं होती। यह वह दृढ़ आर्य हैं कि जो वैदिक धर्म के असूलों से कमाल दर्जा की वाकफियत रखते हैं और मेरा तजुरबा है कि आर्य समाज में उनके बराबर आर्य सिद्धान्तों पर अमल दरामद करने वाले सिर्फ चन्द ही महात्मा होंगे। स्वामी जो पक्के भक्त और पैरों हैं और कोई राय स्वामी जी की ऐसी नहीं है कि जिसकी तफतीश

और तहकीक करके उन्होंने निश्चय न कर लिया हो और वह हर वक्त तैयार रहते हैं कि कोई शख्स उनसे स्वामी जी के किसी सिद्धान्त पर बहस करें।

इस भूमिका से यह भी ज्ञात होता है कि दोनों अनुवादकों को सत्यार्थ-प्रकाश के विभिन्न समुल्लास अनुदित करने के लिए बांट दिये थे। यह व्यवस्था इस प्रकार की गई—पं० रैमलदास प्रथम, तृतीय, षष्ठ, सप्तम, नवम, दशम व द्वादश समुल्लास तथा स्वमन्तव्यामन्तव्य। पं० आत्माराम--द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम, अष्टम, एकादश, त्रयोदश एवं चतुर्दश समुल्लास।

सभा को सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद कराके ही सन्तोष नहीं हुआ। उसने इस अनुवाद की जांच कराने के लिये निम्न महानुभावों को नियुक्त किया जिन्होंने भिन्न-भिन्न समुल्लासों के अनुवाद की सम्यक् परीक्षा की–मुन्शी नारायण कृष्ण (उपप्रधान गुजरांवाला आर्य समाज) तथा नाना रलाराम (प्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब) इन्होंने समुल्लास संख्या १, २, ३, ६, ७, व ९ को देखा। लाला मुन्शीराम (भूतपूर्व प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब) ने ११, १३ व १४वें समुल्लासों के अनुवाद को देखा। राम ठाकुरदत्त धवन (एक्स्ट्रा एसिस्टेंट कमिश्नर) ने चतुर्थ व दशम समुल्लास को देखा।

बाबू निहालसिंह (ट्रेजरा क्लर्क) ने समुल्लास संख्या ५, ८ व १२ के अनुवाद की जांच की।

इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश के उर्दू अनुवाद की पूरी तरह से जांच कराने के पश्चात आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने अगस्त १८९९ ई० में सात हजार प्रतियों का इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित किया। अनुवाद का नाम था मुस्तनिद उर्दू सत्यार्थप्रकाश। देश विभाजन के पूर्व तक इसके अनेक संस्करण छपे। कुछ संस्करण राजपाल एण्ड संस लाहौर ने भी प्रकाशित किये। भारत के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब ने १९६१ ई० में उर्दू सत्यार्थप्रकाश का २००० प्रतियों का नवीन संस्करण प्रकाशित किया।

हमारी सूचना के अनुसार श्री जीवनदास पेंशनर ने भी सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद किया था पेंशनर महोदय वर्षों तक आर्यसमाज लाहौर के पदाधिकारी रहे थे। स्वामी दयानन्द की अन्तिम रुग्णावस्था के समय वे महाराज की सेवा हेतु पं० गुरुदत्त के साथ अजमेर गये थे। इनका यह अनुवाद ११वें

समुल्लास पर्यन्त ही था। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध साहित्यकार पं० चमूपति ने भी पंजाब प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा की आज्ञा से १९३७ में इस ग्रन्थ का उर्दू अनुवाद आरम्भ किया। वे अभी दस समुल्लासों का ही अनुवाद कर पाये थे कि इसी वर्ष जून मास में उनका निधन हो गया। दो वर्ष पश्चात् १९३८ ई. में पं. चमूपति कृत यह अनुवाद 'अनवारे हकीकत' शीर्षक से पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा ने प्रकाशित किया। एक अन्य अनुवाद मेहता राधाकृष्ण ने भी किया था। मेहता जी पुरानी पीढ़ी के आर्यसमाज के वरिष्ठ लेखकों में थे जिन्होंने देवसमाज के खण्डन में अनेक ग्रन्थ लिखे थे। हमारी सूचना के अनुसार मेहता जी ने अनुवाद तो १८९७ में ही कर लिया था, किन्तु उसका प्रथम बार प्रकाशन सर्वहितकारी प्रेस लाहौर से १९०५ ई. में हुआ कालान्तर में आर्य प्रतिनिधि सभा ने इसी अनुवाद के अनेक संस्करण प्रकाशित किये। इस लेख का लेखक उर्दू भाषा से अनभिज्ञ है अत: उसने सत्यार्थप्रकाश के उर्दू अनुवादों के सम्बन्ध में जो जानकारी एकत्र की है वह प्राथमिक स्रोतों के आधार पर नहीं है। अच्छा हो कि कोई उर्दू का जानकार इतिहासज्ञ एतद् विषयक प्रामाणिक तथ्यों का संग्रह करे।

उर्दू के पश्चात् गत शताब्दी में ही पंजाबी (गुरुमुखी लिपि) में सत्यार्थ प्रकाश का अनुवाद पं. आत्माराम अमृतसरी ने किया। इसका प्रथम संस्करण १८९९ ई० में तथा द्वितीय १९१२ ई. में अमृतसर से छपा। इसके पश्चात् पंजाबी का अनुवाद छपने का कोई अवसर ही नहीं आया। आज जबकि पञ्जाबी भाषा को पञ्जाब राज्य की राजभाषा का स्थान प्राप्त हो चुका है और उसमें दिन प्रतिदिन उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हो रहा है, यह नितान्त आवश्यक है कि पञ्जाबी सत्यार्थप्रकाश का यथाशीघ्र प्रकाशन किया जाय।

इस शताब्दी के प्रथम दशक में बंगला, गुजराती तथा मराठी में सत्यार्थ प्रकाश के अनुवाद छपे। बंगला अनुवादक अजमेर निवासी श्री मोतीलाल भट्टाचार्य नामक सज्जन थे। यह अनुवाद वैदिक मंत्रालय अजमेर ने भारत-मिहिर यंत्रालय कलकत्ता से मुद्रित करवा कर १९०१ ई. (१३०८ बंगाब्द) में प्रकाशित किया। कालान्तर में प्रसिद्ध बंगाली आर्य विद्वान् पं. शंकरनाथ ने सत्यार्थप्रकाश का बंगला रूपान्तर किया जो एकाधिक बार छपा। पं. दीनबन्धु वेदशास्त्री पं. शारदाप्रसाद वेदशास्त्री तथा पं. प्रियदर्शन सिद्धान्त-भूषण ने विभिन्न बंगला संस्करणों का सम्पादन किया। सत्यार्थ प्रकाश के

प्रथम गुजराती अनुवादक पं. महाशंकर जयशंकर द्विवेदी थे। इसके विषय में हमारी जानकारी नगण्य है। यह अनुवाद १९०५ ई. में जगदीश्वर प्रेस मुम्बई से छपा था। कालान्तर में प्रसिद्ध विद्वान पं.मायाशंकर शर्मा ने इस ग्रन्थ का गुर्जर भाषान्तर किया। यह अनुवाद ही आज गुजरात में सर्वत्र प्रचलित है। पं. मयाशंकर शर्मा (१८८७-१९६९) का जन्म सौराष्ट्र प्रान्त के लाठी नामक कस्बे में हुआ था। अध्ययन के उपरान्त ये तत्कालीन प्रान्त में अनेक गुरुकुलों के आचार्य पद पर रहे। इन्होंने स्वामी जी के कतिपय ग्रन्थ ग्रन्थों का गुजराती अनुवाद किया था। गुजराती भाषा में इन्होंने षड्दर्शनों के भाष्य भी लिखे।

सत्यार्थप्रकाश के मराठी अनुवादक थे--सर्वश्री श्रीदास विद्यार्थी, पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर तथा स्नातक सत्यव्रत विद्यार्थी कृत अनुवाद १९०७ में बम्बई से प्रकाशित हुआ जब कि पं. सातवलेकर कृत अनुवाद आर्यसमाज कोल्हापुर से अनेक बार छपा। स्नातक सत्यव्रत का अनुवाद १९३२ में सेठ भागोजी बाल जी कीर ने प्रथम बार प्रकाशित किया। पुनः लक्ष्मणराव ज्ञानोजी ओघले ने इसे १९५६ ई. में प्रकाशित किया। स्नातक सत्यव्रत बम्बई के प्रख्यात आर्य विद्वान हैं। उन्होंने महर्षि चरितामृतम् शीर्षक संस्कृत नाटक का प्रणयन किया है तथा संस्कार विधि का मराठी रूपान्तर भी प्रकाशित किया है पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर प्रसिद्ध वैदिक विद्वान थे। इन्होंने वैदिक विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

दक्षिणी भारत की चार प्रसिद्ध भाषाओं में सत्यार्थ-प्रकाश के अनुवाद का कार्य इस शताब्दी के तृतीय तथा चतुर्थ दशकों में सम्पन्न हुआ। तमिल अनुवादक थे—एम.आर. जम्बुनाथन, श्री कन्हैया और स्वामी शुद्धानन्द-भारती। अन्तिम दो अनुवादकों के सम्बन्ध में हमारी जानकारी नगण्य सी है। श्री जम्बुनाथन ने तमिल भाषा में चारों वेदों का अनुवाद किया है। उनका जन्म २३ अगस्त १८९६ को तमिलनाडु के तिरुचिरापल्ली जिले के मनक्कल ग्राम में हुआ। उन्होंने तमिल भाषा में स्वामी दयानन्द तथा स्वामी श्रद्धानन्द के जीवनचरित भी लिखे थे। १८ दिसम्बर १९७४ को बम्बई में उनका निधन हुआ। सत्यार्थ प्रकाश के तेलुगू अनुवादक ए. सोमनाथराव थे जो निजाम राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा के उपदेशक थे। यह अनुवाद प्रथम था। १९३३ में छापा। कन्नड़ अनुवादकों के नाम हैं--श्री भास्कर पन्त, श्री सत्य-

पाल स्नातक तथा पं. सुधाकर चतुर्वेदी। अन्तिम महानुभाव बंगलोर निवासी हैं तथा इन्होंने १९६१ में बंगलौर से ही वैदिक मैगजीन शीर्षक एक त्रैमासिक पत्रिका निकाली थी, जो दीर्घजीवी नहीं हो सकी। मलयालम में सत्यार्थ-प्रकाश का प्रथम अनुवाद आर्य प्रादेशिक सभा द्वारा कराया गया। अनुवादक थे ब्रह्मचारी लक्ष्मण और यह अनुवाद १९३३ ई. में केरल आर्य समाज मिशन कालीकट द्वारा प्रकाशित हुआ। हाल ही में वैदिक साहित्य परिषद् चेंगनूर द्वारा श्री नरेन्द्र भूषण कृत मलयालम अनुवाद प्रकाशित किया गया है।

अब हम यूरोपीय भाषाओं में सत्यार्थ प्रकाश के अनुवादकों की चर्चा करें यूरोप की केवल तीन भाषाओं में सत्यार्थ-प्रकाश के अनुवादक हुये हैं। अंग्रेजी में प्रथम अनुवाद डा. चीरंजीव भारद्वाज का है जो १९०६ ई में प्रकाशित हुआ। डा भारद्वाज पंजाब के निवासी थे और इंगलैण्ड से उन्होंने एम.डी. की उपाधि प्राप्त की। वैदिक धर्म प्रचारार्थ वे बर्मा तथा मारिशिस आदि देशों में गये। उनके द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद अब तक पांच बार छपा है। प्रथम संस्करण तो १९०६ में लाहौर से ही छपा था। द्वितीय संस्करण १९१५ में आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश ने प्रकाशित किया। राजपाल एण्ड संस लाहौर ने १९२७ में तृतीय संस्करण, आर्य समाज मद्रास ने १९३२ में चतुर्थ संस्करण तथा सार्वदेशिक सभा ने १९७५ में पञ्चम संस्करण प्रकाशित किया।

मास्टर दुर्गाप्रसाद ने सत्यार्थ-प्रकाश का एक अन्य अंग्रेजी अनुवाद किया जो १९०८ में विरजानन्द प्रेस लाहौर से छपा। मास्टरजी स्वामी श्रद्धानन्दजी के निकट सहयोगी तथा गुरुकुल दल के कट्टर पक्षपोषक थे। वे लाहौर के डी.ए.वी.स्कूल के माध्यमिक विभाग के मुख्याध्यापक भी रहे थे, किन्तु उनका कार्यक्षेत्र पंजाब ही रहा। मास्टर दुर्गाप्रसाद कृत इस अनुवाद को १९७० में जनज्ञान-प्रकाशन दिल्ली ने दुबारा प्रकाशित किया। १९७२ में इसकी द्वितीयावृत्ति निकली। सत्यार्थ-प्रकाश के परिष्कृत अंग्रेजी अनुवाद की आवश्यकता अनुभव करते हुए प्रसिद्ध आर्य साहित्यकार पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय ने १९४६ ई. में इसका एक अन्य अनुवाद प्रकाशित किया। उस समय तक डा. चिरंजीव भारद्वाज तथा मास्टर दुर्गाप्रसाद के संस्करण अलभ्य हो चुके थे और सिंध में मुस्लिम लीगी सरकार द्वारा सत्यार्थ-प्रकाश के १०वें समुल्लास की जब्ती के आन्दोलन ने इस ग्रन्थ के बारे में अंग्रेजी पठित वर्ग को

जिज्ञासा को भी बढ़ाया था। उन्हीं परिस्थितियों में उपाध्याय जी का यह अनुवाद प्रकाशित हुआ। १९६० तथा १९८१ ई. में इसके दो अन्य संस्करण भी छपे। भाषा सौष्ठव तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से इसी अनुवाद को श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

परोपकारिणी सभा के आग्रह से मेरठ के रायबहादुर रतनलाल ने सत्यार्थ प्रकाश का एक अन्य अंग्रेजी अनुवाद भी किया था, किन्तु वह अप्रकाशित ही रहा। इस अनुवाद की पाण्डुलिपि सभा के पुस्तक संग्रह में सुरक्षित है। फ्रेंच भाषा में अनुवाद करने वाली एक महिला थी जिनका नाम लुई मोरिन था। यह अनुवाद प्रथम बार ब्रूसेल्स (बेलजियम) से १९४० में तथा द्वितीय बार मारिशस से १९७५ ई. में प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद दस समुल्लास पर्यन्त ही है। जर्मन भाषा में सत्यार्थ-प्रकाश अनुवादक पाकिस्तान के मियांवाली जिले के ग्राम बोरीखेल, निवासी डा. दौलतराम देव थे। लियजिग (जर्मनी) में मुद्रित यह अनुवाद १९३० में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा प्रकाशित किया गया।

सिंधी भाषा में सत्यार्थ-प्रकाश का अनुवाद करने का श्रेय पं. जीवनलाल आर्य को है। आर्य समाज में प्रविष्ट होने से पूर्व ये नवाबशाह जिले के कुण्डी नगर नामक स्थान में गद्दीधारी महन्त थे। अपने शिष्य द्वारा प्रदत्त सत्यार्थ-प्रकाश को पढ़ने से इनके विचारों में परिवर्तन हो गया और ये आर्य समाजी बन गये। सिंधी सत्यार्थ-प्रकाश का प्रथम बार प्रकाशन उस प्रान्त की आर्य-प्रतिनिधि सभा ने किया। कालान्तर में गोविन्द दास हासानन्द १९४२ सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा १९४६ तथा अजमेर के हकीम वीरुमल आर्य प्रेमी ने इसके पृथक्-पृथक् संस्करण प्रकाशित किये। उड़िया भाषा में सत्यार्थ प्रकाश के अनुवाद का श्रेय श्रीवास पण्डा को है। उड़ीसा के गंजाम जिले के एक ब्राह्मण परिवार में पण्डा जी का जन्म हुआ था। वे सम्पन्न जमींदार परिवार के थे। बी.ए. तक शिक्षा ग्रहण कर लेने के पश्चात् वे सरकारी सेवा में आये और सब-रजिस्ट्रार के पद पर कार्य करते रहे। महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित असहयोग आन्दोलन से प्रेरणा प्राप्त कर पण्डा जी ने राजकीय सेवा से त्याग-पत्र दे दिया और स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेकर कारावास का दण्ड भोगा। उनका अवशिष्ट जीवन आर्य समाज के प्रचार-प्रसार में व्यतीत हुआ। १९४३ में उनकी मृत्यु हुई। श्रीवास पण्डा कृत सत्यार्थ-प्रकाश का उड़िया अनुवाद १९२७ तथा १९३७ में दो बार छपा। कालान्तर में

पं. लक्ष्मीनारायण शास्त्री ने एक अन्य अनुवाद किया जिसे उत्कल साहित्य संस्थान ने १९७३ में प्रकाशित किया है।

आसाम में आर्य समाज का प्रचार नगण्य सा ही है। तथापि असमिया में सत्यार्थ-प्रकाश का अनुवाद श्री परमेश्वर कोती ने किया जो आर्य-समाज गुवाहाटी से १९७५ ई. में प्रकाशित हुआ। पड़ोसी देश नेपाल की भाषा नेपाली में सत्यार्थ-प्रकाश के अनुवाद का श्रेय श्री दिलुसिंग राई (जन्म १९२२ वि., निधन २०११ वि.) को है। पं. दिलुसिंग राई का संक्षिप्त परिचय नेपाली भाषा में अनूदित संस्कार विधि (२०३४ वि. में प्रकाशित) के प्रारम्भ में श्री जगत छेत्री द्वारा लिखा गया है। इससे विदित होता है कि श्री राई ने एक सम्पन्न परिवार में जन्म लिया था। उन्होंने अभ्यास से ही संस्कृत तथा अंग्रेजी का अध्ययन किया। उनके द्वारा किये गये सत्यार्थ-प्रकाश के नेपाली अनुवाद का प्रकाशन दार्जिलिंग से १९३१, १९३६ तथा १९६३ ई. में तीन बार हो चुका है।

सत्यार्थ-प्रकाश का बर्मा भाषानुवाद बौद्ध भिक्षु ऊकित्तिमा (जन्म २४-अगस्त १९०२) ने किया। ऊकित्तिमा का जन्म बर्मा के अराकान्त प्रान्त के एक ग्राम में हुआ। ७ वर्ष की आयु में वे भिक्षु बने। १९४१ में भारत आये पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय की प्रेरणा से भिक्षु जी ने यह अनुवाद किया जो आर्य-समाज रंगून द्वारा १९५९ में प्रकाशित हुआ। चीनी अनुवाद भी उपाध्याय की प्रेरणा से डा. चारू ने किया जो १९५८ में हांगकाँग से प्रकाशित हुआ। अफ्रीका की स्वाहिली भाषा में भी इस ग्रन्थ का अनुवाद हो चुका है। इसके अनुवादक तथा प्रकाशक की जानकारी अपेक्षित है।

दयानन्द एवं शंकराचार्य के मोक्ष विषयक विचार :

'एक आलोचनात्मक अध्ययन'

रवीन्द्रकुमार, मेरठ

भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन ने देशकाल की परिस्थितियों से प्रभावित होकर विभिन्न विचारधाराओं का समन्वय किया है। वैचारिक क्रान्तियों के परिप्रेक्ष में दार्शनिकों ने समाज का निरोक्षण कर आत्मिक चिन्तन से दर्शन को सदैव नवीन दिशायें प्रदान की हैं। इसी लम्बी चिन्तनमाला में आस्तिक तथा नास्तिक दोनों धारायें बही हैं अर्थात् कभी वेदों को चिन्तन का आधार माना गया तथा कभी इनको नकारा गया। इतने पर भी सदैव अज्ञात तत्त्व पर विचार होता रहा है।

संसार को रचना क्यों हुई ?

इसका क्या प्रयोजन है ?

इसका रचनाकार कौन है ? आदि विचारों ने सभी को चिन्तन हेतु बाध्य किया। चिन्तन में मानवीय वेदनाओं से मानव को मुक्ति दिलाने के प्रयोजन मे प्रायः सभी ने विचार किया। समस्याओं में सूक्ष्म रूप से भिन्नतायें भी रही हैं, किन्तु अन्तिम लक्ष्य समान रहा है तथा वह है दुःख मुक्ति।[1] यह सांसारिक जीवन दुःखमय है। इस हेतु सभी दुःख मुक्ति को महत्वपूर्ण स्थान पर रखते हैं। केवल व्यष्टि की नहीं अपितु समष्टि की दुःख मुक्ति समस्त दार्शनिकों का उद्देश्य रहा है। प्रत्येक तत्त्वविद् ने अपने वर्तमान सामाजिक वातावरण को देखकर तत्कालीन व्यक्तिगत जीवन को ध्यान में रखकर तथा यह देखकर कि "प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्त दुःखमुक्ति कराने में मानव का यथोचित पथ-प्रदर्शित नहीं कर पा रहे हैं" अपने ढंग से पृथक् विचारधारा को जन्म दिया दर्शन में किसी एक के सिद्धान्त को पूर्ण सत्य कहकर स्वीकार करना असम्भव है क्योंकि प्रत्येक विचारधारा का उद्गम अपनी परिस्थितियों के अनुसार हुआ

१. भारतीय नीतिशास्त्र—डा० दिवाकर पाठक, पृष्ठ ३६

है। जो परिस्थितियाँ दो हजार वर्ष पूर्व की थी वे वर्तमान की नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, दो हजार वर्ष पूर्व एक मनुष्य अपने जीवन के उत्तरार्ध वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम को सामान्य समाज से अलग होकर निभा सकता था, किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में रहकर जहाँ परिवार का प्रत्येक सदस्य रोटी जुटाने में व्यस्त है, मनुष्य कैसे जीवन का उत्तरार्ध वनों में कैसे व्यतीत करेगा तथा पूर्वजों की भांति कैसे उस काल में आध्यात्मिक चिन्तन करेगा? अतः यह सर्वथा सत्य है कि समयानुसार दर्शन के चिन्तनात्मक आयाम परिवर्तित हो जाते हैं।

भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन श्रृंखला में दो महान् दार्शनिक जगद्गुरु शंकराचार्य एवं महर्षि दयानन्द सरस्वती ऐसे हुए हैं जिन्होंने देशकाल की परिस्थितियों से जूझकर चिन्तन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। मुक्ति पर दोनों ने गम्भीर एवं क्रमबद्ध चिन्तन कर साधना के मार्गों को स्पष्ट किया। यह साधना समान है जो कि यहां विचारणीय विषय भी है। आगे बढ़ने से पूर्व यह भी आवश्यक है कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों पर दृष्टिपात किया जाये।

शंकराचार्य एवं तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियां—

जैन एवं बौद्ध दार्शनिकों के नास्तिकता के प्रचार, बाह्य आक्रमणों से उत्पन्न धर्म-हानि आदि पर पूर्ण दृष्टि डालकर उत्पन्न नास्तिकता के तूफान को रोकने के लिए कि कहीं मानव-पथ विचलित न हो जाए शंकराचार्य ने एक प्रबल दार्शनिक सिद्धान्त को जन्म दिया तथा इस परिप्रेक्ष में नश्वर विश्व से ध्यान हटाने के लिए "ज्ञाम-मार्ग" का प्रतिपादन किया 'अहं ब्रह्मास्मि' का उपदेश देकर उन्होंने मानवीय आत्म-जेतना को उन्होंने मिथ्या प्रमाणित कर दिया और मानव विश्व को आत्म-ज्ञान तथा अमरता का बोध करा दिया। अतः मानव के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का निर्धारण करने के लिए शंकराचार्य ने अद्वितीय दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना की।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के शब्दों में—

"जिस समय वैदिक धर्म, वेद विरोधी साम्प्रदायिक तत्त्वों से आक्रान्त हो गया वैदिक मर्यादा छिन्न-भिन्न होने लगी उस समय देवी देवगण तथा मनुष्यों ने धर्म-रक्षा हेतु त्रिशूल पाणि भगवान की हार्दिक आराधना की, उन सबको

सांत्वना देकर आशुतोष भगवान शंकर दक्षिणी भारत में काल प्रान्त को कालड़ी ग्राम में एक वेदज्ञ सम्पन्न ब्राह्मण एवं शिवगुरु व विशिष्टा के यहां पूर्व संम्वत् ७४५ में अविर्भूत हुए।[२]

वेद विरोधी मत खण्डन करके वैदिक-धर्म का प्रचार करना जगद्‌गुरु का सर्वाधिक प्रयास रहा। इसके लिए आत्मा व ब्रह्म में एकत्व या अद्वैत को दर्शाया। जड़त्व के पूजन जड़त्वोपसना और जड़त्व में तल्लीन आत्मा को जड़त्व से पृथक् करके उसके सत् चिरन्तन शाश्वत स्वरूप का प्रदर्शन करने की उस महापुरुष ने चेष्टा की। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में एक अतुलनीय महाप्रयास शङ्कर जी के विचारों में मिलता है। मानवीय बुद्धि को यह विचारने के लिए कि क्या शरीर ही आत्मा है या इस जड़ शरीर से पृथक् चेतना का कोई अस्तित्व भी है उन्होंने बाध्य कर दिया इस प्रकार पुनः दार्शनिक चिन्तन में एक नवीन अध्याय आरम्भ हुआ।

मैं कौन हूँ ?
मैं कहां से आया हूँ ?
मेरा उद्देश्य क्या है ?
मुझे क्या करना है ? आदि प्रश्नों को मनुष्यों के सम्मुख रखकर उसे विचार करने हेतु प्रेरित किया। नास्तिकता एवं जड़त्व की सार्वभौतिक विश्वसनीयता की परिस्थितियों ने शङ्कराचार्य को आत्मज्ञान का प्रचार करने हेतु प्रेरित किया।

महर्षि दयानन्द एवं तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियां--

दो हजार वर्ष पूर्व जो वैदिक धर्म था उसमें पुनः ह्रास प्रारम्भ हुआ तथा यहां तक स्थिति आ गई कि वेद निहित सत्य को मनमाने तथा गलत ढंग से प्रस्तुत किया जाने लगा। पाखण्डों की बहुलता हो गई शङ्कराचार्य द्वारा जो धर्म की पुनर्स्थापना की गई थी वह प्रभावहीन होने लगी। भारतवासी जनता पुनः अज्ञानता के अन्धकार में भटकने लगी, ऐसे समय में एक बार पुनः गुजरात के काठियावाड़ क्षेत्र में मूलशङ्कर नामक महान् आत्मा अवतरित हुई। यही महान् आत्मा आगे चलकर महर्षि दयानन्द सरस्वती के नाम से जगत् प्रसिद्ध हुई।

---

२. **ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य--सत्यानन्दी दीपिका, पृष्ठ ७**

जब शङ्कर अपना उद्देश्य पूर्ण करके चल दिया मानवीय दुर्बलताओं ने भारतीयों को पुनः घर दबोचा। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ईश्वर बन बैठा, शान्ति कोसों दूर भागी। प्रकृति के नियमों का सामना करने की शक्ति न रखते हुए मनुष्यों के हृदयों ने जब साक्षी दी कि वे ईश्वर नहीं हो सकते तब विश्वास की शिथिलता ने आ दबाया। प्रत्येक मनुष्य या वस्तु जो भयानक अथवा विचित्र दिखाई दी उसी को अविद्याग्रस्त भारत ने अपना इष्टदेव ठहराया। ऐसी हलचल उत्पन्न हुई कि किसी भी सिद्धान्त पर विवेक नहीं रहा। ऐसे तूफानी समय में पाश्चात्य विज्ञान तथा नास्तिकता एक ओर तथा जड़ की मनुष्य द्वारा पूजा दूसरी ओर भारतवासियों को अपना घास (चारा) बनाने के लिए आ खड़ी हुई। समय में निरन्तर भयानकता आ गई। चारों ओर से टकटकी लग रही थी कि इस काल की व्यवस्थानुसार आरोग्यप्रद सिद्धान्त चलाने के लिए ऋषि कब प्रकट होता है कि महर्षि दयानन्द का आविर्भाव हुआ।[3]

इस प्रकार उहरोक्त उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि महर्षि दयानन्द के जन्म की परिस्थितियां शोचनीय थीं। लोगों ने पूर्णतया ईश्वर को त्याग दिया था और मांस-हड्डियों की पूजा करना, मूर्ति को ईश्वर मानकर पूजना और गंगा स्नान करके पापोनमुक्त हो जाना इत्यादि भ्रमात्मक बातों में पूर्ण विश्वास किया। इन्हीं परिस्थितिगों ने महर्षि दयानन्द को ज्वाला दे दी और वे सत्य को जनता के सामने रखने के लिए कटिबद्ध हो गये तथा पुनः वैदिक धर्म की ज्वाला प्रज्जवलित हो गई।

शास्त्रार्थ—

शंकराचार्य एवम् महर्षि दयानन्द के ब्रह्म विषयक सिद्धान्त भले ही प्रथक् हों किन्तु दोनों का जीवन संघर्ष समान रहा। दोनों की अपनी विद्वत्ता एवं ज्ञान अपने अपने युग में पूर्ण रहे। अज्ञानता के अन्धकार को मिटाने के लिए दोनों विभूतियों ने अत्यन्त ही साहसिक कार्य किये जिसमें सम्पूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण कर शास्त्रार्थ करना भी सम्मिलित है। अपने काल के प्रचलित सम्प्रदायों के विद्वानों को चर्चा में परास्त करने का श्रेय दोनों को है। बौद्ध, जैन, सांख्य, वंशेसिक, न्यायिक, तथा चार्वाक आदि समस्त दर्शनों का उन्होंने डटकर सामना किया। शंकर ने विरोधी दार्शनिकों के मूलतम सिद्धान्तों का

---

३. जीवन चरित्र महर्षि दयानन्द—पंडित लेखराम, पृष्ठ १३

निराकरण किया तथा इसी प्रयास में उनको अनेकों कष्टों का भी सामना करना पड़ा। यहाँ तक कि इस महान दार्शनिक से भयभीत होकर विरोधियों ने विष दे दिया[४] जिससे एक महान दार्शनिक धारा के प्रेरक का अन्त हो गया।

यही दशा महर्षि दयानन्द की रही : वे भी इन अत्याचारों से अछूते नहीं रह सके। उन्होंने भी अपने समय के प्रचलित समस्त मतावलम्बियों के साथ जीवनभर शास्त्रार्थ कर परास्त किया। सदैव विजयी एवं पाखण्ड खण्डन कर्त्ता इस विभूति को भी कई बार जहर पीना पड़ा[५] तथा अन्त में विद्या की यह देवी 'सरस्वती' भी कांच की पीड़ा से ग्रस्त हो गई।

दोनों अपने अपने समय के क्रांतिकारी विचारक थे तथा दोनों के अस्त्र विचार ही थे।

दुःख-बन्धन—

जगद्गुरु शंकराचार्य को भाति ही महर्षि दयानन्द भी यह स्वीकार करते हैं कि बन्धन का कारण अज्ञान है अर्थात् अविद्या समस्त बन्धनों का कारण है[६] मनुष्य में विवेकहीनता, जिससे सत्यासत्य में भेद न किया जाना ही अविवेक है जिसे शंकराचार्य ने 'अध्यास' की संज्ञा दी है[७] यही अध्यास है जो आत्मज्ञान में बाधक है। इसी से दुःख उत्पन्न होता है और यही बन्धन का कारण है। महर्षि दयानन्द के अनुसार अज्ञानवश बाहर संसार में सुख की प्राप्ति इन्द्रियों द्वारा असफल प्रयास है। जब इन्द्रियां अर्थों में मन इन्द्रियों और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरित करके अच्छे या बुरे कर्मों में लगाता है तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता और बुरे कर्मों में भय शंका लज्जा उत्पन्न होती है। वही अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्तता है वही मुक्ति जन्य सुखों को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्तता है वह बन्ध जन्य दुःख भोगता है।[८]

---

४. शंकर व दयानन्द पृष्ठ १०
५. उपरोक्त पृष्ठ ११
६. दयानन्द दर्शन, डा० वेद प्रकाश गुप्ता पृष्ठ ३१०
७ भारतीय दर्शन उपाध्याय पृष्ठ ३१०
८. सत्यार्थ प्रकाश, स्वामी दयानन्द 'सरस्वती', पृष्ठ २१५

बाह्य सासारिक विषयों में इन्द्रियों का विचरण भोगों कामना एवम् सांसरिक सुख का आकर्षण (शंकराचार्य एवं महर्षि दयानन्द) को अस्वीकार है। शंकर जी ने इस दुःखमय जगत को मिथ्या कहा है तथा इसी मिथ्या तत्व का वास्तविक सत्य मानना 'अध्यास' है। इसलिए बन्धन उत्पन्न होता है स्वामी दयानन्द ने भी इस प्रपंच की सत्ता को स्वीकारा है किन्तु यह सत्तावान जड़त्व जिसमें बुद्धि चित्त एवं इन्द्रियां सकाम व्यापार करती हैं तथा इसी से बन्धन की उत्पत्ति होती है। अतः दार्शनिक इस जड़ प्रपंच को बन्धन या दुःख का कारण मानते हैं।

साधना--

आध्यात्मिक चिन्तक के दोनों महान दार्शनिकों ने जीव मुक्ति के लिए समान साधनों का प्रतिपादन किया है। शंकराचार्य ने साधन चतुष्टय का होना आत्मपूर्णता हेतु अथवा मोक्ष के लिये आवश्यक माना है। यह साधन चतुष्टय शंकराचार्य के अनुसार—

१–नित्य-अनित्य वस्तु विवेक,

२–लोक परलोक भोगो में नितान्त अरुचि (वैराग्य)

३–षट् सम्पत्ति,

ए शम,

बी—दम,

सी—श्रद्धा,

डी--समाधान,

इ--उपरति एवम्

एफ–तितिक्षा,

४–मुमुक्षत्व,[६]

१–नित्य-अनित्य वस्तु विवेक—

"आत्मा सत् है तथा अनातम जगत असत् है" इस भेद ज्ञान का नाम विवेक है। आत्मा - अनात्मा का यह भेद साधना करने वाले मानव के आचार विचार एवं लौकिक व्यवहार में भी परिलक्षित होना चाहिए, केवल शब्द मात्र से अभेद उत्पन्न नहीं हो सकता है।

---

६. **ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य, सत्यानन्दी दीपीका पृष्ठ २१**

२–लोक परलोक भोगों में नितान्त अरुचि—

आत्मात्मक अभेद को पूर्ण रूपेण स्वीकार करने के उपरान्त मुमुक्षी को चाहिए कि वह लोक परलोक मैं प्राप्त किसी भी प्रकार की रुचि न ले, अर्थात् विश्व संसार के भोगों के प्रतिवादी उसमें अनाशक्ति का होना अवश्म्भावी है। शंकराचार्य जी ने ऐसे अनासक्त पुरुष को ही मोक्षाधिकारी माना है। जिसमें वैराग्य की पूर्ण प्रवृत्ति है।

३–षट् सम्पत्ति—

वैराग्य प्राप्ति उपरान्त षट् सम्पत्ति का होना साधनाकर्त्ता में अनिवार्य है। विषयों से मन का निग्रह 'शम'' और इन्द्रियों का निग्रह "दम" है "वेद" तथा गुरुवाक्यों में विश्वास श्रद्धा है। संयत मन को विषयों की ओर न जाने देने का नाम समाधान है, त्यक्त पदार्थों की पुनः इच्छा न हो वह उपरति है। भूख प्यास आदि द्वन्द्वों का सहन करना 'तितिक्षा' है।

४-मुमुक्षत्व –

जगद्गुरु के उपरोक्त तीन प्रकारों की साधना का जो हेतु है वह ब्रह्म प्राप्ति है लेकिन यदि मनुष्य मुमुक्षु न हो तो इन साधनों की कोई उपयोगिता नही अतः शंकराचार्य जी द्वारा निर्देशित चतुर्थ साधन मुमुक्षत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्ती की तीव्र इच्छा ही पूर्ण तीनों साधनों का आधार है। प्रज्ञ भिन्न ब्रह्म की प्राप्ति तथा अनर्थ की अत्यन्त निवृत्ति मोक्षकार स्वस्थ है उसकी प्राप्ति की उत्कंठा अभिलाषा का नाम ही 'मुमुक्षता' है।

महर्षि दयानन्द ने भी उपरोक्त चारो साधनों पर बल देकर जीवन मुक्ति हेतु इन्हें सार्थक माना है। इन्ही साधनों को महर्षि ने विशेषसाधन रूप में स्वीकार किया है।

प्रथम साधन--

"विवेक" सत्य असत्य धर्माधर्म, कर्तव्या कर्तव्य का विसेषज्ञान दयानन्द जी के अनुसार विवेक है। शंकराचार्य जो ने आत्म अनात्मा में भेद माना है तथा इसी को विवेक कहा है परन्तु महर्षि दयानन्द एक कदम आगे बढ़कर धर्माधर्म, कर्त्तव्य को विवेकात्मक दृष्टि से देखने पर बल देते हैं।

२–"वैराग्य" (द्वितीय साधन)—

जो विवेक से सत्यासत्ल को जाना हो उसमें से सत्याचरण का ग्रहण

श्रौर असत्याचरण का त्याग करना। मनेन्द्रिया को आत्मा के संयुक्त करके इन्द्रियों पर आत्मा का नियंत्रण स्थापित करना, तभी मनुष्य अन्तर्मुखी हो सकता है।

३–तृतीय साधन—

महर्षि दयानन्द ने शंकराचार्य जी की भांति तीसरे साधन के रूप में "षटकसम्पत्ति" का ही निरुपण किया है अर्थात् छः प्रकार के कर्म करना जैसे "शम" जिससे आत्मा को बुरे आचरण से हटाकर धर्माचरण में प्रवृत्त रखना, "दम" जिससे इन्द्रियों व शरीर को बुरे कर्मों से हटाकर शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना, "उपरति' जिससे दुष्टी पुरुषों से सदा दूर रहना, "तितिक्षा" हर्ष शोक, निद्रा, स्तुति आदि को छोड़ मुक्ति साधन में सदा लगे रहना, "श्रद्धा" वेदादि सत्य शास्त्र व विद्वान सत्यापदेष्टाओं के वचनों पर विश्वास करना तथा "समाधान" चित्त की एकाग्रता प्रत्येक परिस्थितियों में आत्म संयम।

४–चतुर्थ साधन (मुमुक्षत्व)—

जैसे क्षुधा एवम् तषातुर को सिवाय अन्न जल के दूसरा कुछ अच्छा नहीं लगता वैसे साधन कर्त्ता को मुक्ति के शिवा और किसी वस्तु की इच्छा न होना[११]। इन दोनों महान विभूतियों के अनुसार आत्मस्वरूप एवम् ब्रह्मस्वरूप में मतभेद होने पर भी जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने के समान साधनापथ है। साधन चतुष्टय का लक्ष्य आत्मा को या जीव को अज्ञान के अन्धकार से एवं दुःखों के गर्त से मुक्त कराना है। मोक्षस्थिति में शंकरानुसार जीव ब्रह्म अभिन्नता को प्राप्त होते हैं।[१२] किन्तु दयानन्दानुसार दोनों की सत्ता पृथक् पृथक् रहनी है।[१२] लेकिन यह स्वीकार करना ही होगा कि आत्मा चाहे ब्रह्म में मिले या उसका अस्तित्व मोक्ष की स्थिति में स्वतन्त्र रहे परन्तु उस स्थिति को तय करने के लिये दोनों का मार्ग समान है।

---

१०. सत्यार्थ प्रकाश, महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती पृष्ठ २४४।२४६
११. भारतीय नीति शास्त्र डा० पाठक पृष्ठ ९०
१२. सत्यार्थ प्रकाश, उपरोक्त पृष्ठ २३८

अन्धकार एक द्रव्य है

(दार्शनिक परिचर्चा)

डा० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता दर्शन-विभाग, गु० का० वि० हरिद्वार

भारतीय दर्शनों में अन्धकार के द्रव्यत्व को लेकर अनेक विरुद्ध वाद प्रचलित हैं। तार्किक आलोकाभाव को अन्धकार कहते हैं। प्राभाकर मीमांसक रूप दर्शनाभाव को अन्धकार कहते हैं। अद्वैत-वेदान्त आलोकाभाव को अन्धकार नहीं कहते, अपितु उनके मत में तम एक भावरूप द्रव्य है। जैसे प्रकाश एक भावरूप पदार्थ है वैसे ही तम भी भावरूप पदार्थ है। इसी आधार पर अद्वैत मत में आत्मा एवं अनात्मा दोनों का तम और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव वाला माना गया है। इसी पर कुछ विचारचर्चा यहां की जाती है।

अन्धकार को भावरूप द्रव्य मानने वाले मनीषि विद्वान् विद्यारण्य मुनि कहते हैं कि द्रव्य के जो लक्षण तार्किकों को मान्य है वे सभी लक्षण अन्धकार में घटित होते हैं। द्रव्य का लक्षण है— "गुणकर्माश्रयों द्रव्यम्"। अर्थात् जिसमें रूपादि गुण और गमनागमन आदि क्रियायें रहती हों वह द्रव्य कहलाता है। इस आधार पर अन्धकार द्रव्य कहलाने की योग्यता रखता है क्योंकि —

चय और अपचय—

अन्धकार में चय और अपचय अर्थात् वृद्धि एवं ह्रास देखा जाता है। जब प्रगाढ़ अन्धकार होता है तब वह निबिड और सूचीभेद्य आदि नामों से कहा जाता है। इसी प्रकार हल्के अन्धकार को धुंधला या झुटपटा कहा जाता है। 'अन्धकार घना हो गया, अन्धेरा छंट गया' इत्यादि व्यवहार भी होता है। यह चय और अपचय द्रव्य में ही सम्भव है।

रूप—

अन्धकार में नीलरूप प्रत्यक्ष देखा जाता है। रूप गुण का आश्रय होने के कारण अन्धकार द्रव्य कहा जाना उचित ही है।

स्पर्श —

अन्धकार में शीतस्पर्श की अनुभूति भी होती है। अनुभूति का अपलाप नहीं किया जा सकता। तीव्र प्रकाश में उष्णता का अनुभव होता है। प्रकाश के अभाव में जब अन्धकार का आगमन होता है तो वह त्वचा पर शैत्य छोड़ता है। शीत स्पर्श का आधार होने के कारण अन्धकार को अभावमात्र नहीं कहा जा सकता।

शंका —

पूर्वपक्षी कह सकता है कि यदि तम भावरूप है तो अधिक प्रकाश वाले स्थान में नेत्र बन्द करने पर अन्धकार की प्रतीति कैसे होती है? क्योंकि अन्धकार तो वहां है नहीं, तीव्र प्रकाश ने उसका नाश कर दिया है। प्रकाश और अन्धकार का सहावस्थान तो मन्द प्रकाश में ही सम्भव है?

समाधान —

इसके उत्तर में विद्यारण्य मुनि कहते हैं कि नेत्र के अन्दर रहने वाले अन्धकार की ही उस समय प्रतीति होती है। भावरूप अन्धकार की ही नेत्र द्वारा प्रतीति की जाती है।

यदि कहो कि नेत्र में अपने अन्तर्वर्ती वस्तु के ग्रहण का सामर्थ्य नहीं होता तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि बन्द किये गये कान भी अपने भीतरी शब्द का ग्रहण करते हुए पाये जाते हैं। इसी प्रकार आंखों में अपने अन्तर्वर्ती रूप को ग्रहण करने की शक्ति है। पूर्वपक्षी कहेगा कि फिर तो निमीलित नयन वाले व्यक्ति को नेत्रवर्ती अन्जन का भी दर्शन होना चाहिए किन्तु होता नहीं है? तो यह उसका कथन असंगत है। नेत्र आलोक सहकृत होकर ही रूपवान् वस्तु का ग्रहण कर सकते हैं। केवल अन्धकार में यह नियम लागू नहीं होता। अन्धकार का दर्शन तो प्रकाश के बिना ही हो सकता है।

शङ्का—

यदि अन्धकार द्रव्य है तो आलोक से नष्ट किये गये अन्धकार की आलोक के चले जाने पर झट से उत्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु हम देखते हैं कि आलोक के जाते ही अन्धकार तुरन्त आ जाता है। अतः अन्धकार द्रव्य नहीं है, क्योंकि कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति तो द्व्यणुकादि क्रम से ही होती है।

समाधान—

वस्तुत यह आक्षेप ठीक नहीं। विवर्तवाद में द्व्यणुकादि क्रम की अपेक्षा नहीं होती। वहां तो मूला अविद्या ही प्रपञ्च का कारण है।

तमो न रूपवद् द्रव्यम्, स्पर्श शून्यवात् ।

(आकाशवात्) इस अनुमान से तम में रूपवत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि जिस प्रकार (वायुर्न स्पर्शवान्, रूप शून्त्वात् आकाशवत्) यह यह अनुमान अनुमानाभास है वैसे ही उक्त अनुमान भी अनुमानाभास है।

यदि कहो कि 'अन्धकार में नीलरूप का केवल आरोप किया जाता है। प्रकाश के अभाव में आरोपित नीलरूप से अन्धकार में रूपवत्ता की प्रतीति है' तो ऐसा कहने पर भी उक्त अनुमान में स्पर्शशून्यत्व हेतु ज्यों का त्यों अनैकान्तिक है। क्योंकि धूम रूपवान् द्रव्य है फिर भी चक्षु को छोड़कर उसका स्पर्श ग्रहण अन्यत्र कहीं भी नहीं होता।

यदि अभाववादी यह कहे कि धूम में स्पर्श है तो सही किन्तु वह सर्वत्र उद्भूत नहीं होता, तो द्रव्यवादी भी कह सकता है कि अन्धकार में स्पर्श है तो सही किन्तु वह सर्वत्र उद्भूत नहीं है।

यह कहना ठीक नहीं कि जो वस्तु विद्यमान होती है उसका सर्वत्र अनुद्भव सम्भव नहीं। क्योंकि सुवर्ण तैजस है किन्तु उसका स्वपर प्रकाशकत्व तथा उष्ण स्पर्श सर्वत्र उद्भूत नहीं होता।

अभाववादी कहता है कि अन्धकार को अभावरूप मानने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि अन्धकार में जो वृद्धि और ह्रास होता है वह तो प्रकाश के वृद्धि और ह्रास की अपेक्षा से व्यवहार किया जाता है। नीलरूप भी उसमें आरोपित है।

अन्धकार को द्रव्य मानने वाला कहता है कि तेज का अभाव अन्धकार है इसका निरूपण सम्भव नहीं। उसका कहना है कि आलोक सामान्य का अभाव अन्धकार है या एक-एक आलोक विशेष के अभाव को अन्धकार कहते हो? अथवा समस्त आलोकों का अभाव अन्धकार है। कौन सा पक्ष आपको ग्राह्य है?

प्रथम और द्वितीय पक्ष स्वीकार करते हो तो यह बताइये कि वह कौन सा अभाव है? प्रागभाव है या अन्योन्याभाव है या प्रध्वंसाभाव है। किन्तु ये तीनों ही ग्रहण नहीं किये जा सकते? सूर्य की किरणों से प्रकाशमान देश में दीपक जलाने से पूर्व अन्धकार का प्रागभाव है। दीपक जला चुकने पर प्रकाश और अन्धकार का अन्योन्याभाव है तथा दीपक के बुझ जाने पर ध्वंसाभाव है। इन तीनों ही अभावों में अन्धकार का ग्रहण नहीं होता।

तृतीय पक्ष भी नहीं बनता। क्योंकि समस्त आलोकों के सन्निधान के विना अन्धकार की निवृत्ति ही नहीं होगी, क्योंकि समस्त आलोकों के अभाव को ही आप अन्धकार कहते हैं। समस्त आलोकों का सन्निधान कभी किसी स्थान पर सम्भव ही नहीं। इसलिए प्रकाशाभाव को अन्धकार नहीं कहा जा सकता।

मीमांसकों ने रूपदर्शन के अभाव को तम कहा था। किन्तु वह पक्ष ठीक नहीं। घने अन्धकार से व्याप्त घर में बैठे हुए पुरुष को बाहर के रूप का दर्शन और अन्दर अन्धकार का दर्शन युगपत् होता है। फिर रूपदर्शन का अभाव कहां रहा। इसलिए रूपदर्शन के अभाव को तम कहना ठीक नहीं। अतः यह सिद्ध हुआ कि अन्धकार अभाव-रूप नहीं है बल्कि वह भी प्रकाश के समान ही एक भावरूप द्रव्य है। अद्वैतवादी का यह मत समीचीन प्रतीत होता है।

वैदिक धर्म

डा० मनुदेव 'बन्धु'
प्राध्यापक वेद-विभाग गु० का० वि० हरिद्वार

हमारे साहित्य में वेद का जो स्थान है वह अन्य किसी ग्रन्थ का नहीं है। विश्व भर के साहित्य में भी न केवल प्राचीनता, प्रत्युत् सृष्टि विज्ञान की दृष्टि से भी वेद का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन मुक्त कण्ठ से वेद का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं और स्मृतियां भी वेद को आदेश और उपदेश के लिये मूर्धन्य स्थान देती हैं। मनु की दृष्टि में वेद सनातन चक्षु है। उसमें जो कुछ कहा गया है, वही धर्म है। उसके विपरीत आचरण करना अधर्म है। गीता शास्त्र के रूप में विधि-निषेध की मर्यादा के लिए वेद की ओर संकेत करती है। वेद एक प्रकार से हमारे निखिल ज्ञान-विज्ञान का स्रोत है। उसमें समस्त विद्याओं के बीज हैं। ऐसा परम प्रमाण रूप वेद धर्म के सम्बन्ध में क्या कहता है? इसे समझ लेना आवश्यक है।

वेद चार हैं। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। महर्षि जैमिनि ने वेद की चतुर्विधता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'तेषाम् ऋक् यत्र अर्थवशेन पाद-व्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः शब्दः, निगदो वा चतुर्थः स्याद् धर्मविशेषात्'। ऋग्वेद में अर्थ की अपेक्षा से पाद-व्यवस्था है। अर्थात् वह गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती आदि छन्दों में आबद्ध है। ऋग्वेद की ऋचाओं को जब संगीत की तानों में बांधा जाता है, तब उसकी संज्ञा साम हो जाती है। शेष अर्थात् बचे हुए कर्मकाण्ड के मन्त्र, जो कुछ पद्य में हैं और कुछ गद्य में हैं, वे यजुः कहलाते हैं। जिन मन्त्रों में विशेष धर्मों का दर्शन है, उनकी संज्ञा निगद अर्थात् अथर्ववेद है।

वेद के मन्त्रों में धर्म शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है। धर्म में 'धृ' धातु है जिसका अर्थ है धारण करना। अतः जो वस्तु को धारण करती है, भूत और भुवन (प्राणी और लोक) दोनों प्रकार की प्रज्ञा जिससे सत्तावान् है, वह धर्म है। यही धात्वर्थ सर्वत्र निहित रहता है।

प्रथम धर्म —

समिध्यमानः प्रथमानुधर्मा समक्ताभिज्यते शोचिष्केशोघृतविश्ववारः ।
निर्णिक् पावकः सुयज्ञो अग्निर्यजथाय देवान् ।। ऋ० ३।१७।१

विश्व भर के लिये वरणीय यह अग्नि प्रथम धर्मों के अनुसार प्रज्वलित की गई है और समिधा आदि के द्वारा भली-भान्ति बढ़ रही है। इसके केश (ज्वालायें) प्रदीप्त है, घी के द्वारा चमकी हुई यह पवित्र करने वाली यज्ञाग्नि देवताओं के यजन के लिए है। मन्त्रगत प्रथमधर्म क्या है? इसे समझने के लिए निचे लिखे मन्त्र पर भी विचार करें।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।। ऋ१०:९०।१६

देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ किया। वे प्रथम धर्म थे। ऐसा यज्ञ करके ये देव महिमा को प्राप्त हुये और उस नाक लोक के निवासी बने जहां पूर्व साध्य देव विद्यमान थे।

शाश्वद् धर्म —

वैश्वानराय पृथुपाजसे विपोरत्ना विधन्त धरुणेषु गातवे ।
अग्निर्हि देवा अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनातनं दूदुषत् ।। ऋ० ३।३।१

धारण करने वाले मार्गों में जाने के लिए रमणीय स्तोत्र गाये जा रहे हैं। यह अमृताग्नि वैश्वानर देवों की सेवा करता है। इसलिए सनातन धर्म दूषित नहीं हो पाते। वे ज्यों के त्यों निर्मल बने रहते हैं।

प्रथम धर्म ही शाश्वत् धर्म का रूप धारण कर लेते हैं। पूर्वकाल में जिन धारक नियमों का प्रचार था, वे आगे चलकर परम्परा का निर्माण करते हैं। उनकी एक श्रृंखला चल पड़ती है। प्रथम धर्म के पालक देव थे। परम्परा में श्रृंखला की एक-एक कड़ी बने हुए जो याजक इन धर्मों को आगे बढ़ाते हैं, वे मानों उन्हें जीवनरूप प्रदान करते हैं। सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापक प्रभु अपनी रचना में इस श्रृंखला को समाप्त नहीं होने देते। इसलिए ये धर्म शाश्वत् कहलाते हैं। प्रलय में समग्र रचना ही प्रभु में लीन हो जाती है। यज्ञ का कार्य प्रत्यक्ष से परोक्ष हो जाता है और किसी अन्य सृष्टि में वह प्रत्यक्ष एवं आविर्भूत हो उठता है।

सूर्य का धर्म--

ते हि द्यावा पृथ्वीविश्वशम्भुव ऋताश्वरी रजसो धारयत्कविः ।
सुजन्मनि धिषणे अन्तरीयते देवो देवो धर्मणा सूर्ये शुचिः ।।
।। ऋ० १।१६० ।।

पवित्र और दिव्यगुण सम्पन्न सूर्य धर्म के द्वारा द्यावा और पृथ्वी के बीच में विश्व को शान्ति देने वाले लोकों को धारण करता हुआ चल रहा है।

अग्नि का धर्म--

विशां राजानमद्भुतम् अध्यक्षं धर्मणामिमम् ।
अग्निमीडे स उश्रवत् ।। ऋ० ८।४३।२४

हे अग्नि देव सुनो ! मैं तुम्हारी स्तुति कर रहा हूँ। तुम प्रजाओं के राजा हो और धर्मों के अद्भुत अध्यक्ष हो। यहां अग्नि राजा है। धर्म-मयादा पालन पर उसी की दृष्टि रहती है। प्रजा का अंग-अंग अपने धर्मों, कर्त्तव्यों पर दृढ़ रहे। यह तभी सम्भव है जब राजा का शासन दण्ड निरन्तर जागरूक बना रहे। अध्यक्ष का अर्थ है जिसकी आंख सबके ऊपर रहे, जो सबको देखता रहे। यदि हम सदैव अनुभव करते रहें कि हमें कोई देख रहा है, हमारे कर्मों पर किसी की दृष्टि है, तो हम अधर्म से बचे रह सकते हैं और धर्म का पालन करके सामाजिक मर्यादा को तो सुरक्षित रखते ही हैं साथ ही अपना भी कल्याण साधन करते हैं।

सत्य पार लगाने वाला है—

सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् ।। ऋ० ९।७३।१

सत्य बोलना ऐसी नाव है जिस पर बैठकर सत्कर्म करने वाले भव सागर से पार हो जाते हैं।

अन्दर बाहर एक बनो –

यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम् ।। ऋ० अथर्व० २।३०।४

जैसा अन्दर मन में हो, वैसा ही बाहर के मन में हो और जैसा बाहर का व्यवहार हो, वैसा ही मन में भी हो।

ईर्ष्या मत करो, वह जलाने वाली है--

अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि ।। अथर्व० ६।१८।१

ईर्ष्या के प्रथम वेग को और उसके पश्चात् उसी से निकलने वाले उसके परवर्त्ती वेग को दूर करो क्योंकि वह अग्नि जो हृदय को शोक से भर कर जला डालेगी।

मीठी वाणी बोलो—

जिह्वाया अग्रे मधु में जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चितमुपायसि॥
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥ अथर्वं० १।३४

मेरी जिह्वा के अग्र भाग में मधु हो, जिह्वा का मूल मधुर हो। मेरा निकलना और दूर-दूर तक जाना अर्थात् मेरा आचरण और व्यवहार मधुर हो। मैं वाणी से मीठा बोलूं और मधुरता की मूर्ति बन जाऊं।

अकेले मत खाओ—

मोघमन्नं विदन्ते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

॥ ऋ० १०।११७।६

मूर्ख अविवेकी व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है। मैं सच कहता हूँ कि यह उसका वध है। क्योंकि वह अपने अन्न से न तो अपने सखाओं को और न धर्मात्मा, न्यायपारायण विद्वानों को ही तृप्त तथा पुष्ट करता है। वह अपने अन्न का सेवन अपनी कमाई का प्रयोग दूसरों की आँख बचाकर, केवल अपने ही लिए कर रहा है अकेला खाने वाला पापी बनता है।

कर्म को कर्त्तव्य समझकर करते रहो—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजु० ४०।२

सत्कर्मों को करते हुये ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करो। कर्त्तव्य कर्म की साधना करने वाले नर में कर्म लिप्त नहीं होते। निर्लेपता के लिए इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है।

किसी के ऋणी मत बनो—

अनृणा अस्मिन् अनृणाः परस्मिन् तृतीय लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणाआक्षियेम॥

॥ अथर्व० ६।११७।३॥

ऋण की प्रवृत्ति निन्दनीय है। वह मानव को पराधीन बनाती है। पराधीनता में दुःख ही दुःख है। अतः हम न इस लोक में ऋणी रहे और न परलोक में। देवयान और पितृयाण जिन लोकों में ले जाते हैं—उनके सभी पथों में हम अनृण होकर जीवन व्यतीत करें।

स्वयं उठो—

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयंयजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा ते अन्येन न सन्नशे॥ यजु० २३।१५

हे वीर्यवान् पुरुष! तू स्वयं अपने को समर्थ बना, स्वयं सत्कर्म कर, स्वयं यज्ञ तथा भक्ति में जुट जा। स्वयं सत्पुरुषों की सेवा करके उनका प्रेम प्राप्त कर। तुम्हारी महिमा तुम्हारे द्वारा ही प्राप्त होगी, किसी अन्य के द्वारा नहीं? तू ऊपर उठने के लिए संसार में आया है, नीचे गिरने के लिए नहीं?

जुआ मत खेलो—

अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित्कृषस्ववित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितवः तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः॥
॥ ऋ० १४।३४।१३॥

जुआ मत खेलो। कृषि करो। उससे धन मिले, उसी को बहुत मत समझो और आनन्द में मग्न रहो इसी गाढ़ी कमाई मे तुम्हारे घर में गायें रहेंगी और तुम्हारी पत्नी भी तुम्हारी होकर प्रसन्न रहेगी। सबके स्वामी प्रेरक प्रभु ने मुझसे यही कहा है।

लालच मत करो--

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥ यजु० ४०।१

इस चलायमान संसार में सब कुछ चलायमान है, पर यह एक अचल ईश्वर से आवास्य हैं। ईश्वर ने ही सब जीव के लिए भोग दिये हैं। अतः सब भोग, ऐश्वर्य, वैभव उसी के हैं। तू इन्हें अपना मत समझ और मत लालच कर।

द्वेष से दूर रहो--

आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतन ॥ ऋ० १०।६३।१२

हे देवो ! हमसे द्वेष तथा असूया को दूर रक्खो । "उरु नः शर्म यच्छत" इस प्रकार हमें विस्तृत सुख प्रदान करो ।

दानी बनो —

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येतपन्थाम् ।
आ हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमुपतिष्ठन्त रायः ॥ ऋ० १०।११७।५

धनवानों को चाहिए कि वे प्रार्थनाशील भिक्षुक को दान देकर तृप्त करें। ऐसा करने में उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि जीवन का पथ लम्बा है । पता नहीं कौन सा कर्म कब फलीभूत हो उठे । धन तो रथ के चक्र की भांति कभी ऊपर आता है और कभी नीचे चला जाता है । सम्पदा आज एक के पास हैं तो कल दूसरे के पास चली जायेगी ।

पारिवारिक धर्म —

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतुशान्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ अथर्व ३।३०।२-३

पुत्र पिता के व्रत के अनुकूल चले । परम्परा को रक्षा करे । यदि पुत्र पिता क विपरीत चला तो पिता इस लोक से चलने के समय यह नहीं कह सकेगा, इस विश्वास के साथ शरीर नहीं छोड़ेगा कि पुत्र मेरे अवशिष्ट कर्म को पूरा करेगा । पुत्र माता के मन के साथ एक हो । माता की इच्छा को पूर्ण करे । पत्नी अपने पति से मीठा बोले । शान्ति प्रदायिनी वाणी बोले । भाई-भाई से और बहिन-बहिन से द्वेष न करे । सब मिलकर चलें । समान व्रत वाले बनें और मंगलमयी वाणी का उच्चारण करे । सबका पारस्परिक व्यवहार प्रेम से भरा हुआ हो ।

मानव मात्र के लिये वेद का यह धर्म, सृष्टि के आदिकाल से लेकर आज तक चला आ रहा है । जो इनके अनुकूल चले, उन्होंने लाभ उठाया और मानव समाज के सामने आदर्श उपस्थित किया जो चल रहे हैं, वे भी लाभान्वित हो रहे हैं और जो चलेंगे वे भी विकास भूमियों के दर्शन करेंगे ।

कर्म भाव

डा० चमनलाल अग्रवाल
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

मैं रचना करता हूं गागर की, मैं सृष्टि रचाता हूँ सागर की ॥
गागर की, हाँ ! सागर की, हाँ ! सागर की, जी हाँ ! गागर की ॥
यह गागर कोई साधारण नहीं है, यह जल-बिन्दु पूरित सागर नहीं है ॥
यह अजब अनूठा है दुनियां में, भाव-जगत् में, मानव-मन में ॥
है यह सागर मानव-मन को लुभाता, मानव उसमें दुबक दुबक जाता ॥
जो चख आता है कभी स्वाद इसका, भूल से मन न रमता अन्यत्र उसका ॥
ऐसे ही सागर की सृष्टि मैं करता हूं, ऐसे ही गागर की रचना मैं करता हूँ ॥
मानव के स्वस्थ आमोद-प्रमोद के, युग्म-साधन रूप में गागर सागर को ॥
मैं सदैव नित्य नूतन रूप देता हूँ, इन में सदैव जीवन-शक्ति भरता हूँ ॥
सम्बल बन जाते हैं ये जीवन का, पाथेय बन जाते हैं यो भव-भ्रमण का ॥
शुभ-अशुभ के बन्धन से मुक्त यह, मेरा बनाया-रचाया यह गागर-सागर ॥
बाल-गान का सा यह स्वच्छ निर्मल, तप पूत योग निष्ठ है इसका आंचल ॥
जीवन की मोहिनी धारा बहती है इसमें, जीवन की रागिनी बज उठती इनसे ॥
सुख-दुःख के बन्धन जो नहीं जानते, राग-द्वेष में कभी किसी को नहीं फंसाते ॥
सबको दिव्यमार्ग दर्शाते हिरण्यगर्भ का, पर कोई ही समझ पाता है रहस्य इनका ॥
ऐसे ही ये अद्भुत अनूठे गागर–सागर, पीपल पर बैठे ये दो बन्धु द्विजवर ॥

गुरुकुल समाचार

श्रद्धानन्द सप्ताह–एक रिपोर्ट

श्रद्धानन्द सप्ताह का विधिवत् उद्घाटन १७ दिसम्बर ८६ को प्रातः ८·३० बजे कुलाधिपति डा० सत्यकेतु विद्यालंकार की अध्यक्षता में कुलपति श्री रामचन्द्र शर्मा के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। उद्घाटन के पश्चात खेलकूद प्रतियोगितायें, कबड्डी प्रतियोगिता तथा रात्रि में कवि सम्मेलन सम्पन्न हुए।

१८ दिसम्बर को खेलकूद प्रतियोगिता एवं कबड्डी प्रतियोगितायें हुई।

१९ दिसम्बर को खेलकूद प्रतियोगिता, संस्कृत वाद-विवाद प्रतियोगिता तथा अखिल भारतीय त्रिभाषा भाषण प्रतियोगिता सम्पन्न हुई जिसके संयोजक डा० वेदप्रकाश शास्त्री रीडर संस्कृत-विभाग थे।

२० दिसम्बर को श्रद्धानन्द हाकी टूर्नामेण्ट, खेलकूद प्रतियोगिता तथा अन्तर्महाविद्यालय संगीत प्रतियोगिता हुई। रात्रि में प्रो० चन्द्रशेखर त्रिवेदी रीडर मनोविज्ञान विभाग के द्वारा प्रश्नोत्तरी प्रतियोगिता का संयोजन किया गया जिसमें कुलपति श्री रामचन्द्र शर्मा ने अध्यक्षता की।

२१ दिसम्बर को खेलकूद प्रतियोगिता व श्रद्धानन्द हाकी टूर्नामेण्ट के मैच हुए।

२२ दिसम्बर को हाकी टूर्नामेण्ट के सेमी फाइनल मुकाबले हुये। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के आचार्य डा० हरिगोपाल की अध्यक्षता में श्री बसन्तकुमार ने मन्त्र व श्लोकपाठ प्रतियोगिता का संयोजन किया। वाद-विवाद प्रतियोगिता की अध्यक्षता डा० विष्णुशरण इन्दु ने की तथा आचार्य विद्यालय-विभाग डा० निरूपण ने संयोजन किया। रात्रि में आर्यवीर श्री शरीर सौष्ठव व योगकुमार प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया। अध्यक्ष स्वामी ओमानन्द सरस्वती कुलपति गुरुकुल झज्जर तथा मुख्य अतिथि

प्रसिद्ध शरीर शिल्पी व अर्जुन पुरस्कार से सम्मानित श्री भारतभूषण अजेय थे। संयोजक श्री ईश्वर भारद्वाज निदेशक योग ने सफलतापूर्वक संचालन किया।

२३ दिसम्बर को प्रातः श्रद्धानन्द द्वार से विशाल शोभायात्रा निकाली गई जो विश्वविद्यालय भवन में जाकर सभा के रूप में परिवर्तित हो गई। सभा के अध्यक्ष श्री रामचन्द्र शर्मा तथा मुख्य अतिथि स्वामी आनन्द बोध सरस्वती थे।

सायंकाल श्रद्धानन्द हाकी टूर्नामेण्ट का फाइनल मैच खेला गया। सभी प्रतियोगियों को पुरस्कार वितरण डॉ० हरिप्रकाश मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल ने किया। अभ्यागतों को धन्यवाद के पश्चात् शान्तिपाठ कर श्रद्धानन्द सप्ताह के विधिवत् समापन की घोषणा की गई।

— ईश्वर भारद्वाज

❀ सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

❀ संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

❀ अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

'आर्यवीर श्री' शरीर सौष्ठव
तथा
योग प्रतियोगिता

श्रद्धानन्द सप्ताह के आयोजनों में विशेष आकर्षण का केन्द्र रहा शरीर सौष्ठव व योग प्रतियोगिता। विभिन्न संस्थाओं के अनेक शरीर शिल्पियों तथा योग साधकों ने भाग लेकर प्रतियोगिता की श्री में वृद्धि की। मुख्य अतिथि अर्जुन श्री भारत भूषण अजेय ने गुरुकुल में आयोजित इस प्रतियोगिता के द्वारा स्थानीय पंचपुरी में शरीर शिल्प के प्रति रुचि में वृद्धि होने की बात स्वीकार की। उन्होंने यह भी कहा कि यदि मुझे ऐसा वातावरण मिलता तो मैं केवल भारत तक ही सीमित होकर न रह जाता, विश्व स्तर का शरीर शिल्पी होता। आपको जो अवसर मिला है, उसे व्यर्थ न गंवाओ।

अध्यक्ष श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती कुलपति गुरुकुल झज्झर ने ब्रह्मचर्य के प्रति दृढ़ आस्था प्रकट करते हुए ब्रह्मचर्य को शरीर की पुष्टि का आधार बताया। उन्होंने कहा कि भारत को ऐसे आर्यवीरों की आवश्यकता है जो शरीर मन और बुद्धि से बलवान हों।

प्रतियोगिता के परिणाम निम्नवत् रहे—

शरीर सौष्ठव– (वरिष्ठ वर्ग) प्रथम– वीरेन्द्र पंवार मोक्षायतन संस्थान कनखल
द्वितीय–कुलदीप शर्मा, हरिद्वार
तृतीय– पंकज अरोड़ा, हरिद्वार

शरीर सौष्ठव–(कनिष्ठ वर्ग) प्रथम – चंद्रकान्त कौशिक, हरिद्वार
द्वितीय–मनमोहनसिंह, ज्वालापुर
तृतीय- ऋषिपाल आर्य, विश्वविद्यालय

योग कुमार— (वरिष्ठ वर्ग) प्रथम– ब्र. प्रियव्रत, गुरुकुल झज्झर
द्वितीय–हरेन्द्रचंद्र नाथ, विश्वविद्यालय
तृतीय–मोहितलाल नाथ, विश्वविद्यालय

योग कुमार— (कनिष्ठ वर्ग) प्रथम- सुरक्षित गोस्वामी, कनखल
द्वितीय–शूरवीर, गुरुकुल झज्झर
तृतीय–कर्णदेव, गुरुकुल झज्झर

आर्यवीर श्री— विजेता–वीरेन्द्र कुमार पंवार, मोक्षायतन संस्थान कनखल

प्रतियोगिता के मध्य में ही 'प्रताप श्री आफ इण्डिया' राष्ट्रीय चैम्पियनशिप विजेता राधेमोहन शर्मा ने विशेष प्रदर्शन करके दर्शकों का मन मोह लिया। हरिराम आर्य इन्टर कालेज के व्यायाम शिक्षक श्री राजेन्द्र कुमार ने आसनों व जिमनाष्टिक का विशेष प्रदर्शन किया।

–ईश्वर भारद्वाज (संयोजक)

गुरुकुल

कांगड़ी फार्मेसी की

आयुर्वेदिक औषधियां सेवन कर स्वास्थ्य लाभ करें

गुरुकुल च्यवनप्राश

पूरे परिवार के लिए शक्तिवर्धक एवं स्फूर्तिदायक रसायन। खांसी, ठंड व शारीरिक एवं फेफड़ों की दुर्बलता में उपयोगी आयुर्वेदिक औषधीय टानिक

गुरुकुल पायोकिल

दांतों व मसूड़ों के समस्त रोगों में विशेषत. पायोरिया के लिए उपयोगी आयुर्वेदिक औषधि

गुरुकुल चाय

जुकाम व इन्फलुएंजा, थकान आदि में जड़ी बूटियों से बनी लाभकारी आयुर्वेदिक औषधि

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी हरिद्वार (उ० प्र०)

शाखा कार्यालय :

* ६३ गली राजा केदारनाथ, चावड़ी बाजार, दिल्ली-६
* पुरानी अनाज मण्डी, अम्बाला कैन्ट (हरियाणा)
* स्टेशन रोड, रेलवे फाटक के पास, राजपुरा (पंजाब)
* साबरदा हाउस, खजाने वालों का रास्ता, जयपुर (राजस्थान)